श्रीरामचरित
खण्ड–२
श्री
ॐ

श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र'

जन्म–१४-११-१९११ ई.
स्थान– ग्राम भेलहटा, चन्दौली, (वाराणसी)
शिक्षा– सामान्य हिन्दी शिक्षा । सामान्य संस्कृत, गुजराती तथा बंगला पढ़ लेना ।

कार्य—सन् १९३७ से १९४१ ई. तक मासिक पत्र 'संकीर्तन' मेरठका सम्पादन। १९४० से १९७२ तक 'मानसमणि' (मासिक), रामवन (सतना) का सम्पादन। १९६९ से १९७२ तक 'विवेक-रश्मि' (मासिक) परमार्थ आश्रम, हरिद्वारका संपादन अब १९७५ से 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मथुराका सम्पादन। 'कल्याण' गीता प्रेस, गोरखपुरके हिन्दू-संस्कृति-अङ्क, 'बालकाङ्क', 'सत्कथा अङ्क', 'तीर्थाङ्क' आदि कई विशेषाङ्कोंका सम्पादन-कार्य। कैलास-मानसरोवर सहित पूरे भारतकी तीर्थ-यात्रा।

ग्रन्थ—श्रीहनुमान-चरित, शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा, विशाल चार खण्डोंके श्रीकृष्ण-चरित, चार खण्डोंके श्रीरामचरित, प्रभु आवत, राक्षसराज जैसे ब ग्रन्थोंके अतिरिक्त सूरके पद-संग्रहोंका अनुवाद तथा मानसमङ्क, रामवन, गीताप्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित लगभग तीन दर्जन पुस्तकोंका लेखन। गीता प्रेस से बिना लेखक के नामके प्रकाशित बाल-साहित्यकी सब पुस्तकोंके लेखक।

अन्य—श्री 'चक्र' नामसे ढाई-तीन सौ कहानियों का लेखन। कई दर्जन गम्भीर निबन्ध 'कल्याण' तथा अन्य पत्रोंमें मुख्यत: भारतीय संस्कृति. साधना, कर्म-रहस्य तथा श्रीरामचरितमानस सम्बन्धी।

वर्तमान पता—**सम्पादक, 'श्रीकृष्ण-सन्देश'**
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा-२८१००१

श्रीराम-चरित

[द्वितीय खण्ड]

लेखक :

सुदर्शनसिंह 'चक्र'

प्रकाशक :
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ,
मथुरा-२८१००१

प्रथमावृत्ति—सन् १९७७ ई०

संस्करण—५०००

मूल्य ८.२५

मुद्रक :
हितसरन अग्रवाल.
सरस्वती प्रेस,
डीग गेट,
मथुरा

राम-बन-गमन

श्रीराम-चरित

[द्वितीय खण्ड

वन्दे वल्कल-वसन, धनुष-पाणि, जटामुकुट,
द्वन्द्वातीत परमपुरुष — सेवक-दलित द्वन्द्व।
वन्दे वैदेही-वनपथ भ्रमण-अत्यरुण—
बिरहित अलक्तक, परम पावन पदारविन्द॥
वन्दे सौमित्र शील-शिथिल नित नमित नयन,
शौर्य-सिन्धु, जीवबन्धु, ज्ञानघन, कृपाकन्द।
वन्दे भावमूर्ति भरत भूरि भूरि भक्तिसहित,
वन्दे शत्रुघ्न-चरण अन्तर उज्ज्वल अमन्द॥
राज्याभिषेक—वनवास-सम स्मित चारु—
मर्यादापुरुषोत्तम, महामानव, कृपासिन्धु,
मानवके प्रकाशधाम, आदर्श अभिराम,
धेय, ज्ञेय, चिन्त्यनित्य, सीताराम राम राम॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ।।

श्रीराम-चरित (द्वितीय खण्ड)

अनुक्रमणिका

अपनी बात

अपना सङ्कल्प ही श्रीरामचरित लिखनेका नहीं था। यह सङ्कल्प तो प्रिय श्रीविष्णु हरि डालमियाके आग्रहपर बना। तब मैंने अपनी ही बनायी श्रीराम-चरितकी विषय-सूचीकी खोज की। सौभाग्यवश वह सूची मुझे मेरे कागजोंमें मिल गयी।

अब गोलोकवासी श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार,) अनेक बार तब भी मुझे तार देकर 'कल्याण' (गोरखपुर) के विशेषाङ्क सम्पादन कार्यमें सहायतार्थ बुला लेते थे, जब कि 'कल्याण'के 'तीर्थाङ्क'का कार्य पूरा करके मैं 'कल्याण'के सम्पादन-विभागसे पृथक होकर मानस-संघ रामवन (सतना-म.प्र.) आ गया था मानस-संघके मन्त्री श्रीशारदाप्रसादजीकी बीमारीके कारण। 'मानस मणि'का सम्पादन तो मैं गोरखपुरमें रहते भी करता ही था। रामवन आकर संस्थाकी व्यवस्थाका भार पड़ा और श्रीशारदाप्रसादजीके स्वस्थ होनेपर अपना सहज स्वभाव घूमते रहना अपना लिया। आप जानते ही हैं कि 'चक्र'का स्वभाव स्थिर रहना नहीं है।

श्रीभाईजीने मुझे तार देकर 'कल्याण'के 'धर्माङ्क'के कामके लिए बुलाया था। ऐसे अवसरोंपर मैं डेढ़ महीनेमें विशेषाङ्कका काम पूरा करके गोरखपुर छोड़ देता था। उस बार गोरखपुर छोड़नेसे पहिले श्रीभाईजीके कहने पर मैंने 'कल्याण'के आगामी विशेषाङ्कोंके लिए चार-पाँच नाम लिखकर सुझाये और उसमें-से 'श्रीरामचरिताङ्क'की पूरी सूची बनाकर देदी। श्रीभाईजीने उस सूचीमें सात शीर्षक बढ़ा दिये। सूची टाइप कराली और टाइपकी प्रति अपने समीप रखकर अपने संशोधन सहित मेरी सूची मुझे लौटा दी। वह सूची मेरे पास पड़ी रही।

'कल्याण'ने श्रीरामचरिताङ्क निकाला श्रीभाईजीके गोलोकवासी होजाने पर; किन्तु वह श्रीरामके चरितोंका गुण, चिन्तन, माहात्म्य प्रतिपादक अधिक हुआ, चरित कम। स्वभावतः कोई भी चरित अनेक लेखकों द्वारा व्यवस्थित नहीं बना करता। यह बात 'कल्याण'के सम्पादन विभागने शीघ्र समझ ली। अतः 'गणेश अङ्क' तथा 'हनुमान अङ्क'में उन्होंने गणेशजी तथा श्रीहनुमानजीका चरित एक ही व्यक्ति (भाई श्रीशिवनाथ दुबेजी) से लिखवाया।

वह बिषय-सूची मुझे अपने कागजोंमें मिल गयी और अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजकी कृपासे उनका अध्यात्म-रामायण प्रवचन तथा वाल्मीकीय-रामायण-प्रवचन भी सुननेका सुयोग प्राप्त होगया। यह सब किसी भवन-निर्माणके लिए ईंट, सीमेन्ट, लोहे जैसी सामग्री नहीं थी। यह सब मिलकर भी केवल ऐसा था जैसे किसी साधारण व्यक्तिके मनमें भवन बनानेका विचार आजाय और अपना विचार वह लिख ले। अब उस विचारके अनुसार ठीक मानचित्र (नक्शा) बनाना, सामग्री जुटाना और भवन बना देना रह जाता है। यह सब काम मेरे वशका कभी नहीं रहा। यह सब करना था मेरे कन्हाईको। मुझे केवल सङ्कल्प करना था कि यह करना है।

इस सङ्कल्पमें भी एक बात हुई। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका 'श्रीरामचरितमानस' हिन्दीमें है, अत्यन्त लोकप्रिय है। भक्तोंका परमधन है। हिन्दीमें उसकी समताका दूसरा ग्रन्थ नहीं है। होनेकी सम्भावना भी नहीं है। उसीका कथानक गद्यमें लिख देनेमें कोई उत्साह मुझे नहीं था। वाल्मीकीय-रामायणका प्रवचन सुननेके पश्चात् लगा कि आदि-कवि द्वारा वर्णित चरित हिन्दी गद्य-चरितके लिए उत्तम आधार बन सकता है। अध्यात्म रामायण, पद्मपुराण, आनन्द रामायणके विशिष्ट चरित भी छूटने तो नहीं चाहिए।

'श्रीरामचरित-मानस'में परशुराम लक्ष्मण-सम्वाद बहुत सशक्त होनेके साथ बहुत नाटकीय है; किन्तु वाल्मीकीय रामायण तथा अध्यात्म रामायणमें वैसा कुछ नहीं है। जब पिनाक उठानेवाले नरेश एक दिन, एक सभामें उपस्थित हों, तब उस पृष्ठभूमिमें, वैसे रंगस्थलमें वह नाटकीय योजना अत्यन्त सुशोभन है; किन्तु जब वह रंगस्थल ही नहीं, वह योजना उपयुक्त नहीं।

'मानस'का केवट-प्रसङ्ग अत्यन्त भावपूर्ण है; किन्तु अनेक प्रश्न उपस्थित करता है। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें यह प्रसङ्ग नहीं है। यह प्रसङ्ग अध्यात्म रामायणमें है और उसीके अनुसार इस चरितमें भी मैंने लिया है। लेकिन महर्षि वाल्मीकिने गौतमाश्रम जनकपुरके समीप माना है। गङ्गा पार करनेपर यदि गौतमाश्रम मिलता है तो अहिल्या-उद्धार गङ्गा पार होजानेके पश्चात् होगा। अतः वहाँ गङ्गा पार करते समय केवट श्रीरामको गङ्गा पार करानेमें आपत्ति कर नहीं सकता। गौतमाश्रमकी स्थिति गङ्गा पार नहीं मानी है गोस्वामीजीने लेकिन केवट-प्रसङ्गका स्थान उन्हें वनवासके समय शृङ्गबेरपुरमें रखना ठीक लगा है।

अध्यात्म रामायणके अनुसार गौतमाश्रम गङ्गा तटपर; किन्तु गङ्गाके इसी

पार है, जिस ओर सिद्धाश्रम है। अतः अहिल्या-उद्धार करके श्रीराम गङ्गा पार करते हैं। अहिल्या-उद्धारकी घटना तात्कालिक है, अतः वहाँ केवटकी आपत्ति सुसङ्गत है। 'मानस'को गौतमाश्रमकी यह स्थिति स्वीकार है।

शृङ्गबेरपुरमें गङ्गा पार करानेवाला केवट और निषादराज गुह एक ही हैं, यह कुछ लोगोंका मत है। अधिक लोगोंका मत है (मेरा भी) कि निषादराज गुहसे केवट भिन्न है। दोनों अवस्थाओंमें कई प्रश्न उठते हैं।

१. निषादराज गुहसे यदि केवट भिन्न है तो केवटको आपत्ति करनेका अवसर ही क्यों मिला और निषादराज स्वयं हों तो उनके लिए नौकाके ऋषिपत्नी होनेकी आशङ्का उचित नहीं है। निषादराजके समीप इतनी नौकाएँ थीं, इतना प्रबन्ध था कि भरतके ससैन्य आनेपर भी उन्होंने सबको गङ्गा पार कराया और वह भी एक ही 'खेवा'में। श्रीरामके शृङ्गबेरपुरमें आते ही वे अपना सर्वस्व श्रीरामको अर्पित कर देते हैं। ऐसे भक्त, ऐसे सखा स्वयं नाव न खेकर श्रीरामको पार लेजाना चाहें, एक केवटको अवसर दें, यह उपयुक्त होगा? एक नौका 'ऋषिपत्नी' भी होती हो तो हो। उसे बचानेकी चिन्ता निषादराज करें, यह उपयुक्त होगा?

२. केवट आपत्ति ही करने लगा तो निषादराज क्या अन्य नौकाकी व्यवस्था नहीं कर सकते थे?

३. निषादराजके उपस्थित रहते श्रीरामने एक सामान्य केवटसे गङ्गा पार करानेकी बात ही क्यों की?

वाल्मीकीय रामायणमें गौतमाश्रम जनकपुरके बहुत समीप बतलाया गया है; किन्तु अध्यात्मरामायणके वर्णनके अनुसार गौतमाश्रमका गङ्गातटपर होना अधिक उपयुक्त है। वैसे कल्पभेदकी कल्पना किये बिना भी कह सकते हैं कि एक ऋषिके आश्रम अनेक स्थानपर हो सकते हैं। अहिल्याका उद्धार कहाँ हुआ? इसमें कल्प-भेदसे स्थान भेद होना सहज सम्भव है। अध्यात्म रामायणके वर्णनके पक्षमें कई बातें हैं—

१. शतानन्दजी महाराज जनकके पुरोहित हैं। जनकपुर रहते हैं। वे महर्षि गौतमके पुत्र हैं और अहिल्याजी उनकी माता हैं। जब पिताने माताको शाप देकर पाषाणी बना दिया और स्वयं आश्रम त्यागकर चले गये, तब—

(क) शतानन्दजी उस आश्रमके समीप ही रहते अपना पृथक आश्रम बना-कर, तब वे माताकी वन्दना करने, देखभाल करने नित्य आते-जाते या नहीं? आते-जाते तो अहिल्या-उद्धारका समाचार उन्हें विश्वामित्रजीसे प्राप्त होता या विश्वामित्रजीके जनकपुर पहुँचनेसे पूर्व दूसरोंसे मिल गया होता?

(ख) अहिल्या-उद्धारका समाचार पाकर यदि गौतमाश्रम समीप होता तो शतानन्दजी तत्काल माता-पिताके दर्शनार्थ चल पड़ते या नहीं ?

(ग) क्या स्वाभाविक नहीं है कि पिताके आश्रम-परित्याग तथा माताके शापग्रस्ता होनेपर शतानन्दजी दुःखी होकर वहाँसे पर्याप्त दूर जाकर रहने लगे ? पिताके पौरोहित्य पदके कारण वे जनकपुर आकर वह कार्य करने लगे।

इन सब कारणोंसे अध्यात्म रामायणके वर्णनको अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है और जब अहिल्या-उद्धार करके गङ्गा पार करना हो तो केवट वहाँ आपत्ति उठावे, यह सुसङ्गत बात है। गाँवके सामान्य दरिद्र केवटके समीप एकाधिक नौका न हों, यह सहज सम्भाव्य है।

यह बातें तो हैं प्रथम खण्डके सम्बन्धमें। मैंने जब यह चरित लिखना प्रारम्भ किया था, तब सोचा भी नहीं था कि इसे एकाधिक खण्डोंमें विभक्त करना है। उस समय 'शिवचरित' तथा 'आञ्जनेयकी आत्मकथा' मैंने पूरा किया था। सोचा यह था कि जैसे वे दोनों चरित एक-एक पुस्तकें हैं, ऐसे 'श्रीरामचरित' भी एक पुस्तक बनेगी, भले कुछ बड़ी बने; किन्तु प्रथम खण्डका वर्णन पूरा होते-होते उसीका आकार एक पुस्तकके बराबर होगया, तब सोचना पड़ा कि इस चरितको खण्डोंमें विभक्त किया जाना चाहिए।

जो इसका प्रेरक है—वह उर-प्रेरक जैसा चाहता है, होना वह है और वह मेरा कन्हाई उदारचक्रचूड़ामणि है। अब यह उसीका चरित है, पूर्व चरित सही और उसीको लिखवाना है। कोई झोपड़ी मांगे और उसे विशाल भवन दे दिया जाय, यह उसका सहज स्वभाव है।

इस द्वितीय खण्डको तो करुण-रस प्रधान होना ही है। राज्याभिषेकका प्रस्ताव और वनवास; किन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम मानवको जीवनके क्षेत्रोंमें आदर्श मर्यादाएँ देने पधारें तो जीवनके परमसत्य, परमसार्थकता—पूर्णताकी मर्यादा भी तो उन्हींके द्वारा स्थापित होनी है।

हमारे, आपके—प्राणिमात्र के जीवनका लक्ष्य है सुखकी प्राप्ति। सबका प्रयत्न एक ही दिशामें है; दुःख न हो और सुख मिले लेकिन ऐसा परिस्थितियोंको परवर्तित करके किया नहीं जा सकता। सम्भव ही नहीं है कि किसी एकके भी जीवन-में सदा उसके मनोनुकूल परिस्थिति बनी रहे। अतः वाह्य जगतमें अनुकूलता बना-कर सुख पानेका प्रयत्न कभी निर्बाध सम्पूर्ण नहीं होगा। जीवनकी पूर्णता-सुखकी परमोपलब्धि है परिस्थितियोंसे सर्वथा निरपेक्ष होजानेमें। अनुकूलतम परिस्थिति

में सुखके प्रवाहमें बह न जाना और प्रतिकूलतम स्थितिमें भी अकम्प, सुस्थिर बने रहनेकी क्षमता प्राप्त कर लेना ही जीवनकी पूर्णता है। गीताने इसीका नाम योग दिया है—

'तं विद्यात् दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥६।२३॥

राज्याभिषेकके प्रस्तावकी ही बात नहीं थी, उसका पूर्वकृत्य सम्पन्न कराया जा चुका था। महर्षि वशिष्ठके आदेशसे उपवास, संयमादिका पालन किया था श्रीरामने और जब राज्याभिषेकका समय आया, वनवासका आदेश मिला। लेकिन राज्याभिषेकके सम्वादने जिसे हर्षोत्फुल्ल नहीं किया, वनवासके सम्वादमें शक्ति कहाँ थी कि उसके नित्य स्मितशोभित श्रीमुखको म्लान कर सके।

उन सच्चिदानन्दघनमें हर्ष-शोकके विकार न आते हैं, न आने सम्भव हैं; किन्तु उनकी यह लीला—यह निर्विकार समताका चिन्तन मनमें आवे तो मानव जीवनकी पूर्णता—समत्वमें स्थिरताकी ओर बढ़नेमें समर्थ होता है। इसलिए हम सब इस नित्य मङ्गलमयी लीलाका श्रवण, स्मरण, चिन्तन, पठन करें।

श्रीकृष्ण जन्मस्थान, मथुरा
४-३-७६

—सुदर्शनसिंह

उपक्रम–

भगवानका सगुण-निर्गुण दोनों रूप अचिन्त्य-अचिन्त्य माहात्म्य हैं; क्योंकि दोनों परस्पर अभिन्न हैं। सगुण रूप भी सर्व व्यापक है। भगवान्के नाम, रूप, लीला और धाम परस्पर अभिन्न, अनन्त माहात्म्य हैं। लेकिन जहाँ तक लीलाकी बात है वह द्विविध है—१—नित्य लीला और २—अवतार लीला। नित्य लीला तो नित्य लोकमें नित्य चलती ही रहती है। अधिकारी भक्तोंके लिए चाहे जब पृथ्वीपर भी प्रकट हो जाती है—होती रही है।

भगवद्धाम ही विभु है। देश और कालमें न भगवान् हैं और न भगवद्धाम। देश-काल ही कल्पित हैं उस चिन्मय विग्रहमें। अतः किसी देशमें, किसी भी काल में, किसी अधिकारी पुरुषको भगवान्के श्रीविग्रहका, उनके नित्यधामका तथा उनकी किसी लीलाका दर्शन हो सकता है। यह भगवान्के रूपका, लीलाका धामका प्राकट्य जिस अधिकारीके लिए या जिन अधिकारियोंके लिए होता है, केवल वे ही उसका दर्शन पाते हैं। वहाँ उपस्थित होनेपर भी दूसरोंको उसका दर्शन नहीं होता।

अवतार लीलाका काल होता है। उस अवतारकालमें पृथ्वीपर उपस्थित प्राणियोंको भगवान्का दर्शन, सम्पर्क सम्भव रहता है। प्रत्येक युगके अवतार निश्चित हैं, जैसे सतयुगमें नर-नारायणावतार, त्रेतामें परशुरामजीका अवतार; किन्तु पूर्णावतारका निश्चित काल नहीं होता। परात्पर पूर्ण परमब्रह्म कालकी मर्यादामें आबद्ध नहीं होता फिर भी एक कल्पमें एक बार कभी पूर्ण परमब्रह्म श्रीरामका और ऐसे ही श्रीकृष्णका भी द्वापर अवतार अवश्य होता है।

अवतारलीला और नित्यलीलामें सादृश्य भी है और अन्तर भी है; क्योंकि अवतारके जो तीन कारण हैं १—साधु-परित्राण, २—दुष्कर्मियोंका विनाश, ३—धर्म-संस्थापन, इनमें से केवल साधु-परित्राण अर्थात् भक्तोंकी भावपूर्ति ही नित्यलोकमें सम्भव है। अतः नित्य लोकमें असुर-संहार यथा धर्म-संस्थापन सम्बन्धी लीलाएँ नहीं होतीं। कहना इस प्रकार चाहिए कि अवतारकालमें शैशव, बाल, कैशोर आदिकी जो लीलाएँ भगवान् करते हैं, वे नित्यलीला हैं। वे नित्य लोकमें सदा होती रहती हैं। पृथ्वीपर वे एक क्रमसे व्यक्त होती हैं।

नित्य लोकमें कहीं भगवान् नित्य शिशु, कहीं नित्य बालक, कहीं नित्य किशोर हैं और उन रूपोंके अनुरूप लीला करते रहते हैं; किन्तु पृथ्वीपर ये लीलाएँ क्रम पूर्वक व्यक्त होती हैं।

नित्य लोकमें धर्म-स्थापन कैसा ? वह तो चिन्मय धाम है। वहाँ प्राकृतिक सत्वगुण भी नहीं तो रजोगुण, तमोगुण सम्भव ही कैसे हैं। वहाँ तो गुणातीत प्रभु और उनके स्वरूपभूत गुणातीत परिकर हैं। अतः वहाँ धर्म-संस्थापनसे सम्बन्धित लीलाएँ नहीं होतीं। इसी प्रकार जिस नित्य धाममें त्रिगुणोंका प्रवेश ही नहीं, वहाँ असुर या आसुरी भाव कैसे सम्भव हैं। अतः असुर-शमनकी लीलाएँ भी वहाँ नहीं होतीं। धर्म-स्थापन तथा असुर शमनकी लीलाएँ नित्य नहीं हैं। वे अवतार-कालकी आनुषङ्गिक लीलाएँ हैं। वे केवल उसी समय होती हैं।

इसका फलितार्थ यह है कि श्रीरामचरितके प्रथम खण्डमें वर्णित चरितों-में से अधिकांश चरित नित्य हैं। वे नित्य लोकमें सदा होते रहते हैं। वहाँ श्रीराम नित्य मैया कौशल्याके अङ्कधन हैं तो नित्य धनुर्भङ्ग, नित्य विवाह भी है। केवल महर्षि विश्वामित्रके साथ जाकर असुर-संहार, यज्ञ-रक्षा तथा अहिल्या-उद्धारकी लीलाएँ नित्य नहीं हैं। ये अवतारकालकी प्रसङ्गानुसार प्राप्त लीलाएँ हैं।

अब द्वितीय खण्डकी लीलाओंमें अधिकांश अवतारकालकी लीलाएँ हैं; किन्तु श्रीरामका वनवासी वेश और लक्ष्मण तथा श्रीजनक-नन्दिनीके साथ वन-पथमें चलना नित्य रूप है—नित्य लीलाका अङ्ग है। अनेक भावुक भक्तोंका सर्वस्व है यह रूप। इसीलिए शास्त्रोंने चित्रकूट तथा पञ्चवटीमें श्रीरामका नित्य-निवास माना है। असुर संहार नित्य-लीला नहीं है और वनवास नित्य-लीला है, यह क्यों ? कैसे ? इस प्रकारके प्रश्नोंको इसलिए अवकाश नहीं है; क्योंकि भगवल्लीला अचिन्त्य है। उसका रहस्य मन-बुद्धिसे परे है।

जैसे सत्संग परम कल्याणकारी है और संत संगको प्रत्यक्ष भगवत्संग से भी अधिक महत्व शास्त्रने दिया है;किन्तु संतके भी शरीरके स्मरण-ध्यान,मूर्ति-निर्माण, समाधि-स्थापन आदिके पक्षमें शास्त्र एवं शास्त्रीय परम्परा नहीं है, यह सब जो आज समाजमें चल पड़ा है, वह दीर्घकाल तक विधर्मी शासन एवं सम्पर्कमें रहनेका प्रभाव है, उन लोगोंकी अनुकृति है। क्योंकि अनित्यका स्मरण, स्मारक रखनेके पक्षमें वैदिक परम्परा नहीं है और संत कैसा भी महान हो, शरीर उसका अनित्य ही होता है। इसी प्रकार भगवल्लीलाओंमें भी नित्य लीलाका ही ध्यान, चिन्तन

शास्त्र-सम्मत है। वही जीवके परमकल्याणका साधन है। धर्मस्थापन तथा असुर विनाशकी लीलाओंका पठन, स्मरण, गान सत्संगके समान हृदयको पवित्र करने वाला तो है, अतः वर्णन, गानादिके लिए सर्वथा उपयुक्त है; किन्तु उसका चिन्तन निष्ठापूर्वक अपनानेकी न परम्परा है, न वह ध्येय है।

यहाँ यह बात स्पष्ट ध्यानमें रखनेकी है कि मनुष्य किसी एक भावमें जब निष्ठापूर्वक स्थित होता है तो उस भावके नित्यस्तरमें स्थिति होनेके कारण उस भावके मूलस्रोत नित्यधाम तथा वहाँकी भावानुरूप नित्यलीलासे उसके हृदयका सम्पर्क बनता है। उसके लिए उस लीलाके प्रत्यक्ष आविर्भावकी सम्भावना बनेगी। यदि लीला नित्य नहीं है, केवल तात्कालिक, लौकिक है तो उसका आविर्भाव पुनः सम्भव नहीं है। उसके स्मरणमें जो भगवान्‌के रूप, गुण,पराक्रमका स्मरण है, वह पापहारी है और अन्तःकरणको शुद्ध करने वाला है।

अनित्यका—विनाशीका-पाञ्चभौतिकका स्मरण न करके नित्य, चिन्मय, दिव्यका ही स्मरण किया जाय, यह वैदिक परम्पराका आग्रह है और इस परम्पराके अनुसार स्वयं भगवान्‌ने जिनका संहार किया या जिनके सम्पर्क में रहे, उनका नाम, रूप, देह भी चिन्मय, द्विव्य नहीं माना जाता, साधन-सिद्ध महात्माओंके शरीर तो स्पष्ट पाञ्चभौतिक होते ही हैं। उनमें चिन्मयपनेकी भावना शास्त्र-संगत नहीं है।

केवल श्रीभगवान् एवं उनके अवतार शरीर चिन्मय-दिव्य हैं। उन्हींके मन्दिर बनाए जाते हैं। उन्हींकी पूजा, ध्यान, स्मरण कल्याणकारी है। भगवद् भक्तोंकी मूर्ति, मन्दिर भी बन सकते हैं; किन्तु केवल उसी रूपके जब भगवान्‌के सान्निध्यमें वे हैं अर्थात् उनका जो रूप नित्य है, केवल वही। जैसे प्रह्लाद या ध्रुवकी मूर्ति पृथक तप करते या राज्य कालकी बनायी जाय, यह शास्त्रसंगत नहीं होगा। भगवान् नृसिंह या नारायणकी मूर्तिके समीप प्रह्लाद या ध्रुवकी मूर्ति बन सकती है, बनी है; क्योंकि यही रूप उनका नित्य है। इस रूपमें वे गौण रहते हैं और उनके आराध्य मुख्य रहते हैं।

विनश्वरका विस्मरण ही वैदिक परम्पराको अभीष्ट है। किसीका भी वह कितना भी महान हुआ हो, उसके नाम, रूप, जीवनका स्मरण अपने नाम, रूपकी आसक्तिको बढ़ावेगा या नहीं? देहात्मवाद जिन परम्पराओंमें है या जो प्रलय तक जीवको कब्रमें सोता मानते हैं, वे तो कब्र या समाधि बनाकर उसे सुरक्षित रखें, वे मूर्ति-चित्र-जीवनी रखें, व्यक्तिके उपयोगमें आये पदार्थोंका

संग्रहालय बनावें, यह स्वाभाविक है; किन्तु जो संस्कृति नाम-रूपकी आसक्तिको निःशेष करनेके पक्षमें है, वह इन बातोंको किञ्चित् भी अनुमति कैसे देसकती है ?

स्मारक और स्मरण नित्यका—चिन्मयका—सच्चिदानन्दघनका, जिससे हमारे अन्तः करणमें बद्धमूल विनश्वर का—देहके नाम-रूपका मोह निर्मूल हो और हम उस आनन्दघनका सामीप्य प्राप्त कर सकें। इसीलिए भगवच्चरितका वर्णन, पठन, श्रवण, गायन परमकल्याणकारी माना गया है।

भगवच्चरितमें जो नित्य-लीला नहीं भी हैं, असुर ध्वंसादिकी केवल अवतार-लीला हैं, उनका चिन्तन, स्मरण भी उत्तम सत्संगके समान हृदयको पवित्र बनानें वाला है; क्योंकि आप या हम केवल रावण या विराधका चिन्तन तो करेंगे नहीं। चिन्तन करेंगे उनको परम गति देने वाले नीलसरोरुहश्याम धनुर्धर श्रीरामका और श्रीरामका जटामुकुटी, वल्कल वसन, वनपथमें विचरण करता रूप तो नित्य रूप है। विरक्त तपस्वी मुनिगणोंके मानसका सर्वस्व है। यह रूप निखिल वासनाओंका निवारक है। अतः अब इसीके, ध्यान और इसका लीलाओंका चिन्तन करें।

———

राज्याभिषेकका प्रस्ताव

'आवश्यक नहीं है कि किसी राजकुमारको युवराज पदपर अभिषिक्त करनेके अवसरपर सब सम्बन्धियों तथा सिंहासनके अनुगत नरेशोंको आमन्त्रित किया ही जावे।' चक्रवर्ती महाराज दशरथने अपने सभी मन्त्रियों तथा प्रजा-प्रतिनिधियोंको राजसभाकी विशेष बैठकमें बुला लिया था। महामन्त्री सुमन्त्र को भी अनुमान नहीं था कि यह बैठक क्यों बुलायी जा रही है। वे श्री चक्रवर्ती महाराजके बालसखा थे, मन्त्री थे और सारथि थे; किन्तु उनके स्वभावमें कुतुहल नहीं था। महाराज स्वयं ही कुछ पूछें तो उसपर वे अपनी सम्मति देते थे। महाराजने विशेष मन्त्रणा-परिषद आमन्त्रित करनेका आदेश दिया था उन्हें। उस परिषदमें महाराजने प्रस्ताव किया-'यदि आप सब उचित मानें तो रामभद्र को युवराजपदपर अभिषेक कर दिया जाय। मैं वृद्ध हो चुका और मेरा शरीर अब विश्राम चाहता है। वैसे भी शासनका प्रबन्ध अब राम ही देखते हैं।'

भारतीय राजतन्त्र अपनी व्यवस्थामें अद्वितीय था। उसे कदाचित ही किसी समाज शास्त्रीने ठीक समझा हो। वस्तुत:प्राचीन भारतीय शासन प्रणाली-को ऋषितन्त्र कहा जाना चाहिए। राजा एक ओर प्रधान सेनापति था और दूसरी ओर ऋषि तथा अपने मन्त्रि-परिषदके निर्णयोंको सक्रिय करनेका अधि-कारी। वह अपना पद तो किसीको देसकता था; किन्तु ऋषि या मन्त्रि-परिषदके निर्णयोंकी उपेक्षा नहीं कर सकता था।

पूरे देशमें जातीय पञ्चायतें थीं। आजके शब्दोंमें एक व्यवसायमें लगे लोगोंके संगठन थे। उन पञ्चायतोंके जो प्रमुख होते थे वे मन्त्रि-परिषदमें होते थे। पूरे राज्यकी किसी जातिके प्रमुखकी उपेक्षा करना सरल नहीं था। इन्हें पञ्च कहा जाता था और ये अपनी जातियोंके द्वारा चुने जाते थे। राजाके द्वारा मनोनीत मन्त्री कहलाते थे। ये विशेष विषयोंके विशिष्ट विद्वान होते थे। यदि पञ्चों, मन्त्रियोंमें अथवा राजाके साथ पञ्चों या मन्त्रियोंमें मतभेद हो जाय तो ऋषिका निर्णय अन्तिम होता था। ऋषि वेदज्ञ, सर्वज्ञप्राय तथा विरक्त थे। वे गृहस्थ होकर भी वनमें या नगरोंके बाहर समीप रहते थे। उन्हें राजासे या समाजसे कुछ लेना नहीं था। उनका त्याग तथा ज्ञान अपार था। अत: उनका निर्णय सर्वोपरि होता था।

महाराज दशरथने पञ्चों और मन्त्रियोंकी परिषद एकत्र करली थी उस दिन। यद्यपि यह आवश्यक नहीं था। महाराज अपना पद अपने किसी पुत्रको देने में स्वतन्त्र थे; किन्तु उन्होंने सबसे सम्मति लेना उचित माना। वे बोले—'आप सबको भली प्रकार ज्ञात है कि इस वंशमें मेरे पूर्वजोंने प्रजाको सदा पुत्रवत् माना है। मैंने सदा सावधान रहकर प्रजाकी सेवाका प्रयत्न किया है; किन्तु श्वेत छत्रके नीचे इतने दीर्घकाल तक बैठकर कर्तव्य-पालन करते हुए मैं श्रान्त हो गया हूँ। अब कुल परम्पराके अनुसार अपने ज्येष्ठ पुत्र रामको यह भार देना चाहता हूँ। आप सब मुझे अनुमति दें। राम त्रिलोकीके पालनमें समर्थ हैं। यदि आपको यह प्रस्ताव स्वीकार न हो तो मुझे सलाह दें कि क्या करना चाहिए। मैं आप सबके आदेशका पालन करूँगा। मेरे मनमें राग-द्वेष सम्भव है, अतः मैं आप सबकी सम्मति चाहता हूँ।'

'श्री चक्रवर्ती महाराजकी जय! कुमार श्री रामभद्रकी जय!' पञ्चों ने हर्षातिरेकमें आसनोंसे एक साथ उठकर जयध्वनि की। सबने एक स्वरसे कहा—'महाराज! सचमुच आप अब वृद्ध हो चुके हैं। अब श्रीरामको अवश्य युवराज बना दें। हम सब कमल लोचन श्रीरामको गजके ऊपर छत्र चामर सहित बैठे देखकर कृतकृत्य होना चाहते हैं।'

'मेरे मनमें आप सबका यह उल्लास देखकर अत्यन्त आनन्द हुआ; किन्तु एक सन्देह मनमें उठ खड़ा हुआ।' महाराजने तनिक स्मित पूर्वक कहा—'मेरे शासनमें कहीं कोई त्रुटि रही है। कहीं मुझसे प्रमाद होता रहा है, इस कारण आप सब चाहते हैं कि मैं शीघ्र सिंहासन त्याग कर दूँ।'

'महाराज! हम सत्यकी शपथ करके कहते हैं कि आपके शासनमें कोई त्रुटि हममें किसीको कभी नहीं दीखी; किन्तु आप हमें यह कहनेको क्षमा करें। हाथ ज़ोड़कर पञ्चोंने कहा–'आपके ज्येष्ठ कुमारकी सद्गुणोंमें कहीं समता नहीं है। अपने महान सद्गुणोंके कारण वे प्रजाके प्राणप्रिय होगये हैं। इस इक्ष्वाकुवंश में अब तक हुए सभी नरेशोंसे वे अपने दिव्य गुणोंके कारण श्रेष्ठ हैं। श्रीरामको धर्मात्मा नहीं कहते बनता, धर्म श्रीरामको पाकर सनाथ हुआ है। प्रजाके सब लोग स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सायं-प्रातः अपनी उपासनाके अनन्तर आराध्यसे प्रार्थना करते हैं कि हम श्रीरामको अपना पालक, अपना पति देखें। आपके सम्मुख हम निःसंकोच कहते हैं कि हम वृद्धजनोंकी एकमात्र अभिलाषा है कि श्रीरामको सिंहासनारूढ़ देखने तक हम अवश्य जीवित रहें।'

'महामन्त्री ! राजाका यह प्रमाद ही है कि प्रजाकी इतनी उत्कट अभिलाषा से भी वह अपरिचित रहे।' महाराजने सुमन्त्रकी ओर देखा। सुमन्त्रने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुका लिया। महाराजका तात्पर्य उलाहना नहीं था। उन्होंने कहा —'मैं आज ही कुलगुरुके श्रीचरणोंमें उपस्थित होकर अनुमति प्राप्त करूँगा और मुहूर्त निश्चित करनेकी प्रार्थना करूँगा।'

सुमन्त्र तत्काल मन्त्रणाकक्षसे बाहर होगये। उन्हें महाराजका रथ प्रस्तुत करना था। दूसरे मन्त्रियों तथा पञ्चोंने भी महाराजको यथाविधि अभिवादन किया। सुमन्त्र जब महाराजको लेकर महर्षि वशिष्ठके आश्रम पहुँचे, उन्हें एक नया ही रहस्य ज्ञात हुआ। श्रीचक्रवर्ती महाराजने कुलगुरुको प्रणिपात करके बैठनेके पश्चात् अपने स्वप्न सुनाने प्रारम्भ किये।

'भगवन् ! इन दिनों जो अपशकुन होने लगे हैं, उनकी ओर आपका ध्यान न गया हो, ऐसा सम्भव नहीं है। मैं केवल अपने स्वप्नोंको निवेदन करता हूँ।' महाराजने सुनाया—'मैंने देखा कि सूर्य पृथ्वीपर गिरा और उसके दो टुकड़े हो गये। एक दूसरे स्वप्नमें मैंने मंगल और शुक्रको परस्पर टकराकर टूटते देखा। मैंने देखा कि चन्द्रके अकस्मात खण्ड-खण्ड होगये और वे खण्ड भूमिपर गिर गये।'

सुमन्त्र अब चौंके। उन्होंने अब तक इन अपशकुनोंकी ओर क्यों ध्यान नहीं दिया ? अनेक दिनोंसे श्वान सूर्योदयके समय उदित होते भास्करकी ओर मुख उठाकर रुदन करते हैं। शृगालीका फेत्कार भी सुना है उन्होंने। उनके रथके अश्वोंके नेत्रोंसे भी अश्रु गिरते हैं और………सुमन्त्रको अनेक अपशकुन स्मरण आने लगे। राजकुमार विवाह करके लौटे और अयोध्या आनन्दोत्सवमें निमग्न होगयी। इस आनन्दमें, नित्य नूतन उत्सवोंकी व्यस्ततामें अपशकुनोंकी ओर किसीने ध्यान ही नहीं दिया।

'राजन् ! आपने जो स्वप्न देखे हैं, उनका अशुभ फल बहुत दारुण कहा गया है स्वप्नशास्त्रमें। ऐसे स्वप्न भूपतिके लिए ही नहीं, समस्त प्रजाके लिए कठिन विपत्तिके सूचक हैं।' महर्षि वशिष्ठने गम्भीरता पूर्वक कहा—'आप शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। आपने वृद्धोंकी सेवा की है। आपने क्या सोचा है इन अपशकुनोंका परिहार ?'

सुमन्त्र स्वप्न सुनते ही आशङ्कासे व्यथित हो उठे थे। अब महर्षिकी गम्भीरता तथा तटस्थताने उन्हें अधिक चिन्तित किया—'रघुकुलगुरु सर्वज्ञ हैं,

सर्व समर्थ हैं, किन्तु ये स्वयं परिहार नहीं बतलाते ? इनको तटस्थताका अभिप्राय············?'

'मैं तो श्रीचरणोंका आश्रित हूँ।' महाराजने अञ्जलि बाँधकर प्रार्थना की— वैसे मेरे मनमें आया कि स्वप्न मुझे दीखे हैं, अतः उनका अशुभ फल भी मेरे लिए होना चाहिए। यदि सिंहासनका दायित्व रामभद्रको दे दिया जाय, उनका युवराज पदपर अभिषेक कर दिया जाय तो मैं राजा बना भी रहूँगा अपशकुनोंका अशुभ फल झेल लेनेके लिए और प्रजा-पालनका कार्य निर्बाध भी रहेगा। मैंने आज ही मन्त्रियों तथा पञ्चोंकी सम्मति ली है। प्रजा श्रीरामको राजा देखनेको अत्यन्त उत्सुक है। श्रीचरणोंमें मैं अनुमति लेने आया हूँ। जब आप उत्तम मुहूर्त समझें तब यह कार्य सम्पन्न करा दें।'

'राजन् ! आपका विचार ही उपयुक्त है। अपशकुन आसन्नभय सूचित करते हैं, अतः यह कार्य शीघ्र किया जाना चाहिए।' महर्षि वशिष्ठने दो क्षणको नेत्र बन्द किये, एक बार गगनकी ओर दृष्टि उठाकर देखा और तब बोले—'केवल समीपस्थ सम्बन्धियों तथा सामन्तोंको सूचित कर दीजिये। यह पवित्र मधुमास (चैत्र) है। वन पुष्पित हैं। श्रीरामभद्रके यौवराज्याभिषेकके उपयुक्त समय है। पुष्य नक्षत्रमें ही यह मङ्गल-महोत्सव हो।'

'श्रीचरण ही इसके सम्बन्धके आवश्यक कार्योंका सञ्चालन करें।' महाराजने प्रार्थना की—'हम सबको आप आज्ञा दें कि हमको क्या करना है। आप राजसदन पधारें और रामभद्रको भी आवश्यक निर्देश दें।'

महर्षि वशिष्ठने वहीं सुमन्त्रको नगर-सज्जा, देवस्थानोंमें अभिषेक एवं अखण्ड अर्चन करानेका आदेश दिया। यौवराज्याभिषेकमें जो आवश्यक द्रव्य थे उनको मंगानेको बतला दिया। उज्ज्वल प्रलम्ब चामर, नूतन अखण्ड अविद्ध कृष्णमृगचर्म, सम्पूर्ण पवित्र नदियों, कूपों, सरोवरों और समुद्रोंका जल, पिपीलिका-संग्रहीत स्वर्णराशि, अनेक प्रकारके शहद, विविध पशुओंके घृत, नाना स्थानोंकी, तीर्थोंकी मृत्तिका, सब प्रकारके रत्न, पल्लव, कुश, विविध समिधाएँ—बहुत दीर्घ सूची सुना दी महर्षिने सुमन्त्रको सामग्रीकी। अभिषेक कलशोंकी धातुएँ, आकार, सिंहासन, वस्त्र, आभरण प्रभृति सबका विस्तृत विवरण दे दिया।

बहुत अद्‌भुत सूची थी वह। उज्ज्वल एवं पीत दूर्वा, श्वेत-रक्त उभय पुनर्नवा, श्वेत पुष्प कटेरी, बला एवं भद्र वर्गकी औषधियां। चन्दन, पद्‌मकाष्ठादि, एकसे

चतुर्दश मुख पर्यन्त रुद्राक्ष। चतुर्विध पारद। अनेक आकारके दक्षिणावर्त एवं मुक्ताभ शंख, नाना शुक्तियाँ, दक्षिणावर्त लतावेष्टित नाना काष्ठ और द्विदलसे सहस्रदल पर्यन्त सब रङ्गोंके पद्म, सब कुमुदिनियाँ, नलिनी वर्ग। कौनसा रत्न कितना बड़ा किस आकारका, किस विशिष्टतासे युक्त आवश्यक है, यह सब महर्षिने बतलाया।

'सुमन्त्र ! सुरोंसे अथवा उपदेवताओंसे इन पदार्थोंके संग्रहमें सहायता नहीं लेना है।' महर्षिने सामग्री निर्देशके पश्चात कह दिया—'जिनका अर्चन करना है, उन्हींसे सेवा लेना उपयुक्त नहीं है। साथ ही सामग्री शीघ्र एकत्र होनी चाहिए।'

महाराज तथा कुलगुरुको राजसदन पहुँचाकर सुमन्त्र व्यस्त होगये। उन्हें कलाजीवी लोगों तथा अयोध्याके वणिकवर्गको, राजसेवकोंको आवश्यक निर्देश देना था। तीव्रगामी वाहनोंपर निपुण चर भेजने थे विभिन्न कार्योंके लिए।

महाराजने आते ही श्रीरामको बुलवाया। आकर अपना नाम लेकर श्रीरामने महर्षि वशिष्ठ तथा पिताको प्रणाम किया। पिताकी आज्ञासे जब वे आसन ग्रहण करचुके तब महर्षिने कहा—'वत्स रामचन्द्र ! महाराज इन दिनों बहुत अमङ्गल स्वप्न देख रहे हैं। अब वृद्ध हो चुके हैं और अपने जीवनमें विपुल दान एवं अनेक-अनेक महायज्ञ तक भी कर चुके हैं। अब श्रीचक्रवर्ती महाराज शासनसे अवकाश चाहते हैं। स्वप्नोंके अशुभ संकेतको देखते महाराज चाहते हैं कि शीघ्र तुम्हारा युवराज पदपर अभिषेक होजाय वत्स ! तुम्हें पिताकी इच्छा पूर्ण करना चाहिए। कल ही तुम्हारे अभिषेकका मुहूर्त है, अतः आज तुम पत्नीके साथ कुशासनपर ब्रह्मचर्य पूर्वक रात्रि-शयन करना। दिनमें तुम दोनों व्रत करो और मनको शान्त रखो। ऐसे कर्मोंमें बहुधा अनेक विघ्न आते हैं। तुम्हें सावधान रहना चाहिए'

'भगवन् ! भाई भरत……।' श्रीरामने अत्यन्त सङ्कोच पूर्वक कुछ कहना चाहा।

'विश्वकी राजनीति कब कहाँ कैसे पद उठायेगी, कुछ ठिकाना नहीं है। विश्वमें सब हमारे मित्र ही नहीं हैं। मित्र नरेशोंसे, सुरों तकसे सदा अपने अनुकूल व्यवहारकी आशा नहीं की जासकती। अयोध्या नरेश इधर परम्परासे चक्रवर्ती रहे हैं। इस परम्पराका गौरव सुरक्षित रखनेमें बहुत अधिक सावधानी अपेक्षित है।'

'पृथ्वीपर दशग्रीव ही अकेला महत्त्वाकांक्षी नहीं है। यह दूसरी बात है कि वह बहुत दुर्धर्ष है, अयोध्याका मित्र भी नहीं है वह। उसे और दूसरे लोगोंको जो किसी भी अल्प छिद्रका अवसर चाहते हैं, हमें अवसर नहीं देना है।'

'कहीं किसीकी महत्त्वाकांक्षा उन्मद न हो, किसीको न लगे कि चक्रवर्ती नरेश वृद्ध होगये और युवराज अभी सुस्थापित नहीं हैं, हमें तुम्हारा राज्याभिषेक शीघ्र सम्पन्न करना है।'

'मैं आज्ञा पालन करूँगा।' श्रीरामने हाथ जोड़कर नम्रता पूर्वक कहा। सामान्य स्वर, कुछ शिथिल ही स्वर। उत्साह, उल्लास जैसी कोई बात जैसे श्रीरामको लगी ही नहीं। वे अनुमति लेकर माताके समीप जाने लगे तब महाराज-ने समीप बुलाकर धीरेसे कहा—'तुम्हारी छोटी माताको मैं स्वयं यह सम्बाद दूँगा। वे इसे सुनकर बहुत प्रसन्न होंगी।'

सचमुच श्रीरामने सीधे महारानी कैकेयीके समीप जाकर पहिले उन्हें ही यह समाचार देनेका विचार किया था; किन्तु अब लगा कि महाराज उन्हें यह समाचार दें, यह अधिक उपयुक्त है। श्रीराम वहाँसे अपनी माताके सदनमें पहुँचे तो महारानी सुमित्रा वहीं थीं और श्रीजनक-नन्दिनी भी अपनी बहिनोंके साथ वहीं मिल गयीं। श्रीरामने दोनों माताओंको प्रणाम किया तो तीनों छोटे भाइयोंकी वधुओंने उठकर अन्त:कक्षमें प्रवेश कर लिया। श्रीजानकीजी भी सासके पीछे होगयीं।

महारानी कौसल्या उस समय अपने अन्त:पुरके मन्दिरमें देवार्चन कर रही थीं। उन्होंने आराध्यका अर्चन पूरा किया। श्रीरामको अङ्कसे लगाकर सिर सूंघा और स्नेह पूर्वक बोलीं—'वत्स! आसन ग्रहण करो और आराध्यका प्रसाद ग्रहण करो!'

'मात:! आपकी आज्ञा अनुलंघनीय है, किन्तु मैं केवल तुलसीदल ले सकता हूँ।' श्रीरामने विनयके साथ कहा—'कुलगुरुने मुझे और आपकी पुत्रवधूको भी आज उपवास करनेका आदेश दिया है। पिताश्री कल ही युवराज पदपर मेरा अभिषेक करना चाहते हैं।'

'तुम अपनी छोटी माताकी वन्दना कर आये?' महारानी कौशल्याने किसी प्रकार हर्षसे गद्गद् स्वरमें कहा। पुलकपूरित तन कम्पके कारण वे खड़े रहनेमें असमर्थ होकर बैठ गयीं।

'पिताजीने मुझे वारित कर दिया। आप अपनी पुत्रवधुओंको भी कह द।' श्रीरामने कहा—'छोटी माताको यह सम्वाद स्वयं पिताजी देना चाहते हैं।'

महारानी सुमित्राके मुखपर स्मित आया—'सहज स्वाभाविक है। वधुओंमें कोई आतुरता करके महाराजके आनन्दमें व्याघात नहीं बनेगी।'

'अम्ब ! आप आशीर्वाद दो और उचित शिक्षा दो !' श्रीरामने प्रार्थना की।

'वत्स ! पुत्रको मातासे आशीर्वादकी याचना नहीं करनी पड़ती।' महारानी सुमित्राने ही कहा—'माताका रोम-रोम पुत्रके लिए नित्य आशीर्वाद वर्षा करता रहता है और शिक्षा तो हम केवल अपनी वधूको दे सकती हैं। तुमको पिता तथा कुलगुरुका आदेशानुवर्ती होना है।'

इसी समय आनन्दके उद्रेकसे उत्फुल्ल लक्ष्मण लगभग दौड़ते हुए आये और श्रीरामके चरणोंपर गिर पड़े। श्रीरामने बलपूर्वक भाईको उठाकर हृदयसे लगाया—'लक्ष्मण ! तुम मेरे अन्तरात्मा हो। रामके समीप जो अधिकार, वैभव है या आता है, तुम्हारा है। तुम्हें जो अभीष्ट हो, आज वचन ले लो रामसे उसका।'

'आर्य ! इन चरणोंका सान्निध्य लक्ष्मणका स्वत्व रहे।' लक्ष्मणने जब अग्रजके चरण पकड़ने चाहे, श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगा लिया। माता सुमित्राके नेत्रोंमें हर्ष तथा पुत्रके प्रति प्रशंसाके भाव स्पष्ट होगये।

'रामभद्र, बधाई !' नगरमें चर्चा पहुँची और वृद्ध, तरुण स्त्री-पुरुषोंका समुदाय राजभवनकी ओर इस प्रकार उमड़ पड़ा जैसे वर्षामें बढ़ी सरिता उमड़-कर बहती है। स्त्रियोंने श्रीजानकीको तथा महारानी कौसल्याको बधाई देना प्रारम्भ किया और पुरुषोंने श्रीरामको। इनमें वृद्ध थे, प्रौढ़ थे, तरुण थे और सखा थे। सभी आगतोंका यथोचित सम्मान होरहा था राजसदनमें।

महारानी कौसल्या पूजन कराने और दान करनेमें लग रही थीं; नगरके अधिकांश सम्पन्न जन दान कर रहे थे। ब्राह्मण आराधनामें लग गये थे। सबके मुखपर एक ही चर्चा—'आराध्यने हमारी सुनली। चक्रवर्ती महाराज चिरायु हों।'

सबको ऐसा ही अनुभव होरहा था जैसे उसके अत्यन्त प्रिय जनका अभिषेक होने वाला है। अनेक वयस्कोंने श्रीरामके द्वारा उपहार दिये जानेको अस्वी-

कार करते कहा—'युवराज ! यह तो हमारा अवसर है। उपहार हम देंगे। आपसे उपहार तो अब जीवनभर मिलता रहेगा।'

'युवराज्ञी ! आप अब हमारी सेवा अस्वीकार नहीं कर सकतीं।' पुरकी कुलवधुओंने श्रीजनकनन्दिनीको आज ही उपहार देने आरम्भ कर दिये थे। केवल अयोध्याकी कन्याएँ थीं जो उत्साह पूर्वक भेंट ले रही थीं—'भाभी ! हमको तो सदा लेना है आपसे।'

'लक्ष्मण ! प्रसन्न होने जैसी तो कोई बात नहीं है। अधिकार प्राप्तिका अर्थ है सेवाका अधिक दायित्व सिरपर आना।' श्रीरामने भाईसे कहा—'मैं तुम्हारे ही भरोसे इस भारको स्वीकार कर रहा हूँ; किन्तु भाई भरतकी इस अवसरपर अनुपस्थिति मुझे खिन्न कर रही है।'

नगरमें प्रत्येक आनन्दमग्न था। प्रत्येक आराधना एवं गृह, द्वार, पथ आदि की सज्जामें व्यस्त हो गया था। वादक, कलाजीवी अपनेको प्रस्तुत कर रहे थे। मन्दिरोंमें अनेक अनेक लोगोंकी ओरसे अर्चना चल रही थी। पशु तथा पाले गये पक्षियों तकका शृङ्गार हो रहा था।

नारियोंके मंगलगान, वेदपाठ, जयध्वनि तथा कोलाहलसे नगरमें उच्च-स्वरमें बोले बिना निकटके व्यक्तिसे भी बात करना कठिन था और यह कोलाहल यह व्यस्तता पूरी रात्रि बनी रहा।

सुरोंका षडयंत्र

अयोध्यामें लोग प्राय: कह रहे थे—'श्रीचक्रवर्ती महाराज धन्य हैं ! शरीर-को वृद्धावस्थासे थकित जान उन्होंने श्रीरामके अभिषेकका निर्णय समयपर कर लिया। श्रीराम तो त्रिभुवनका शासन करनेमें समर्थ हैं। अब हम उनकी प्रजा होकर धन्य हो जायँगे।'

रात्रिमें निद्राका प्रश्न ही नहीं था। सब पूरी रात व्यस्त रहे थे। ब्रह्ममुहूर्त-के प्रारम्भमें ही सरयूपर पर्वके समान भीड़ हो गयी। लोग स्नान-सन्ध्यामें लगे। प्राय: सबने संक्षिप्त नित्योपासना की। ब्राह्मण पुण्याह पाठ करने लगे थे।

श्रीसीतारामने संयमका पालन किया था। दिनमें अनाहार रखा था। सायंकालसे ही मौनव्रत ले लिया था। रात्रिमें राजसदनके श्रीनारायण मन्दिरमें ही कुशास्तरणपर विश्राम किया था। पूरी रात्रि जागरण तथा जप करना था किन्तु मध्य रात्रिके लगभग श्रीजनकनन्दिनीको किञ्चित् तन्द्रा आ गयी।

'नारायण ! नारायण !' वीणाकी अत्यन्त मधुर मंद झंकृति श्रवणोंमें पड़ी और मन्दिर दिव्यसुरभिसे भर गया। एक स्निग्ध शीतल प्रकाश प्रकट हुआ। श्रीराम तत्काल उठ खड़े हुए। उन्होंने देख लिया कि देवर्षि नारद प्रकट हुए हैं और संकेतसे समीप बुला रहे हैं।

'आप अपने इस चरणाश्रित जनपर तो अनुग्रह ही रखें। यहाँ इस समय कोई समाज नहीं है कि आप मर्यादाका निर्वाह करेंगे।' देवर्षिने प्रणिपातको उद्यत श्रीरामको उठा लिया। नारदजीका स्वभाव शीघ्रता करनेका है। कदाचित ही कभी आसन ग्रहण करके किसीको अर्घ्य अर्पित करने तथा अर्चाका अवसर देते हैं। देवर्षि आये, मिले और अपनी बात कहकर अदृश्य हो गये। यही यहाँ भी किया उन्होंने। बोले—'अपने पिता लोकपितामहकी प्रार्थना श्रीचरणोंमें लेकर आया हूँ। आप प्रातः सिंहासनपर बैठेंगे तो धराके जिस भारको दूर करने, सुरोंके जिस सङ्कटको समाप्त करने अपने नित्यधामसे यहाँ अवतरित हुए हैं, वह दश-ग्रीव हर्षित होगा। अपने आश्रित सुर-मुनि एवं सत्पुरुषोंके सङ्कट-निवारणकी सुधि आप परमपुरुषको रखनी है।'

'सृष्टिकर्त्ता निश्चिन्त रह सकते हैं।' श्रीरामने संकेत किया अपनी नित्य सङ्गिनीकी ओर—'आप देख ही रहे हैं कि इन योगमायाने अपनी पलकें निमीलित करली हैं। अन्यथा निद्रा-तन्द्रा क्या इनका स्पर्श कर पाती है। इनके सहयोगके बिना तो राम कुछ कर नहीं सकता और ये लीलामयी सक्रिय हो गयी हैं।'

देवर्षिने वहींसे भगवती भूमिसुताको मस्तक झुकाया और श्रीरामकी प्रदक्षिणा करके अदृश्य हो गये।

× × × ×

सुरोंके—लोकपालोंके हृदयमें तभी व्याकुलता प्रारम्भ हो गयी थी, जब चक्रवर्ती महाराजने मन्त्रणा-सभामें श्रीरामको अभिषिक्त करनेका विचार प्रकट किया था। खिन्न वदन, हतश्री देवता सुरेन्द्रके समीप पहुँच गये थे। अग्नि, वरुण, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर सबकी एक ही व्यथा थी—'हमें क्या अधम नैकषेय दशग्रीवकी दासतासे कभी मुक्ति नहीं मिलेगी ?'

'लङ्काके अस्थि-मांस मलिन कक्षोंको, पथोंको स्वच्छ करते रहनेकी सेवा ही हमारा भाग्य है ?' वायु और वरुणकी व्यथा बहुत अधिक थी। राक्षस मांस-भक्षी थे और अतिशय मद्यपान करके चाहे जहाँ वमन करते थे। किसी भी स्थल-पर प्राणि-हत्या करते थे। उद्यानोंमें गिरे शीर्णपत्र ही नहीं उड़ाना था, इस सब अस्वच्छताको हटाते रहना था वायुदेवको और वरुणको तरु-लता सिञ्चनसे लेकर कक्षों, नालियों तकको धोना था—अविलम्ब धोते रहना था।

'मुझे मानवभक्षी राक्षसोंका उच्छिष्ट और लङ्काकी सम्पूर्ण मलिनताको आहुति मानना पड़ता है।' अग्निदेवकी स्थिति भी दयनीय थी। दशग्रीव हव्य-वाहनका उपहास करता था—'यज्ञीय आहुति बहुत पाते हो, लङ्का तुम्हें अपने ढंगका आहार अर्पित करती है।'

'अनुज होकर भी रावणने मुझे अपमानित किया।' कुबेरका कष्ट ठीक था। 'मेरा पुष्पक उसने मेरी पराजयका प्रतीक बनाकर अपने समीप रख छोड़ा है।'

यही पराजयकी पीड़ा देवेन्द्रको भी व्याकुल किये थी। एक आशा थी कि परमपुरुष पृथ्वीपर अवतर्ण हो चुके हैं, वे इस राक्षसाधमको मार देंगे; किन्तु वे तो अब अयोध्याके युवराज होने जा रहे हैं। दशग्रीव अयोध्या-पर आक्रमण न करनेका वचन बहुत पहिले दे चुका है और लङ्का बहुत दूर है अयोध्यासे। अयोध्याके अधिपति अकारण तो लङ्कापर आक्रमण नहीं करेंगे। कभी

अश्वमेध किया भी तो दण्डकारण्यके दशग्रीवके अनुचर जैसे अयोध्याके चक्रवर्ती नरेशोंके अश्वमेधीय अश्वके पहुँचनेपर अब तक लङ्कापतिकी ओरसे भी करके नामपर कुछ व्याघ्रचर्म देते आये हैं, दे दगे। सुरोंका सङ्कट समाप्त होनेका अवसर ही नहीं आवेगा।

देवता परस्पर मुखसे बोलकर बात नहीं करते। ऐसा तो वे बहुत आवेशमें होनेपर ही करते हैं। उनकी भाषा तो मनके सङ्कल्पकी भाषा है; किन्तु आजकी निराशामें व्याकुल वे बोल रहे थे देवराजकी सुधर्मा सभामें एकत्र होकर।

'हम कर भी क्या सकते हैं ?' देवगुरु वृहस्पतिजीको भी कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था—'परात्पर परमपुरुष सर्वलोक महेश्वर, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। उनके स्वजनोंकी भी छाया हम उनकी इच्छाके विपरीत स्पर्श नहीं कर सकते।'

'उनके स्वजनोंकी छाया ?' अपने ही वाक्यसे देवगुरु चौंके—'इस समय भरत कैकय हैं, यह सुरोंके लिए एक सुयोग है। वे अयोध्यामें होते तो हमारा कोई प्रयास सफल नहीं हो सकता था। उन श्रीरामगतप्राणके हृदयमें भगवती सरस्वती भी भेद उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।'

'भगवती सरस्वती ?' देवगुरुको लगा कि उनके अन्तर्यामी आज अत्यन्त अनुकूल हैं। वे हृषीकेश ही उनकी बुद्धिमें उपयुक्त प्रेरणा दे रहे हैं। देवगुरु भी कैसे अनुमान कर सकते थे कि निखिल लोकमहेश्वरी योगमाया अयोध्याके राज-सदनमें अपने आराध्यका मनोभाव समझनेमें कभी असावधान नहीं होतीं। वे सक्रिय होगयी हैं। देवगुरुके अन्तरयामीका भी वही सञ्चालन करने लगी हैं। देवगुरु तो सरस्वतीके स्मरणसे पुलकित हुए।

'देवेन्द्र ! एक ही आशा है, यदि भगवती हंसवाहिनी सानुकूल होकर सहायता करें।' वृहस्पतिने कहा—'वे महारानी कैकेयीकी बुद्धिको भ्रमित करके उन्हें अपने पुत्रको सिंहासन दिलानेका आग्रही यदि बना सकें……।'

इन्द्र और दूसरे सब देवताओंने कुछ नहीं सोचा। उन्होंने उसी क्षण भगवती सरस्वतीका स्तवन प्रारम्भ कर दिया। सङ्कट जितना भयानक होता है, व्याकुलता जितनी तीव्र होती है, आर्तकी प्रार्थनामें उतनी एकाग्रता और शक्ति आजाती है। सुर अत्यन्त व्याकुल थे। वे एकाग्रमनसे स्तुति कर रहे थे। वैसे भी सुर सत्ववृत्ति हैं और ब्रह्मलोक तक वे चाहे जब अपने ज्योतिर्देहसे जासकते हैं। उनका सङ्कल्प सृष्टिकर्ता तक सीधे पहुँचता है। उनकी एक साथ की गयी प्रार्थनाने

वाग्देवीको व्यक्त होनेके लिए विवश किया। वे श्वेताङ्गा, शुभ्रवसना, हंसवाहिनी स्वर्ग आयीं ब्रह्मलोकसे।

'मातः! हम शिशुओंकी आप ही शरण हैं।' देवताओंने प्रणिपात करके प्रार्थना की—'आप अयोध्या पधारें और जैसे भी सम्भव हो श्रीरामके अभिषेकको रोकें!'

'भक्तापराध—सुर मुझसे भक्तापराध कराना चाहते हैं?' सरस्वतीका स्वर भर्त्सना भरा तीक्ष्ण हो गया था—'सहस्राक्षको सूझता नहीं है कि अयोध्याका प्रत्येक जन श्रीरामका अपना है और श्रीरामके अभिषेककी बाधा सबको महान पीड़ा देगी।'

'किन्तु देवि! यह उन परमपुरुषकी सेवा है। उनके अवतारके प्रयोजनमें सहायता।' देवगुरु अञ्जलि बाँधकर आगे आगये—'बुद्धिकी अधिदेवताको समझाने की धृष्टता नहीं की जासकती। वियोग प्रीतिको परमोज्ज्वल करता है। परमपुरुष-के निजजन उसे प्राप्त भी करें तो उनके आराध्य उनमें प्रेम-परिपाकका अवसर देखकर प्रसन्न ही होंगे।'

'देखती हूँ कि मैं क्या कर सकती हूँ।' भगवती शारदाका स्वर अत्यन्त खिन्न था। उन्होंने बहुत व्यथित मनसे सुरोंका अनुरोध स्वीकार कर लिया। अयोध्याके राजसदनमें महारानी कैकेयीकी बुद्धि सर्वथा प्रभावित करनेमें वे भी असमर्थ थीं। केवल शिथिल कर सकीं वे कैकेयीके श्रीरामके प्रति अनुरागको। लेकिन कैकेयीकी दासी कुब्जा मन्थरा उन्हें उचित माध्यम मिल गयी। उसकी बुद्धिको वे विपरीत—भ्रान्त बना गयीं।

मन्थराकी मन्त्रणा—

अनेक विशेषताएं थीं महारानी कैकेयीकी दासी मन्थरामें। वह कुबड़ी न होती तो बहुत सुन्दर थी। उसे अपने शृङ्गारका, विशेषत: आभूषणोंसे अलङ्कृत रहनेका व्यसन था। रत्नालङ्कारोंसे लदी रहती थी। महारानी कैकेयीसे बड़ी थी आयुमें और कैकेयसे उनके साथ आयी थी। महारानी कैकेयीको गोदमें खिलाया था उसने। बड़ी बहिनकी आयुकी होकर भी कैकेयीजीको वह बच्ची मानती थी। सचमुच वात्सल्यस्नेह था उसका कैकेयीपर। महारानी कैकेयीकी मुखलगी, प्रधान सेविका थी। ऐसी सेविका जो स्वामिनीपर भी अनुशासन रख लेती हैं; क्योंकि महारानीकी समस्त सुविधाओंका वही ध्यान रखती थी। महारानीकी अन्तरंग सखीके समान हो गयी थी।

मन्थरा अभिमानिनी थी। दूसरे दास-दासियोंको केवल आदेश देती थी। राजकुमारोंसे उसका व्यवहार ऐसा था, जैसे वह दासी न होकर उनकी मातामही (नानी) हो। महारानी कैकेयी उसे बहुत मानती थीं, अत: श्रीचक्रवर्ती महाराज भी उसको सम्मानित ही करते थे। सभी महारानियोंकी सेविकाएँ उससे डरती थीं।

मन्थराके स्वभावमें ही ईर्षा थी। वह महारानी कैकेयीकी सरलता सपत्नियोंके प्रति विनम्रताको उनका बचपना मानती थी। उसे यह रुचता नहीं था। उसकी इन्हीं दुर्बलताओंका आधार बनाकर देवी सरस्वतीने उसकी बुद्धिको भ्रान्त किया; क्योंकि देवता भी मनुष्यके मनमें कोई प्रेरणा तभी दे पाते हैं, जब उसका बीज पहिलेसे उसके मनमें विद्यमान हो। जिसका बीज ही न हो, उस ओर कर्मयोनिके प्राणी मनुष्यको लगा देनेकी शक्ति देवताओंमें भी नहीं है।

मन्थराने सौधके ऊपरसे देखा तो पुरीकी नवीन सज्जा देखकर चकित हो गयी। महारानी कौसल्याके द्वारपर उसे बहुत भीड़ दिखलायी पड़ी। उसने धात्रीसे पूछा—'आज कौनसा उत्सव है कि पुरी इस प्रकार सज्जित हो रही है? राम-माताने किसी व्रतका उद्यापन किया है? उनके द्वारपर इतनी भीड़ क्यों है? उनके यहाँसे तो बहुत अधिक ब्राह्मण और याचक दान लेकर लौटते लगते हैं, आज दानका कोई विशेष पर्व है?'

'तुम्हें अब तक पता नहीं है ? तुम भी बड़ी महारानीके समीप चली जाओ। तुम्हें कुछ कहना नहीं पड़ेगा। वे तुम्हें रत्नाभरणोंसे लाद देंगी।' धात्रीने उल्लास पूर्वक कहा—'कल श्रीरामका युवराज पदपर अभिषेक होने वाला है। बड़ी महारानी आज अपना कोष लुटा रही हैं। वैसे वे दानशीला तो सदाकी हैं।'

धात्री पता नहीं क्या-क्या कहना चाहती थी; किन्तु मन्थराको सुननेका धैर्य कहाँ था। वह 'बड़ी महारानी' शब्दसे ही चिढ़ती थी। कल श्रीरामका युवराज पदपर अभिषेक होगा, यह सुनते ही उसे ऐसे लगा, मानो हृदयमें बाण लगा हो। उसे प्रतीत हुआ कि जानबूझकर सबने उससे और उसकी कैकेयी रानीसे यह समाचार छिपाया है। वह वहाँसे सीधे आवेशमें भरी महारानी कैकेयीके समीप गयी।

'मूर्खे, उठ ! शीघ्र उठ ! तेरे ऊपर महान भय आ गया है। तेरे जन्म-जन्मके पाप जाग उठे हैं। तेरा अनिष्ट होने वाला है।' मन्थराने कैकेयीकी भर्त्सना की। महारानी कैकेयी मध्याह्न भोजनके पश्चात् विश्राम कर रही थीं। मुँह लगी दासी मन्थरा बोलती ही जा रही थी—'तुझे अपने सौन्दर्यका बड़ा गर्व है ? तू समझती है कि राजाका तुझपर बहुत प्रेम है और इसी गर्वमें भूली है ?'

'बात क्या है ? आज तू इतनी बड़बड़ाहट कहाँसे ले आयी है ?' महारानी कैकेयीने हँसकर कहा। वे अपनी इस कुब्जा दासीका स्वभाव जानती हैं। उन्हें सदा यही लगा है कि यह दासी मुहँकी तीक्ष्ण भले है, हृदयसे उनको स्नेह करती है। अतः इसकी झिड़की वे टाल देनेकी अभ्यस्त हैं।

'देवीजी ! तुम्हारा विनाशयोग उपस्थित है। तुम उत्तम वंशमें उत्पन्न हो, सरला हो, तुम्हें क्या पता कि राजा कितने दारुण हैं। वे प्रिय भाषी हैं; किन्तु उनके भीतर कपट भरा है।' मन्थराने उसी तीक्ष्णतासे कहा—'राजाके प्रेमको सच्चा मानकर तुम फूल रही हो ?'

'आज महाराजने तुझे कुछ कह दिया है ?' महारानी कैकेयीने लेटे-लेटे ही पूछा।

'मैं तो दासी हूँ। महाराज मुझे क्यों कुछ कहेंगे और महाराज या कोई महारानी मुझे कुछ कह भी दें तो दासीका क्या मानापमान; किन्तु तुम्हें अपनी कुछ चिन्ता है ?' मन्थराने व्यंग किया—'महाराजने भरतको ननिहाल भेज ही दिया है, तुम दो दिन और ऐसे ही भूली रहो तो देखो तुम्हारी सपत्नियाँ तुम्हें क्या-क्या कहती हैं। तुम्हें कुछ पता भी है ? महाराज कल रामको युवराजपद देने जारहे हैं।'

'सच मन्थरे ?' महारानी कैकेयी तो सुनते ही प्रसन्न होकर उठ बैठीं। उन्होंने अपने दक्षिण चरणका रत्न जटित नूपुर उतारकर मन्थराकी गोदमें फेंका। दूसरा नूपुर उतारनेका प्रयत्न करती बोलीं—'अभी तू इस सम्वादका यह उपहार ले ले। कल मैं तुझे जितना कहेगी उतने रत्न दूँगी। मेरे रामका कल अभिषेक है ? मेरे लिए तो राम भरतसे अधिक हैं। रामकी वस्तुतः माता तो मैं हूँ।'

'तुम मूर्ख हो। दुर्मति हो तुम। तुम्हारे सिरपर विपत्तिका पर्वत गिर रहा है और तुम सपत्नी-पुत्रकी प्रशंसा कर रही हो !' मन्थरा स्वयं ही रुदन करने लगी—'तुम्हें इतना भी नहीं सूझता कि भरतको जो मिलसके, वह दूसरेको दिया जा रहा है।'

'मन्थरा !' महारानी कैकेयीका स्वर कठोर हुआ—'इक्ष्वाकु कुलमें ज्येष्ठ पुत्रको राज्य देनेकी परम्परा है। राम ज्येष्ठ पुत्र हैं, धर्मज्ञ हैं, कृतज्ञ हैं, वही राजा होने योग्य हैं। उनके अभिषेकके सम्वादसे तू दुःखी क्यों हो रही है ? जीजी मुझे सदा अनुजासे अधिक स्नेह देती रही हैं। राम मुझे ही माता मानते हैं।'

'मैं तुम्हारी मूर्खता देखकर रो रही हूँ। राम राजा होंगे तो रामका पुत्र राजा होगा या भरतका ?' मन्थराने उसी प्रकार कठोर स्वरमें पूछा—'राजाका तुमपर बहुत प्रेम था—अब उसे था कहना पड़ता है। ऐसी अवस्थामें चतुर राम माताने तुमसे विरोध नहीं किया, तुम्हारी बड़ी बहिन बनी रहीं, यह उनकी बुद्धि-मानी नहीं है ? तुम्हें विरोधिनी बना लेतीं तो उनके समीप वह सम्पत्ति और सम्मान जो आज है, तुम रहने देतीं ? उन्होंने अपने पुत्रको शैशवसे तुम्हारी गोदमें दे रखा, उसे तुम्हारे अनुकूल रहनेकी शिक्षा दी; किन्तु तुमपर उनका, रामका या राजाका विश्वास है तो इनमें से किसीने तुम्हें यह सम्वाद क्यों नहीं दिया ? सौधके ऊपरसे देखो तो पता लगेगा कि पुरी कितने दिनोंसे सजायी जारही है और तुमसे सब छिपाकर किया जा रहा है।'

महारानी कैकेयीको मन्थराका वह तर्क स्पर्श कर गया। उन्हें क्या पता कि पुरी आज ही सजायी गयी है। उनको यह सम्वाद सबसे पहिले मिलना चाहिए था—महाराजने अथवा रामने ही उन्हें क्यों सूचना नहीं दी ? उन्हें क्यों अन्धकारमें रखा गया ?

'देवीजी ! अब रामका अभिषेक होजानेपर परिस्थिति परिवर्तित हो जायगी !' मन्थराने व्यंग किया—'मुझसे सेवा करनेकी शिक्षा लो। तुम्हें राम माताकी दासी होकर रहना पड़ेगा। अब राममाता राजमाता होंगी और राम

राजा होंगे। उनको तुमसे कोई भय नहीं रहेगा, तब तुम्हारा सम्मान, तुम्हारी अनुकूलता बनाये रखनेकी उन्हें आवश्यकता ? इतने दिनों तुमने पतिको अपने प्रेमवश रखकर उन्हें लगभग पतिसे उपेक्षिता बना रखा था। वे पट्टमहिषी थीं और तुम सबपर शासन करती रही हो। उन्होंने चतुराईसे तुम्हें अनुकूल बनाये रखा; किन्तु अब उनको अवसर मिलेगा तुमसे प्रतिशोध लेनेका। तुम्हें दासी जितनी भी सुविधा-सत्कार मिलता रहे तो अपना सौभाग्य समझना।'

महारानी कैकेयीमें सब सद्गुण थे; किन्तु एक बड़ी दुर्बलता थी। वे बहुत मानिनी थीं। अवमानना, उपेक्षा असह्य थी उनके लिए। यही छिद्र था जिसके माध्यमसे सरस्वतीने उनके विवेकको शिथिल बनाया था। मन्थराकी बात मर्मपर आघात करने वाली थी। महारानीका मुख गम्भीर होगया। उसपर चिन्ताकी रेखा स्पष्ट हुई।

'बड़े राजकुमारका राज्याभिषेक इस कुलकी परम्परा है, यह मैं जानती हूँ।' मन्थरा अब गम्भीर स्वरमें कहने लगी—'लेकिन राज्याभिषेकके समय दो राजकुमार बुलाये ही न जायँ, तुम्हारे भाई और पिताको आमन्त्रित न किया जाय, यह भी परम्परा है ? आमन्त्रित तो तुम्हारी वधुओंके पिताको भी नहीं किया गया है।'

मन्थराने जानबूझकर यह नहीं कहा कि महाराज सीरध्वज जनक भी नहीं बुलाये गये हैं। उसने केवल जनकजीके भाई कुशध्वजजीको आमन्त्रित न करनेकी सूचना दी। महारानीको चिन्तित देखकर वह कुब्जा दासी कहने लगी—'इस कुलकी परम्परा तो मैं भी देखती हूँ। लक्ष्मणमाता भी महारानी हैं; किन्तु अतिशय बुद्धिमती हैं। तुम राजाकी प्रेयसी थीं तो वे तुम्हारी भी सेवा कर लेती थीं और राममाताको भी सेवासे सन्तुष्ट रखा उन्होंने। वे जानती थीं कि राजमाता किसे होना है। इसीलिए मैं कहती हूँ कि यह सुख-शैय्या छोड़ो और उठो !'

'उठकर करूं क्या मैं ?' महारानी कैकेयीने विषाद भरे स्वरमें पूछा।

'करनेको दूसरा क्या है, लक्ष्मणमाताकी अनुगामिनी बनो। उनके आदेशका पालन करती रहो। उनकी दासी बनकर रहना सीखो।' मन्थराने व्यंग वाण छोड़े—'अपनी पुत्रवधूको भी शिक्षा दो कि वह राजपुत्रवधू है, यह भ्रम त्याग दे। उसे अपनी बड़ी बहिनकी दासी बनकर रहना है और उसका सन्तति भी सेवक बनकर रहेगी।'

'मन्थरा !' कैकेयीजीने लगभग कातर पुकार की।

'पहिले करणीय सुनलो !' मन्थरा बोलती गयी। उसके शब्द विषसने थे। उसके हृदयका हलाहल उबलकर वाणीसे निकल रहा था—'शत्रुघ्नके लिए कोई भय नहीं है। वे अपने सहोदर अग्रजके साथ रामके पार्श्व-रक्षक बने रह सकते हैं; किन्तु भरतको सन्देश भेज दो कि अब अयोध्या आनेका कभी नाम न लें। यहाँ आये तो बन्दीगृहमें बन्द कर दिये जायँगे। उन्हें अब ननिहालसे ही वनमें चले जाना चाहिए। अब वे चाहे तप करें अथवा भारतभूमिसे बाहर कहीं वन्यजातियों-में अपने राज्यकी स्थापना करें। तुमको तो आजसे ही अभ्यास करना चाहिए दासी कर्म.............।'

'मन्थरे !' महारानी फूट पड़ीं—'तू जानती है कि मैं आत्मघात करके मर सकती हूँ; लोकनिन्दा सहकर पितृगृह रह सकती हूँ जीवनभर; किन्तु सपत्नीकी सेवा मुझसे नहीं होगी।'

'हायरे दैव ! मैंने जानबूझकर कभी कोई अपकर्म नहीं किया और यह दिन देखना पड़ा मुझे ?' महारानीने दोनों कर मस्तकपर रख लिये। उनके दीर्घदृगोंसे अश्रुधारा गिरने लगी—'मन्थरे ! मेरी सच्ची हितैषिणी है तू। तूने मुझे गोदमें खिलाया है। तू ही बता कि इस विपत्तिसे कैसे परित्राण हो ? तू कहींसे मेरे लिए तनिक विष नहीं ला सकती ?'

'विष खाकर मरें तुम्हारे विरोधी !' मन्थराने कैकेयीपर स्नेह प्रकट किया—'विपत्ति तो इसलिए है कि तुम कुछ करना ही नहीं चाहती हो। तुम करना चाहो तो अभी बिगड़ा क्या है ? अभी तो सुधारना तुम्हारे हाथमें ही है।'

'मेरे हाथमें है ?' महारानीने दासीके मुखपर दृष्टि जमा दी—'मुझे तो कोई मार्ग नहीं सूझता है।'

'मेरी महारानीका यह कर बना रहे !' मन्थराने कैकेयीका दाहिना हाथ दोनों हाथोंमें लेकर ओष्ठसे लगा लिया।

कैकेयीजी बालिका थीं जब उनके पिताके यहाँ एक वृद्ध ऋषि पधारे थे। अत्यन्त वृद्ध उन महात्माकी बालिका राजकन्याने बड़े उत्साहसे सेवा की। विदा होते समय वे ऋषि वरदान दे गये – 'वत्से ! जिस करसे तूने मुझ वृद्धकी सेवा की है, वह सुकुमार रहते हुए ही वज्रके समान दृढ़ होजाय।'

मन्थराने उसी करको दोनों करोंमें ले रखा था। वह अब मृदुल स्वरमें कह रही थी—'महारानी ! तुम्हींने तो सुनाया था कि राजा जब देवराज इन्द्रकी प्रार्थनापर उन सुरपतिकी असुरोंके विरुद्ध सहायता करने अमरावती जाने लगे, तब तुम हठ करके साथ गयीं और युद्धमें जब महाराजके रथका धुरा टूट गया, तब तुमने रथसे उतरकर धुरेके स्थानपर अपना यह हाथ लगा दिया था।'

'महाराज मेरे स्वामी हैं। उनकी विजय मेरी विजय है।' कैकेयीजीने कहा—'महाराज सङ्कटमें पड़ जाते यदि धुरा टूटनेसे रथ गिर पड़ता। असुर धर्मयुद्ध नहीं करते। मैं अपने सौभाग्यको सङ्कटमें पड़ते कैसे देखती ?'

'विजयी महाराजने अपनी पतिव्रता महारानीका यह साहस, यह त्याग देखा तो दो वरदान माँग लेनेको कहा।' मन्थराने स्मरण दिलाया।

'महाराज हठ कर रहे थे, अतः मैंने कह दिया कि इन वरदानोंको अपने पास न्यास रहने दें।' कैकेयीजीके मुखपर तनिक आभा आयी—'वैसे पतिका ऐसा क्या होता है जो पत्नीका नहीं है। वरदान माँगने-देनेकी बात ही व्यर्थ है पति-पत्नीमें।'

'व्यर्थ नहीं होती महारानी ! उसकी भी सार्थकता है।' मन्थरा बहुत मधुर भाषिणी बन गयी—'वे वरदान आज तुम्हारी विपत्तिका मूल नष्ट कर दे सकते हैं।'

'तू मुझे क्या करनेकी सम्मति देती है ?' महारानीने पूछा—'अब तो तू ही मेरा आश्रय है।'

'महारानी समस्त प्रजाकी आश्रयदायिनी हैं। यह दासी भला क्या महत्त्व रखती है।' मन्थराने तनिक चाटुकारी करके कहा—'तुम एक वरदानसे भरतके लिए राज्य और दूसरेसे रामके लिए चौदह वर्षका वनवास माँगलो।'

'चौदह वर्षका ?' कैकेयीके नेत्रोंमें जिज्ञासा थी।

'बारह वर्ष अधिकार रहे भूमिपर तो स्वत्व बन जाता है। इस अवधिसे भी दो वर्ष अधिक।' अब मन्थराने कुटिल हास्य किया—'खींचना उतना उचित है, जितनेसे टूट ही न जाय। राजा श्रीरामको कितना चाहते हैं, जानती ही हो। पूरे जीवन या दीर्घकालके लिए वनवास माँगोगी रामका तो राजा वचनभङ्गकी भी चिन्ता नहीं करेंगे।'

'मन्थरा ! तू सुन्दरी है, यह तो मैं जानती थी; किन्तु तू इतनी बुद्धिमती है, यह मुझे आज ज्ञात हुआ।' महारानी कैकेयीने कण्ठहार उतारकर मन्थराके कण्ठमें स्वयं डाला—'यह तो तू अभी ले। भरत राजा हो गये तो तुझे बहुतसे

ग्राम दिला दूंगी। दासियाँ तुम्हारी चरण सेवा किया करेंगी। तुम बहुत दूर-दर्शिनी हो।'

'महारानी ! अब उठो।' मन्थराने कहा—'केवल बात बनानेसे काम नहीं होगा। सब आभूषण उतार दो और मलिन वस्त्र धारण करके कोप भवन चली जाओ। राजा रात्रिके प्रथम प्रहरमें अवश्य आवेंगे। वे बहुत चाटुकारी करेंगे। यदि उनकी बातोंमें आगयीं तो विपत्तिके समुद्रमें डूब जाओगी। स्मरण रखो कि केवल आजकी ही रात्रि हाथमें है। आज या कभी नहीं। अतः जब तक राजा अपने परम प्रिय पुत्र रामकी शपथ न कर लें, भूलकर भी वरदान मत माँगना। रामकी शपथ कर लेंगे तब वचन भङ्ग करना राजाके लिए अशक्य हो जायगा।'

'तू विश्वास रख !' महारानी कैकेयीने कहा—'अब या तो तू मुझको मृत देखेगी अथवा सफल पावेगी।'

'महारानी ! सावधान रहना। राम तपस्वी वेशमें, राज्य भोगोंसे उदासीन वृत्ति अपनाकर वनमें रहें, यह माँगना।' मन्थराने सतर्क किया—'अन्यथा तुम्हारे दोनों वरदान व्यर्थ हो जायँगे। राजा पूरा राजकोष और सेना रामके साथ भेज दें तो भरत कोष तथा सैन्य रहित अयोध्या लेकर क्या करेंगे ?'

'धन्य मन्थरा ! तेरी बुद्धि किसी सम्राटके महामन्त्रीकी बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है।' महारानीने दासी मन्थराकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्हें सचमुच आश्चर्य था कि उनकी यह कूबड़ी दासी इतनी चतुरा है। उन्होंने फिर वचन दिया—'भरतके राजा होनेपर मैं तुझे राजरानीकी सुविधा, सम्मान और राजभवनकी प्रधान संरक्षिकाका पद दिला दूंगी। भरत राजमाताके समान तेरा सम्मान करेंगे।'

'महारानी ! ध्यान रखना कि सपत्नीके षड्यन्त्रको सर्वथा निर्मूल कर देना है।' मन्थराने फिर सावधान किया—'राजा बहुत रोवेंगे, बहुत गिड़गिड़ायेंगे। दूसरोंका, तुम्हारी सखियोंका, गुरुजनोंका, सम्भव है महर्षिका, ऋषि पत्नीका भी बहुत दबाव पड़े तुमपर। तुम तनिक भी झुक गयीं, थोड़ी भी सुविधा देना तुमने यदि स्वीकार कर लिया तो तुम्हारा पूरा प्रयत्न निष्फल हो जायगा। प्रजा रामको अभी बहुत चाहती है। धीरे-धीरे लोग रामको भूलेंगे और भरतका सम्मान करना सीखेंगे। अतः तुम अपने वरदानपर दृढ़ रहना। किसीकी अनुनय या भर्त्सनापर ध्यान मत देना। किसीका—राजाका भी विश्वास मत करना।'

मन्त्रणा देकर रात्रिके आरम्भमें मन्थरा अपने कक्षमें चली गयी और महा-रानी कैकेयीने वस्त्राभरण उतार फेंके। एक जीर्ण, मलिन साड़ी लपेटकर कोप भवनमें जाकर भूमिपर लेट रहीं।

विषम वरदान

अत्यन्त उल्लासमें भरे श्रीचक्रवर्ती महाराज रात्रिका द्वितीय प्रहर प्रारम्भ होनेसे पूर्व ही महारानी कैकेयीके भवनमें पहुँचे। आज दिन भर महाराज व्यस्त रहे थे। आज उन्होंने भी उपवास किया था। पूरे दिन और रात्रिके प्रथम पहर तक प्रायः राजसभामें ही रहे थे। व्यवस्था तथा दानमें दिन कैसे व्यतीत होगया, पता नहीं लगा। प्रतिदिनसे कुछ पूर्व ही महाराज राजसभासे उठे। महामन्त्री कैकेयीके द्वारपर उतारकर रथ लौटा ले गये।

महाराजकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि रानी कैकेयीको अचानक श्रीराम-के अभिषेकका समाचार देकर आनन्दित कर दिया जाय। महाराजको आशा थी कि यह समाचार पाकर रानी अत्यन्त आह्लादमें आवेंगी; किन्तु निष्ठुर नियति कहाँ इस प्रकार किसीकी आशा पूर्ण होने देती है। प्रतिदिनके समान आज प्रसन्न वदन, शृङ्गार किये महारानी पतिके स्वागतार्थ द्वारपर उपस्थित नहीं थीं। भवनमें भी सेविकाएं मौन-उदासीन मिलीं। महारानी कैकेयीका भवन पहिलीबार महाराजको इस प्रकार नीरव, सुनसानप्राय मिला था। किसी अनिष्टकी आशङ्का-से चित्त व्याकुल होने लगा। एक सेविकासे महाराजने पूछा—'तुम्हारी स्वामिनी नहीं दृष्टि पड़ती हैं। कहाँ हैं वे ?'

'कोपभवनमें !' सेविकाने मस्तक झुकाकर संक्षिप्त उत्तर दिया।

राजकुलकी परम्पराके अनुसार अयोध्याके राजसदनमें भी कोपभवन था। यह इसलिए होता था कि अन्तःपुरकी सदस्याएँ किसी कारण रुष्ट होनेपर वहाँ चली जायँ। राजाको वहाँ एकान्तमें उन्हें अनुनय करके मना लेनेकी सुविधा थी। सेवक-सेविकाओंके सम्मुख किसी रानीकी न झिड़की सुननेका भय था, न किसीको मनानेका प्रयोजन। लेकिन महाराज दशरथके अब तकके जीवनमें कोपभवन किसीको जाना नहीं पड़ा था। यह प्रथम अवसर था जब महारानी कोपभवन पहुँची थीं। महाराजको यह सुनकर व्यथा हुई, आशंकासे भीत हृदय वे कोपभवन पहुँचे।

दीर्घकालसे जिसका उपयोग नहीं हुआ था, वह भवन कैसा होगा, आप सोच सकते हैं। रंग रहित भित्तियाँ, मकड़ियोंके जाले, धूलि भरा कक्ष। कोई सजावट नहीं। पूरे राजसदनसे भागकर जैसे उदासीनता, अस्वच्छता, अन्धकारने

वहीं शरण ले रखी थी। महारानी कैकेयी वहाँ थीं, अतः किसी सेविकाने एक दीपक वहाँ रख दिया था। महारानी वहाँ मलिन वस्त्र पहिने, अनाभरण, धूलिमें ही पड़ी थीं। पतिके आनेकी आहट पाकर वे सिकुड़कर द्वारकी ओर पीठ करके लेट गयी थीं और अपना मुख हाथोंसे ढक लिया था।

'महारानी!' श्रीचक्रवर्ती महाराज वहीं, उस धूलि भरी भूमिपर ही बैठ गये; किन्तु कैकेयीको जैसे पतिका करस्पर्श आज असह्य हो रहा था। वे बार बार महाराजका हाथ हटा रही थीं और सुबकने लगी थीं। महाराज अत्यन्त कातर हो रहे थे—'महारानी! तुम्हें कोई व्याधि है? कहीं पीड़ा है शरीरमें तो चिकित्सक सुरवैद्य भी बुला दे सकता हूँ। किसीने तुम्हें कुछ कहा है अथवा तुम्हारे आदेशकी अवज्ञा की है? यदि वह ब्राह्मण और भगवद्भक्त नहीं है तो तुम्हारा कोपभाजन देवता हो तो भी उसे दण्ड भोगना पड़ेगा।'

कैकेयी सिकुड़ी जा रही थीं। महाराजसे दूर हटना चाहती थीं। अपना मुख छिपाये रोती जा रही थीं। महाराज अनुनय कर रहे थे—'तुम जानती हो कि तुम मेरी हृदय-वल्लभा हो। तुम्हें इस भवनमें, इस वेशमें क्यों आना चाहिए? तुम तो संकेत कर देतीं, तभी तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो जाती। कभी मैंने तुम्हारी इच्छा पूर्ण करनेमें तनिक भी विलम्ब किया है? तुम्हारे परमसुन्दर शरीरपर यह वस्त्र देखकर मेरा हृदय फटा जाता है। यह भूमि-शयन, यह अनाभरण देह और आजके इस मङ्गल अवसरपर? इस अमङ्गल वेशका अविलम्ब त्याग करदो और उत्तम वस्त्र पहिनो। आभूषण तथा अङ्गराग धारण करो। उठो महारानी! मैं तुम्हारा अनुगत हूँ। उठकर एक बार हँसकर मेरी ओर देखो और केवल सूचित कर दो कि तुम्हें क्या चाहिए?'

'महाराज!' कैकेयी सहसा उठकर पतिसे तनिक दूर हटकर बैठ गयीं–'जब पति नारीकी उपेक्षा कर दे तो नारीके जीवनका प्रयोजन?'

'किसने कहा कि मैंने तुम्हारी उपेक्षा कर दी है?' महाराज कातर होकर बोले—'यह धूलि-सना तुम्हारा अङ्ग मुझसे देखा नहीं जाता है। तुमको क्या कष्ट है। किसने क्या कह दिया तुम्हें? मेरे किस व्यवहारमें तुम्हें अपनी उपेक्षा दीख पड़ी? उठो! अच्छे वस्त्रालङ्कार धारण करो। बतलाओ कि तुम्हारी व्यथाका क्या कारण है? तुम्हें कोई व्याधि है?'

'मुझे कोई व्याधि नहीं है। किसीने मुझे कुछ नहीं कहा है।' महाराजके हाथको रोककर तनिक और दूर खिसककर कैकेयीने कहा—'सुना कि आज आप सबको मुँहमाँगा दान कर रहे हैं और मुझ हटभागाको आपने स्वयं दो वरदान

देनेको कहा था। मैंने असुरोंसे युद्ध करते समय आपकी रक्षा अपना जीवन सङ्कटमें डालकर की थी, तब आपने वरदान माँगनेको कहा था; किन्तु कभी भूलकर भी आपने पूछा कि 'कैकेयी ! तुझे क्या चाहिए उन वरदानोंके रूपमें ?'

'महारानी ! तुमने ही कहा था कि तुम्हारा मन होगा तब माँग लोगी और तुमने कभी स्मरण नहीं दिलाया।' महाराज आश्वस्त होगये थे—'तुम इसीलिए रुष्ट हो ?'

'महाराज ! मैं रूठकर यहाँ नहीं आयी हूँ। मैं यहाँ आयी हूँ प्राण देने।' कैकेयीने कठोर स्वरमें कहा—'आप कह दीजिये कि मुझे कोई वरदान नहीं मिलेगा, मैं अभी आपके चरणोंमें देह त्याग करती हूँ।'

'तुम ऐसी बात क्यों करती हो महारानी ?' महाराजने कैकेयीका कर पकड़ा क्योंकि वह अपनी उसी मैली साड़ीका छोर अपने कण्ठमें लपेटने लगी थी—'मैं सत्यकी शपथ करके कहता हूँ कि तुम अपने वे दो वरदान और दो अधिक माँगलो ! जो तुम माँगना चाहो, माँगो। दशरथ उसे अभी पूरा करेगा।'

'महाराज ! मैं केवल दो वरदान चाहती हूँ।' कैकेयीने कहा—'लेकिन फिर कहती हूँ कि यदि आप आज मुझे मेरे वरदान नहीं देंगे तो मैं अवश्य यहीं आपके सम्मुख प्राण त्याग कर दूँगी।'

'महारानी ! अपने प्राणोंसे भी प्रिय रामचन्द्रकी शपथ करता हूँ।' महाराज ने कैकेयीको समीप कर लिया, उसके शरीरपर हाथ घुमाते बोले—'तुम जानती हो कि मैं श्रीरामको देखे बिना दो घड़ी भी नहीं रह पाता। वे मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। मैंने उनकी शपथ की है, मैं अपना सर्वस्व, अपना जीवन भी तुमको देकर प्रसन्न करना चाहता हूँ तुम्हें।'

'आप दीर्घजीवी हों !' प्रसन्न स्वरमें कैकेयीने फिर कहा—'आप सचमुच, मैं जो चाहती हूँ, मुझे देंगे ?'

'देवि ! श्रीरामकी शपथ ! अब इससे भी बड़ी कोई शपथ है मेरे लिए ?' महाराज चकित कैकेयीकी ओर देख रहे थे। अन्ततः उनकी यह प्रेयसी ऐसा क्या माँगना चाहती है कि इतना हठ कर रही है ? उन्होंने फिर कहा—'तुम चाहे जो माँगो, मैं दूँगा—अवश्य दूँगा।'

'सब देवता, इन्द्र-वरुणादि सब दिकपाल और लोकपाल, सब उद्भव, स्थिति और प्रलयके अधीश्वर सुन लें ! सब साक्षी रहें !' कैकेयीने कहा—'अयोध्याके

सम्राट, इक्ष्वाकुवंशावतंस, श्रीचक्रवर्ती महाराज मुझे वरदान देनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं। महाराज ! मैं फिर स्मरण दिलाती हूँ कि मैंने युद्धभूमिमें रात्रिमें जाग-जागकर आपकी रक्षा की है, तब आपने मुझे दो वर देनेको कहा है। यदि आप आज मुझे मेरे माँगे वरदान नहीं देते, मैं अवश्य प्राण-त्याग दूँगी।'

'देवि ! मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ।' महाराज कैकेयीकी बातोंसे बहुत चकित थे। उन्होंने कहा—'मैं तुम्हारे वरदान सुननेको उत्सुक हूँ; किन्तु यह वेश त्याग करो और इस सदनसे चलो।'

'जैसी महाराजकी आज्ञा !' अब कैकेयीने स्मित पूर्वक कटाक्षपात किया और उठ खड़ी हुई। वह महाराजके आगे आगे अपने भवनमें आयी। दासियाँ ऐसे अवसरपर शीघ्रतापूर्वक महारानीको स्नान कराके वस्त्रालङ्कार तथा अङ्गराग भूषित कर देना चाहिए, यह जानती थीं। बहुत थोड़ा समय लगा कैकेयीको महाराजके सम्मुख उपस्थित होनेमें। उसने अल्प शृङ्गार किया था; किन्तु बहुत कलात्मक, बहुत आकर्षक—उद्दीपक कहना अधिक उपयुक्त है।

श्रीचक्रवर्ती महाराज निश्चिन्त थे। उनको ऐसा कुछ नहीं लगता था जो वे महारानीको न दे सकते हों। देवराज इन्द्र उनके मित्र हैं। महारानी कुछ मानवके लिए अशक्य भी माँगेंगी तो सन्देश पाकर सुरेन्द्र उसे सम्पन्न कर देंगे। महाराजको यह अवश्य लगता था कि महारानीको कहींसे कल श्रीरामके अभिषेकका समाचार मिल गया है। महाराज सोचने लगे थे कि श्रीरामके लिए ही कुछ दुर्लभ उपहार देनेकी महारानीकी यह सब प्रस्तुति है। जैसे ही शृङ्गारसज्ज महारानी सम्मुख आयीं, महाराजने उल्लास भरे स्वरमें कहा—'तुम्हारे मनका भाव मैं समझता हूँ। इसमें रूठनेकी भला क्या बात थी ? मैं तुम्हारे वरदान माँगे बिना ही श्रीरामको कल युवराज पदपर अभिषिक्त करने जारहा हूँ। अब इस उपलक्षमें भी जो माँगना हो, वह माँगलो !'

महाराजकी वाणी वाणके समान लगी कैकेयीके हृदयमें; किन्तु उसने अपनेको सम्हाल लिया। स्मित, कटाक्ष करती महाराजके समीप आगयी। पतिसे लगभग सटकर उनके वामपार्श्वमें शैय्यापर बैठकर उसने कहा—'महाराज ! मेरा पहिला वरदान यह कि जो सामग्री, जो प्रस्तुति आपने रामके अभिषेकके लिए की है, उसीसे भरतका अभिषेक कर दें !'

श्रीचक्रवर्ती महाराजके हृदयको आघात लगा। उनकी अभिलाषा, उनका सब प्रयत्न नष्ट हो गया; किन्तु उन्होंने अपनेको सम्हाल लिया। उन्हें अब भी

यही लगा कि महारानी उनकी परीक्षा लेनेके लिए परिहास कर रही हैं। उन्होंने कैकेयीके मुखकी ओर हँसते हुए ही देखा।

'मेरा दूसरा वरदान' कैकेयी उसी स्वरमें कह गयी। वह महाराजको बोलनेका अवसर नहीं देना चाहती थी—'मेरा दूसरा वरदान यह कि प्रातःकाल कल ही राम तपस्वीका वेश धारण करके जटा, चीर, वल्कल, मृगचर्मधारी रहकर वनमें चले जायँ और चौदह वर्ष वनमें भोगों तथा शासनसे उदासीन होकर मुनि-वृत्ति पूर्वक रहें। चौदह वर्षके पश्चात् वे चाहें तो अयोध्या लौट सकते हैं अथवा वनमें ही रह सकते हैं।'

'यह क्या ? महारानी ! कृपा करके ऐसा निष्ठुर परिहास मत करो !' महाराज अत्यन्त कातर कण्ठसे लगभग चीत्कार करते बोले—'मैं परिहासमें भी ऐसी बात सुननेमें असमर्थ हूँ।'

'परिहास कैसा ?' कैकेयीका स्वर कठोर हो गया—'यदि मेरा वरदान पुरा नहीं होता तो मैं विष खाकर अथवा कण्ठमें पाश बाँधकर अवश्य प्राण-त्याग दूँगी।'

महाराजको मूर्च्छा आगयी। वे शैय्यासे भूमिपर गिर पड़ते; किन्तु कैकेयीने उन्हें सम्हाला और जो कैकेयी महाराजकी अतिशय प्रिया थी, वही इन क्षणोंमें ही इतनी अप्रिय हो चुकी थी कि उसका स्पर्श मूर्च्छामें भी असह्य हो गया। उसके स्पर्शसे ही मूर्च्छा दूर हुई और महाराज चौंक कर कैकेयीसे दूर हटकर बैठ गये।

'मैंने, श्रीरामने अथवा राममाताने तेरा कोई अपराध किया है ?' महा-राजने आग्नेय नेत्रोंसे कैकेयीकी ओर देखते हुए कठोर स्वरमें भर्त्संना की—'तू मानवी है या सर्पिणी ? पिशाची ? मैं तेरी बात मानलूं तो लोगोंको कैसे मुख दिखा सकूँगा ? तुम कहती ही हो तो मैं कौसल्या तथा सुमित्राका त्याग कर दूंगा। वे अपने पितृगृह रहेंगी; किन्तु मैं रामके बिना जीवित नहीं रह सकता। तू पापिष्ठा है, बड़ा पाप किया है तूने। भरत राज्य कदापि नहीं लेंगे। तू अपना विनाश मत कर !'

'अच्छा, ऐसा ही सही—भरत राजा हों।' महाराजने देखा कि कैकेयी तनी बैठी है, वह उन्हें जलते नेत्रोंसे घूर रही है तो स्वरको विनम्र बनाया—'प्रातःकाल ही मैं चर भेजकर भरतको बुलाता हूँ। आनेपर उत्तम मुहूर्तमें उनका अभिषेक कर दूंगा। किन्तु रामका त्याग मत करो ! तुमने तो सदा रामकी प्रशंसा की है।

तुम्हें राम सदा बहुत प्रिय रहे हैं। अब रामने तुम्हारा कुछ अहित किया है ? तुम्हीं कहती थीं कि राम किसीका अहित कर ही नहीं सकते, अब माताका अहित वे कमल लोचन कैसे करेंगे ? रामके प्रति तो किसीने कभी कोई कलङ्ककी चर्चा नहीं की। राममें सत्य, दान, तप, गुरुजनोंकी सेवा प्रभृति सद्‌गुण सदा निवास करते हैं। उनमें तुमने कोई दोष देखा है ?'

'राम, राम, राम, रामकी बार बार प्रशंसा।' कैकयीको आज यह प्रशंसा असह्य हो उठी थी; किन्तु वह मौन बनी रही। उसकी तटस्थता, कठोर मुद्रा देखकर महाराजने हाथ जोड़ लिये और अत्यन्त दीनवाणीसे बोले—'मैं ऐसी कठोर बात रामसे कैसे कहूँगा ? राममें सब सद्‌गुण हैं। रामका चन्द्रमुख देखे बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। मुझपर दया करो ! मैं दीन-हीन होकर तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ। मुझपर करुणा करो ! तुम्हारे चरण स्पर्श करता…………!'

कैकेयी दूर हटकर कठोर स्वरमें बोली–'तुम मुझे वरदान देकर अस्वीकार कर दोगे और लोगोंको मुख दिखला सकोगे ? शिवि, रन्तिदेव जैसे नरेशोंकी परम्पराके नरेश कहलाते हो। धर्मकी, सत्यकी शपथ की है तुमने—हरिश्चन्द्रके वंशज हो ? तुम रामको राज्य देकर कौसल्याके साथ विहार करना चाहते हो ? सुनलो भली प्रकार—उचित हो या अनुचित, धर्म हो या अधर्म, मैं भरतकी शपथ करके कहती हूँ कि मेरी बात अटल है, जिस कैकेयीने तुम्हें जीवन दिया, उसे वर देकर अब अस्वीकार करते हो ?'

'तू अब वही जीवन छीन लेनेपर उतारू है, तू विधवा होगी। राम वनमें गये तो मैं जीवित रह नहीं सकता। हाय ! अब मैं कभी सुखी नहीं हो सकता।' महाराजको मूर्च्छा आगयी, वे पृथ्वीपर गिर पड़े; किन्तु इस बार रानीने उन्हें सम्हाला भी नहीं।

'तेरा वर तेरे लिए ही अमङ्गल है।' मूर्च्छा दूर होनेपर महाराजने फिर प्रार्थना की—'राम तेरा कोई अहित नहीं करेंगे। तू उन्हें राजसदनमें नहीं देखना चाहती तो गुरुगृहमें रहने दे। राम वनमें गये तो मैं मर जाऊँगा। तब तू विधवा बनकर भरतके राज्यमें सुखी होगी ?'

कैकेयी उठ खड़ी हुई—'मैं शपथ पूर्वक—भरतकी शपथ पूर्वक कहती हूँ कि यदि तुम वचन भङ्ग करोगे तो कल मैं अवश्य प्राण त्याग कर दूंगी।'

किसी प्रकार महाराजने कैकयीको बैठाया; किन्तु वह आज निष्ठुरताकी मूर्ति बन चुकी थी। महाराजका रक्तहीन श्वेत मुख, रुदन-क्रन्दन आज उसे केवल अपनेको ठगनेका प्रयत्न जान पड़ता था। वह जैसे पाषाणी बधिरा बन गयी थी।

श्रीरामने स्वीकार किया

'आज अब तक महाराज क्यों नहीं उठे ?' यह ठीक है कि कल श्रीचक्रवर्ती महाराजको बहुत श्रम करना पड़ा। उत्साहमें वे स्वयं लगे रहे; किन्तु इतना विलम्ब ? राजसदनके मध्यकक्षमें मन्त्रीगण, प्रजाके प्रधान, नगरके प्रमुख,सेनापति आगये और विप्रवर्ग आगया। लोग एकत्र होते गये। लोगोंको महाराजके अब तक उपस्थित न होनेके कारण आकुलता बढ़ती गयी।

'श्रीमहाराजाधिराज स्वस्थ तो हैं ?' आशङ्का उठने लगी—कभी ऐसा नहीं हुआ कि रात्रिके चतुर्थ प्रहरके प्रारम्भमें मागधोंके यशोगानके साथ ही महाराजके उठनेकी सूचना न मिली हो और अपने कोविदार-ध्वज रथपर वे सरयू-स्नान करने जाते नागरिकोंको दर्शन न देते गये हों। वर्षा, आँधीके दुर्दिनमें भी ब्राह्ममुहूर्तके आरम्भमें उठनेके अभ्यासी महाराज अब तक आज क्यों नहीं उठे ?'

'रात्रिमें राजसदनसे कोई चर महाभिषकके समीप नहीं गया था।' राजभवनके प्रबन्धक आगतोंका समाधान ही कर सकते थे—'कोई विशेष घटना राजसदनमें रात्रिमें ऐसी नहीं हुई कि अन्तःपुरकी सेविकाओंमें कोई मुझे कुछ सन्देश देती।'

'सुमन्त्र ! महाराजके समीप जाओ।' नित्यकृत्य आज सभीको संक्षिप्त करने थे। कुलगुरुकी सेवामें सायंकाल ही रथ भेजा गया था। महर्षि वशिष्ठ पधारे। उन्होंने लोगोंकी प्रणति स्वीकार की। राज्याभिषेककी सामग्री देखी और महामन्त्री सुमन्त्रको आदेश दिया—'महाराजको जागृत करके कहो कि वशिष्ठ द्वारपर आगये हैं। सब विप्रगण आचुके हैं। सर्व लक्षण युक्त आठ ब्राह्मण कुमारियाँ आगयी हैं। उदुम्बर काष्ठका भद्रपीठ आचुका है। स्वर्णकलशोंमें गङ्गा जल, समस्त समुद्रोंका जल, तीर्थ जल तथा दूसरी सब आवश्यक सामग्री प्रस्तुत है। महाराज शीघ्रता करें। अभिषेकके लिए निर्धारित पुष्य नक्षत्र आने ही वाला है।'

राजभवनमें सर्वत्र—अन्तःपुरोंमें भी श्रीचक्रवर्ती महाराजके महामन्त्री, सारथी, अन्तरङ्ग सखा सुमन्त्रका अबाध प्रवेश था। केवल विशेष स्थितिमें अन्तःपुरकी सेविकाएँ महामन्त्रीको सङ्केत दे सकती थीं प्रवेशके अनवसरका; किन्तु उन्हें

वारित तब भी नहीं किया जासकता था। जिसपर सम्पूर्ण प्रजाका दायित्व है, उसे नरेशके समीप जानेसे किसी भी समय रोका कैसे जा सकता है। आज किसी सेविकाने उन्हें कोई सङ्केत नहीं दिया। द्वाररक्षिकाओंने केवल इङ्गित किया कि महाराजाधिराज किस ओर किस कक्षमें हैं।

'सूर्यवंशावतंस श्रीचक्रवर्ती महाराजकी जय हो !' सदाकी भाँति सुमन्त्रने कक्षके द्वारपर पहुँचकर जयध्वनि की। महाराज जब महारानीके साथ एकान्त कक्षमें हैं, कोई सेविका भीतर नहीं है तो राजदम्पतिको भीतर प्रवेशसे पूर्व सावधान करके दो क्षण तो दिये जाने चाहिए।

'महाराजाधिराज शैय्या-त्याग करें। आपका सेवक सुमन्त्र आया है।' यह दूसरी सूचना इसलिए कि महाराज और महारानीको भी यह ज्ञात हो जाय कि महामन्त्री आवश्यक कार्यसे आये हैं और अब कक्षमें प्रवेश करने ही वाले हैं।

सुमन्त्रकी जयध्वनि सुनकर महाराज ऐसे व्याकुल हुए कि मूर्च्छित हो गये। सुमन्त्रने कक्षमें प्रवेश करते ही जो देखा, चौंक गये। शैय्या रिक्त पड़ी थी। महाराज भूमिपर पड़े थे और महारानी कैकेयी पतिसे थोड़ी दूर भूमिपर ही बैठी थीं। उनके मुखपर अब भी रोष—क्षोभके चिह्न थे। महामन्त्रीने मस्तक झुकाकर महाराज तथा महारानीको भी प्रणाम किया। इतने अल्प क्षणमें ही उन्होंने पूरे कक्षको देख लिया। उनकी अनुभवी दृष्टि—उन्हें लग गया कि महारानीने कोई अकथ्य कहकर महाराजको बहुत दुःखी किया है।

'महाराजको रात्रिमें निद्रा नहीं आई है।' जैसे ही अभिवादनमें झुका सिर सुमन्त्रने उठाया, कैकेयीने कहा—'आज रामके राज्याभिषेकका दिन है, तुम अविलम्ब जाकर यशस्वी राजपुत्र रामको ले आओ।'

'श्रीराम नहीं, रामभद्र नहीं, मेरे राम नहीं, राजपुत्र राम ?' कैकेयीने बहुत प्रयत्न किया था कि उसका स्वर शान्त गम्भीर बना रहे। उसके स्वरमें क्षोभ या व्यंग न प्रकट हो; किन्तु महामन्त्रीको सशङ्क करनेके लिए शब्द ही पर्याप्त थे। उन्होंने महारानीकी ओर ऐसे देखा जैसे स्पष्टीकरण चाहते हों।

'कुछ मत पूछो ! जो कहा गया है, उसे राजाज्ञा मानकर पालन करो।' महारानीने पहिली बार सुमन्त्रसे ऐसा रूक्ष व्यवहार किया था। सुमन्त्र स्थितिकी गम्भीरता समझ चुके थे। मस्तक झुकाकर कक्षसे बाहर होगये।

'मैं श्रीरामभद्रसे क्या कहूँ ?' महामन्त्री पुनः कक्षमें लौट आये। उन्होंने महारानीसे पूछा।

'महाराज श्रीरामको देखना चाहते हैं इसी समय।' कैकेयीने कुछ कठोर स्वरमें ही उत्तर दिया। महाराजकी मूर्च्छा दूर होगयी है और उनका भी सङ्केत है, यह सुमन्त्रने देख लिया, अतः कक्षसे बाहर होगये।

नवमीमें पुष्य नक्षत्र आनेपर राज्याभिषेक होना था। महर्षि वशिष्ठ यद्यपि सुमन्त्रको अन्तःपुरमें भेजकर आवश्यक व्यवस्थामें लग गये थे; किन्तु द्वार-पर सुमन्त्रको मन्त्री, प्रजाप्रतिनिधि, सेनापति, ब्राह्मण, नगरके वृद्ध जन मिले। सुमन्त्रने एक दृष्टि राज्याभिषेककी महती प्रस्तुतिपर डाली। सभी लोग श्रीचक्रवर्ती महाराजके न आनेसे व्याकुल हो रहे थे। सुमन्त्रने केवल इतना कहा—'आप सभी पूज्य हैं। मैं राजाज्ञासे श्रीरामको लेने जा रहा हूँ। अभी क्षमा करें, पीछे कह सकूँगा कि क्या बात है। अभी मुझे भी कुछ ज्ञात नहीं है।'

श्रीरामके द्वारपर सुमन्त्रको बहुत भीड़ मिली। उन्होंने सेवकके द्वारा अपने उपस्थित होनेका समाचार भेजा। महामन्त्रीको तत्काल बुला लिया गया। सुमन्त्रने देखा कि स्वर्ण सिंहासनपर लाल आस्तरण पड़ा है और उसपर श्रीराम विराजमान हैं। महामन्त्रीका सङ्कोच करके श्रीजनक-नन्दिनी सिंहासनसे उतरकर एक ओर खड़ी होगयी हैं।

'महादेवी कौसल्या दीर्घकाल तक सुपुत्रा रहें!' महामन्त्रीने श्रीरामको अभिवादन करते देखकर आशीर्वाद देते हुए कहा—'श्रीचक्रवर्ती महाराज आपको महारानी कैकेयीके भवनमें देखना चाहते हैं।'

'देवि! लगता है कि माता-पिता अभिषेकसे पूर्व मुझे कोई आदेश देना चाहते हैं।' श्रीरामने श्रीविदेह-नन्दिनीसे कहा—'मैं वहाँ जा रहा हूँ। तुम अपने परिकरके साथ प्रसन्नता पूर्वक कुछ काल प्रतीक्षा करो।'

श्रीजानकी द्वार तक साथ आयीं। सुमन्त्रने उनसे कहा—'आप अब मुझे अनुमति दें!'

भवनका मध्यम कक्ष लोगोंसे भरा था। लक्ष्मण वहाँ उपस्थित लोगोंका सत्कार करने में लगे थे। श्रीरामको बाहर जाते देखकर उन्होंने छत्र तथा चामर उठा लिया। मध्यम कक्षमें उपस्थित लोग तो साथ हो ही गये। द्वारपर जो लोग थे, वे भी साथ हो गये। भवनके द्वारपर श्रीराम महामन्त्रीके साथ रथारूढ़ हुए; किन्तु मार्ग लोगोंसे भरा था। रथको बहुत मन्द गतिसे चलना था। मार्गमें लोग जयध्वनि करते पुष्प-वर्षा कर रहे थे। ब्राह्मण आशीर्वाद दे रहे थे, स्वस्ति पाठ कर रहे थे। वृद्ध जन आशीर्वाद दे रहे थे। भवनोंके ऊपरसे रथपर लाजाकी वर्षा हो रही थी।

महारानी कैकेयीके द्वारपर श्रीरामने रथ छोड़ा। साथकी भीड़के लोगोंमें थोड़े ही मध्यम कक्ष तक जासके; क्योंकि मध्यम कक्ष पहिलेसे लोगोंसे भरा था। महामन्त्रीके साथ श्रीरामने पिताके अन्तःपुरमें प्रवेश किया तो केवल लक्ष्मण साथ गये। एक क्षण तो वे कमल लोचन पिताको विवर्ण देखकर स्तब्ध रह गये। उन्होंने पिता तथा कैकेयीके भी दोनों चरण स्पर्श किये।

महाराज मूर्च्छित थे। अपने चक्रवर्ती पिताको श्रीरामने जीवनमें प्रथम बार शोकार्त देखा था। इससे उन्हें बहुत व्यथा हुई। नम्रता पूर्वक कैकेयीसे बोले—'मातः, आज मुझे देखकर पितृचरण क्यों दुःखी हैं ? मैंने ऐसा क्या अपराध किया है कि पिताजी मुझसे अप्रसन्न होकर बोलते नहीं हैं ? पिताजीको कोई आघात लगा है ? किसीने मेरा कोई दोष सुनाया है इनको ? कहीं आपने तो कुछ ऐसा नहीं कह दिया कि पिताजी इतने दुःखित हैं ?'

'वत्स रामभद्र !' कैकेयीने कृत्रिम स्नेह दिखलाते कहा—'तुममें दोषकी बात तो सोची ही नहीं जा सकती। तुमसे अनजानमें भी अपराध सम्भव नहीं है। तुम्हारे पिताको कोई व्याधि अथवा कष्ट नहीं है। तुम पितृभक्त हो, महाराजको तुम्हारा सङ्कोच पीड़ित कर रहा है। मुझे पहिले सत्यकी, धर्मकी शपथ करके महाराजने दो वरदान देनेको कहा था, आज मैंने जो मुझे अच्छा लगा, माँगा। महाराज सत्यका त्याग भी नहीं कर पाते और सङ्कोच वश तुमसे कुछ कह भी नहीं पाते। यदि तुम स्वीकार करो कि बात शुभ हो या अशुभ, तुम उसका पालन करोगे, तो मैं सुनाऊँगी। तुम्हारे पिताको जो दुःख है, उसमें तुम्हारा सङ्कोच कारण है।'

'मुझे धिक्कार है कि मुझे ऐसी बात सुननी पड़ती है। अम्ब ! तुम्हारे रामने कभी तुम्हारी कोई आज्ञा टाली है ? आपको अपने रामपर अविश्वास क्यों हुआ मातः ?' पद्मदलायत लोचन भर आये। गम्भीर स्थिर स्वरसे श्रीराम कह रहे थे—'पिताकी आज्ञा हो या आपकी, मैं पालन करूँगा। पिताजी स्वयं न भी कहें तो भी मैं इनके सत्यकी रक्षाके लिए अयोध्याका, सीताका, भाइयोंका और प्राण तक का त्याग कर सकता हूँ। आप मुझे आज्ञा करें और विश्वास करें कि राम अविलम्ब आदेशका पालन करेगा।'

'तुम्हारे समान शीलवान सद्गुणी पितृभक्त पुत्रसे ऐसी ही आशा थी।' कैकेयीने फिर कृत्रिम प्रशंसा की और बतलाया—'मैंने महाराजसे वरदान माँगा कि वे भरतका राज्याभिषेक कर दें और तुम जटा, वल्कल, मृगचर्म धारण करके

चौदह वर्ष वनमें मुनिवृत्तिसे रहो। यदि तुम पिताको सत्य प्रतिज्ञ बनाना चाहते हो तो......... ।'

'अम्ब ! राम ऐसा बुद्धिहीन और अभागा नहीं है कि इतने कल्याणकारी आदेशकी अवज्ञा करदे ! मैं इसका पालन करूँगा—अवश्य करूँगा।' श्रीरामने कैकेयीके चरण स्पर्श किये—'अम्ब ! आपने तो मेरे लिए परम हितकर विधान किया है। आपने मुझे ही आदेश दे दिया होता। अब आप क्रोध मत करो। मुझपर प्रसन्न होकर आशीर्वाद दो। मुझे बहुत प्रसन्नता है कि मेरे अत्यन्त प्रिय भाई भरत राजा होंगे। बिना पिताकी आज्ञाके भी मैं भरतको राज्य, धन तथा प्राण भी दे सकता हूँ। इतनी तुच्छ बातके लिए पिताके नेत्रोंमें अश्रु क्यों ? आप दूत भेजो, भरत आवें और अयोध्याका पालन करें। मैं वन जारहा हूँ; लेकिन अब पिता क्यों मुझसे नहीं बोलते ? मुझसे कोई गुरुतर अपराध बना है ?'

'वत्स ! तुमसे अपराध बन ही नहीं सकता !' कैकेयीने फिर कपट स्नेह प्रकट किया—'तुम्हें वनमें रहना पड़ेगा, यही सोचकर महाराज दुःखी हैं। ये लज्जा ग्रस्त हैं और जब तक तुम वनमें चले नहीं जाते, तब तक ये स्नान-भोजन कुछ कर नहीं सकते। अतः वत्स ! तुम शीघ्रता करो।'

महाराज दशरथको तनिक संज्ञा आयी थी। श्रीरामको खींचकर अङ्कमें ले लिया था उन्होंने। उनके नेत्रोंकी अविरल अश्रुधारासे उनके सघन श्मश्रुकेश आर्द्र हो चुके थे। कैकेयीके अन्तिम शब्द श्रवणमें पड़े और वे तड़फड़ाकर मूर्च्छित होकर गिरे। श्रीरामने पिताको सम्हालकर उठाया। शैय्यापर लिटाया। अपने उत्तरीय-से पिताके नेत्र, कपोल, श्मश्रु पोंछे।

'माँ ! मैं न अर्थका दास हूँ और न अर्थलुब्ध लोगोंके समीप रहना मुझे प्रिय है।' मर्यादा पुरुषोत्तम अपना सहज स्वभाव बोल गये। अर्थ लोभी—मायाके भोगोंमें लगे काम एवं अर्थको पुरुषार्थ मानने वाले लोगोंको कहाँ इन परात्पर पुरुषके श्रीचरणोंकी छाया भी उपलब्ध होती है। श्रीरामने स्वीकार किया—'मैं अभी वन जाता हूँ। जननीसे विदा लेकर आपके और पिताजीके चरणोंमें प्रणाम करूँगा। मुझसे जो भी आपकी सेवा, आपका हित सम्भव होगा, करूँगा। आप अब अनुमति दें। केवल इतना अनुरोध कि भाई भरतको शीघ्र बुलाकर अभिषिक्त कर देना। वे राज्यका पालन तथा पिताकी सेवा करें।'

लक्ष्मण क्रोधसे काँप रहे थे; किन्तु उन्हें बोलनेका अवसर ही नहीं मिला। श्रीरामने मूर्च्छित पिता और कैकेयीका चरण स्पर्श किया। माता-पिताकी प्रदक्षिणा

की ओर कक्षसे निकलने लगे, तब लक्ष्मणको अग्रजके पीछे जाना अधिक आवश्यक प्रतीत हुआ। जैसे आग्नेय नेत्रोंसे वे कैकेयीको घूरते गये, उसे देखकर कैकेयीका हृदय भी बैठने लगा। उसे लगा कि लक्ष्मण उसकी सारी योजना ध्वस्त कर देंगे। जिस श्रीरामको वह निर्वासित कर रही थी, उन्हींके शीलका अब उसे भरोसा था। कैकेयी तो फिर भी माता थी, श्रीरामने अपनेपर भरोसा रखने वाले किसीको भी कहाँ कभी निराश किया है।

श्रीरामने सङ्केतसे ही मना कर दिया लक्ष्मणको छत्र-चामर उठानेसे। मध्यम कक्षमें गुरुजनोंको प्रणाम करके वे द्वारपर आये। वहाँ सुहृद वर्ग खड़ा था। महामन्त्री सुमन्त्रने रथ आगे किया तो श्रीरामने कहा—'तात ! राम अब वनवास स्वीकार कर चुका है। मुझे जननीके समीप पैदल ही जाना चाहिए।'

'क्या हुआ ?' सबमें जिज्ञासा थी। अब महामन्त्री सुमन्त्रको पूरा समाचार देकर सबको नवीन स्थितिसे परिचत कराना था। तीर्थोदक तथा अभिषेकके लिए प्रस्तुत मङ्गल द्रव्योंको दाहिने करके जब अनुजके साथ श्रीराम पैदल आगे बढ़े, महामन्त्री सुमन्त्रके पुत्र उनके साथ हो गये। लोग तो शोक, रोषसे जैसे उन्मत्त हो गये थे। वे कैकेयीको उच्चस्वरसे अपशब्द कहने लगे थे। अयोध्यामें समाचार दारुण विषाग्निके समान व्याप्त हो गया। तरुण ही नहीं; महासेनापति तकने कोषसे खड्ग निकाल लिया—'हम अब राजभक्त नहीं हैं। हम विद्रोह करेंगे ! हम देखेंगे कि श्रीरामका अभिषेक कौन रोकता है !'

लेकिन श्रीरामने यह कुछ नहीं सुना। वे जननीके सदन पैदल जारहे थे।

———

मातासे विदा

अत्यन्त दारुण है नियति-विधान। महारानी कौसल्याने श्रीरामके मङ्गलके लिए रात्रि-जागरण करके जप किया था। ब्राह्ममुहूर्तमें स्नान करके भगवान् नारायणका पूजन किया, हवन किया, दान करनेमें लगी थीं। उन्हें क्या पता था कि नियतिने कितना विषम समय उपस्थित किया है।

श्रीराम छत्र-चामरके बिना पैदल आये, यह देखकर महारानी कौसल्याके सदनके मध्यकक्षमें स्थित स्त्रियाँ क्रन्दन कर उठीं—'ये श्रीराम तो सदासे शान्त हैं। किसीका कभी तिरस्कार इन्होंने नहीं किया। कैकेयीका तो सदा आदर करते रहे हैं। श्रीचक्रवर्ती महाराजकी मति मारी गयी है जो ऐसे सद्गुणैकधाम पुत्र श्रीरामका त्याग कर रहे हैं।'

मध्यम कक्ष तक पहुँचा यह समाचार अभी तक महारानी कौसल्या तक नहीं पहुँचा था। श्रीरामने भीतर जाकर जननीको तथा वृद्धाओंको प्रणाम किया। महारानी कौसल्या पिछले दिनभरसे उपोषित थीं। उन्होंने पुत्रको हृदयसे लगाकर सिर सूँघा और आशीर्वाद दिया।

लक्ष्मण तथा मन्त्रिपुत्र साथ आये थे। दोनों पीछे खड़े रहे। लक्ष्मण अत्यन्त उत्तेजित थे। किसी प्रकार अपनेको रोके थे। उन्होंने दूरसे ही मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। श्रीरामके मुखपर सदाके समान मन्दस्मित था। वह नित्य प्रसन्न मुख देखकर जननीको कैसे किसी विपरीत स्थितिका अनुमान होता। उन्होंने अत्यन्त स्नेह पूर्वक कहा—'वत्स ! तुम्हारे अभिषेकका मुहूर्त कब है ? बहुत विलम्ब होगा उसमें। यदि कुछ समय हो तो फल-दधिसे प्रातराश कर लो, तब पिताके समीप जाना।'

'मातः ! मैं पितृचरणोंके समीपसे ही आया हूँ। पिताजीने मुझे चौदह वर्ष-के लिए वनका साम्राज्य दिया है।' श्रीरामने सङ्कोच पूर्वक कहा—'बड़ेको बड़ा दायित्व वहन करना चाहिए। अयोध्याका पालन भाई भरत करेंगे और मैं वनमें तपस्वियोंका पालन करते हुए उनका सत्संग करूँगा। आप मुझे प्रसन्न मन आशी-र्वाद दें।'

'तुम वन जारहे हो ?' जैसे हृदयपर वज्र पड़ा हो। माताका मुख श्वेत हो गया। नेत्र फटे-फटेसे हुए, शरीर काँपा और वे मूर्च्छित होकर गिरीं। श्रीरामने ही जननीको सम्हाला और उठाया।

'इससे अच्छा था कि कौसल्या वन्ध्या रहती !' चेतनामें आते ही माता क्रन्दन करने लगीं—'तुम्हारे जैसा पुत्र वन जारहा है, यह भी मुझे सुनना पड़ा। पतिके राज्यमें मुझे कोई सुख नहीं मिला था। मैंने तो तुम्हारे राज्यमें सुखाशा कर रखी थी और इस अल्प वयमें ही तुम वन जा रहे हो ? वनके कष्ट और तुम्हारा यह सुमन-सुकुमार अङ्ग !'

'वत्स ! पिताने तुम्हें वन जानेकी आज्ञा दी है; किन्तु मेरा भी तुमपर कुछ अधिकार है ? मेरी सेवा भी तुम्हारा धर्म है ?' माता पुनः मूर्च्छित होगयी थीं। सावधान होनेपर श्रीरामके मुखकी ओर देखते- उन्होंने आदेशके स्वरमें कहना प्रारम्भ किया—'मैं आज्ञा देती हूँ...........।'

'मातः !' श्रीरामने जननीके चरण पकड़ लिये—'मां ! तुम मुझे धर्म-सङ्कट-में मत डालो ! मुझे एक माताने और पिताने भी आज्ञा दी है। मैं पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करनेमें असमर्थ हूँ। तुम पतिव्रता हो, पतिके विरुद्ध कुछ नहीं कह सकती हो और मेरी छोटी माताके विपरीत आदेश देकर कुलमें द्वेष-बीजका वपन तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है। मैं तुम्हारे चरणोंपर मस्तक रखकर प्रार्थना करता हूँ—मुझे अनुमति दो ! मातः ! मैं अपनी शपथ देता हूँ, आप मेरा तिलक करके मुझे आशीर्वाद दो !'

'अच्छा वत्स ! तुम पिताकी आज्ञाका पालन करो ! तुम्हारा मङ्गल हो !' श्रीरामने अपनी शपथ दे दी तो जननीके समीप क्या उपाय रह गया ! उनका स्वर ऐसा होगया था जैसे कोई किसीको अपने वधकी अनुमति दे रहा हो–'किन्तु वत्स ! अब तुम वनमें पत्ते खाकर या दाने बीनकर आहार अर्जित करोगे ? भरत मेरे बहुत प्रिय पुत्र हैं, वे यहाँ भूपाल हों; किन्तु मैं तुम्हारे साथ चलूँगी। मैं अपने रामको छोड़ नहीं सकती।'

'माँ ! तुम क्या सोचती हो कि पिता अब भी मेरी छोटी माताकी कोई सेवा स्वीकार कर सकेंगे ? अथवा भाई भरत ही अयोध्या आकर यह विधान स्वीकार करके सुखी होंगे ?' अपने सहज मेघ गम्भीर स्वरमें श्रीराम कह रहे थे—'माँ ! तुम पिताको और भरतको भी भली प्रकार जानती हो ?' छोटी माँने पिताके प्रेम और विश्वासके साथ छल किया है। इस समय पिता अत्यन्त दुःखी हैं, असहाय

हैं। तुम पतिव्रता हो, इस असमयमें पिताको तुम धोखा मत दो। तुम इस समय पिताको कैसे त्याग सकती हो !'

'वत्स ! मुनिगण सत्य कहते हैं कि धर्म राममें ही निवास करता है।' जननीने रामको अङ्कमें बैठा लिया था। उनके नेत्रोंकी अश्रुधारा श्रीरामकी सघन, कुञ्चित, काली, स्निग्ध, कोमल अलकोंको सिञ्चित, कर रही थी--'तुम ठीक कहते हो।'

'माँ ! मेरा दृढ़ विश्वास है—तुम जानती हो कि तुम्हारे रामका विश्वास कभी भ्रान्त सिद्ध नहीं हुआ, भरत अत्यन्त धर्मात्मा हैं, वे आपकी सेवामें किञ्चित भी प्रमाद नहीं करेंगे। उन्हें भी तुम्हीं आश्वासन दे सकती हो।' श्रीरामने जननीसे अनुरोध किया—'पिताजीको आपकी सेवाकी जैसी आवश्यकता इस समय है, वैसी पहिले कभी नहीं हुई थी। तुम्हीं उनका जीवन बचा सकती हो। सबसे अधिक आपकी सेवाकी आवश्यकता है उन्हें इस समय और भरतको भी आपके स्नेहकी आवश्यकता होगी। भाव प्राण, कोमल हृदय भाई भरत अब अपनी जननीको कदाचित ही जननी कह सकें। वे यहाँ आकर अनाश्रित हो जायेंगे तुम्हारे बिना।'

'वत्स ! मैं तुम्हें रोक नहीं सकती और तुम ठीक कहते हो कि इस समय पतिका त्याग करके तुम्हारे साथ भी नहीं जा सकती।' श्रीरामकी जननीने अन्ततः आशीर्वाद दिया—'तुम शुद्ध मनसे जाओ। पिता, छोटी माता अथवा किसीके प्रति कोई दुर्भाव मनमें लेकर मत जाओ। जल्दी लौटना। अपनी इस भाग्य-हीना जननीको भूल मत जाना ! मुझे तो अब तुम्हारे लौटनेपर तुम्हारा यह कमल मुख देखकर ही शान्ति मिलेगी ! वहाँ वनमें सत्पुरुषोंका आचरण अपनाना !'

'हाय रे दैव ! मेरा सरोजवन पुष्पित ही होने जा रहा था और तूने उसपर उपलवर्षा कर दी !' माता क्रन्दन करने लगी श्रीरामको अङ्कसे लगाये-'कौसल्याके दारुण अन्धकार भरे जीवनमें कभी आलोककी कोई रश्मि आवेगी ?'

'माँ ! अपने रामको आशीर्वाद दो !' कमल लोचन श्रीरामके पद्मपलाश-लोचन भी आर्द्र हो रहे थे—'आपका आशीर्वाद रामकी वन-पर्वतादिमें सर्वत्र रक्षा करेगा। मैं पिताके आदेशका पालन करके इन चरणोंका अवश्य दर्शन करूँगा ! माँ ! स्वर्ण अग्नितप्त होकर अधिक उज्ज्वल होता है। आशीर्वाद दो कि राम अपनेको आपके योग्य पुत्र सिद्ध कर सके।'

'सब देवता, गन्धर्व, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सब दिशाएँ तुम्हारी रक्षा करें !'

जननीने भगवान् नारायणकी प्रसाद-माला श्रीरामके कण्ठमें डालकर आशीर्वाद दिया--'मेरे समस्त पुण्य तुम्हारी रक्षा करें !'

महारानी कौसल्याने उसी समय ब्राह्मणोंको बुलाकर बहुत अधिक दान किया। अपने भवनकी लगभग समस्त सामग्री उन्होंने दान कर दी-'जब मेरे राम ही अयोध्यामें नहीं रहते हैं तो यह सामग्री किसके लिए, किसके उपयोगके लिए यहाँ रहेगी ?'

माताके शोकका महासागर असीम था। वे श्रीरामको बार बार अङ्कमें लगाकर रुदन कर रही थीं। श्रीराम माताके हृदयसे नन्हें शिशुके समान लगे थे; किन्तु संकुचित हो रहे थे। उन्हें लग रहा था कि विलम्ब हो रहा है। शीघ्रता आवश्यक थी; लेकिन ऐसे अवसरपर माताकी उपेक्षा कैसे की जासकती थी।

अन्तःपुरकी सभी नारियाँ--दासियाँ तक रुदन कर रही थीं। कोई किसी कोनेमें और कोई कहीं मुख छिपाकर हिचकियाँ ले रही थी। अनेक मूच्छित थीं। किसीको अपनी ही सुधि-बुधि नहीं थी तो दूसरेको कौन सम्हाले, कौन उठाये, कौन आश्वासन दे।

श्रीरामकी धात्री--लेकिन किस किसका नाम लिया जाय। श्रीराम सबके हृदय धन, सबका मन-प्राण श्रीराममें लगा और वे श्रीराम वन जा रहे हैं ? पशुपक्षी तक ऐसे हो रहे थे जैसे मृत्यु-पीड़ाने उन्हें दबोच लिया हो। शोक, क्रन्दन, मूर्च्छा ! अन्तःपुरमें किसी ओर दृष्टि उठाकर देखने योग्य नहीं रह गया था और इसी दावानलमें तो पूरी अयोध्या दग्ध हो रही थी। वनमें जब दावाग्नि लगती है, ज्वाला, दाह, धूम्र तथा चीत्कारके अतिरिक्त क्या रहता है, आज श्रीरामके वन-गमन समाचारके दावानलमें पूरी अयोध्या धू-धू करके जल रही थी और दो चुल्लू जल भी डालनेवाला कोई नहीं था। ऐसी अवस्थामें श्रीराम-माता तथा उनके सदनकी दशा कोई कैसे वर्णन कर सकता है।

लक्ष्मणका रोष

'आर्य ! आप एकाकी नहीं हैं !' अब तक अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक लक्ष्मण अपने-को रोके थे। अब उनके लिए मौन रह जाना असह्य हो गया—'आप यह क्यों नहीं देखते कि समस्त प्रजा आपपर दृष्टि लगाये है। आप केवल अपनी ओर ही देखकर जो निर्णय कर रहे हैं, वह तुम्हें रुचता नहीं है। पिता वृद्ध हैं, स्त्रीजित हैं, अतः भ्रान्त हो रहे हैं। किसने कहा कि उन्मत्त व्यक्तिका आदेश पालनीय होता है ? वह कोई भी हो, यदि उसकी बुद्धि किसी आवेशमें है तो उसका आदेश-पालन धर्म नहीं हो सकता।'

'राजा कैकेयीपर प्रसन्न हैं तो भरतको राज्य दे दें !' श्रीराम जननीने लक्ष्मणकी ओर देखा। जैसे उन्हें तनिक सहारा मिला—'लेकिन मेरे पुत्रका क्या दोष है कि इन्हें वनमें भेज रहे हैं !'

'मेरे इन देवोपम अग्रजको किसीका परोक्षमें भी कोई दोष नहीं दीखता !' लक्ष्मणके नेत्रोंसे मानो अङ्गार झड़ रहे थे जैसे वे त्रिलोकीको भस्म कर देंगे। 'राज्य कोई शरीरपर का आभूषण है कि महाराज किसीको दे देंगे। राज्य पिता-पितामहसे आया स्वत्व है। वह जिसका स्वत्व है, उससे कोई छीन नहीं सकता। एक स्त्रीके वशमें हुए वृद्धको ऐसा नहीं करने दिया जासकता।'

बात केवल लक्ष्मणकी नहीं थी। लक्ष्मणको पता भले न हो, अयोध्याके शूरोमें प्रायः प्रत्येक ऐसी ही बातें कर रहा था उस समय। महासेनापतिने समस्त चतुरंगिणी सेनाके समक्ष कह दिया था–'मैं यह राजाज्ञा अस्वीकार करता हूँ। मैंने विद्रोहका निर्णय कर लिया है। आप सबको मैं स्वतन्त्र कर रहा हूँ। अब यह जन आपका सेनापति नहीं है। लेकिन स्पष्ट कर देता हूँ कि अयोध्याका सिंहासन श्रीरामको दिलानेके लिए यदि संघर्ष हुआ तो राजाके पक्षमें चाहे जो कोई हो, उसे मुझसे युद्ध करना होगा। यदि आप मुझे अपराधी मानते हों तो बन्दी बना सकते हैं। अभी यहाँ मैं विरोध नहीं करूँगा; किन्तु आप जानते हैं कि संघर्ष उपस्थित होनेपर मेरी भुजाएँ अशक्त सिद्ध नहीं होंगी।'

'हम सब आपके पीछे रहे हैं। आप विद्रोही हैं तो हम सब विद्रोही हैं।'

पूरी सेनाका एक स्वर—'आप हमारा त्याग नहीं कर सकते। हमारे सेनापति आप ही रहेंगे ?'

'महाराजाधिराज श्रीरामकी जय !' महासेनापतिने खड्ग कोषसे खींचकर ऊपर उठाया।

'महाराजाधिराज श्रीरामकी जय !' सम्पूर्ण सेनाके खड्गधारी दक्षिण कर ऊपर उठ गये। यह प्रतीक था कि सेनाने निर्णय कर लिया है। अब यह विद्रोह हो तो पूरा सैनिक विप्लव हो चुका। नागरिकोंकी अपेक्षा सेनाकी सक्रियता सदा बहुत तीव्र होती है। महासेनापतिने अपने प्रधान नायकोंकी गोष्ठी कर ली तत्काल और आवश्यक आदेश दे दिये।

'आर्य ! आपका यह अनुज धनुष लिये आपके पीछे खड़ा है।' लक्ष्मणने धनुष चढ़ा लिया—'आप यहाँसे बाहर चलें। ब्राह्मण इसी मुहूर्तमें आपका अभिषेक करें। सिंहासनासीन हों आप। वृद्ध महाराज विरोध करेंगे तो अपनेको बन्दीगृहका अधिकारी सिद्ध करेंगे। भरतके समर्थनमें खड़े होने राजा अश्वपति आते हैं तो अकेला लक्ष्मण सबको रणशैय्या देनेको पर्याप्त है। आप अपने विपक्षमें खड़े होने वालोंको मृत मान लें।'

'तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति अतिशय प्रेम है और तुम्हारे पराक्रमसे मैं अनभिज्ञ नहीं हूं।' श्रीरामने भाईको हृदयसे लगाया—'किन्तु पिताकी आज्ञा धर्मके विरुद्ध नहीं है। भले वह आज्ञा विमाताके माध्यमसे प्राप्त हुई है, मैं उसकी अवहेलना नहीं कर सकता।'

'लक्ष्मण ! तुम उत्तेजित मत हो। पिता वृद्ध हैं। हमारे पूज्य हैं। उनके प्रति दुर्भाव मत करो। प्रसन्न हो जाओ।' श्रीरामने फिर भाईकी पीठपर स्नेह पूर्वक कर फेरकर समझाया—'जिस उत्साहसे तुम मेरे अभिषेकको उद्यत हो, उसी उत्साहसे मुझे वनके लिए विदा करो। माताका शोक न बढ़े। पिता निर्भय हों। मैं स्वयं जल लाकर वन गमनका मङ्गलकृत्य सम्पन्न करूँगा। मुझे राज्य और वनवासमें से वनवास महोदय दीख रहा है। तुम विघ्न मत करो। माता कैकेयीपर शङ्का मत करो। यह दैवका प्रकोप है।'

लक्ष्मणने मस्तक झुका लिया। धनुष कन्धेपर चला गया; किन्तु वे अपनी हथेलियाँ क्रोधके कारण मसल रहे थे। नेत्र लाल लाल हो रहे थे—'दैव क्या होता है ? यह तो दुर्बलोंकी चर्चा है। पिताके वरदानका क्या महत्व ? वे कैकेयीके

वशवर्ती हैं। उनकी आज्ञा अमान्य है। दैवको पुरुषका पौरुष सदासे मिटाता आया है। आपके राज्यमें विघ्न करने लोकपाल भी आवें तो उन्हें भी मरना पड़ेगा। मेरे पास धनुष, बाण तथा खड्ग केवल शौकके लिए नहीं है। आज यदि ये काम नहीं आते तो कब काम आवेंगे। आप केवल मुझे आज्ञा दे दें!'

लक्ष्मणका शरीर क्रोधसे कम्पित हो रहा था। उनके नेत्रोंसे आँसूकी बड़ी बड़ी बूँदें टपक रहा थीं। अधर फड़क रहे थे। श्रीरामने अपने उत्तरीयसे उनके नेत्र पोंछे। उन्हें हृदयसे लगाया—'मैं पिताकी आज्ञाके वशमें हूँ। स्वप्नमें भी पिताकी अवज्ञा अथवा उनकी आज्ञाकी उपेक्षा मुझसे सम्भव नहीं है। तुम्हें मेरा प्रिय करना है? तब पिताके, माता कैकेयीके विरुद्ध कुछ मत कहो। रामको पिता की आज्ञा स्वीकार है। तुम जानते हो कि मैं अपनी बातको मिथ्या नहीं करता। मैंने तुम्हारे सम्मुख ही माता कैकेयीसे स्वीकार किया है कि मैं आज ही वन जाऊँगा। अतः रामको अपने वचनोंसे च्युत करनेका प्रयत्न मत करो। लक्ष्मण! अपने इस अग्रजकी शपथ तुम्हें! पिता तथा माता कैकेयीका अपमान मत करो! आगे भी मत करना। अपने चित्तको शान्त करो! मुझे विदा दो!'

जैसे दिशाएँ कुम्भकारके चक्रपर चढ़ी घूम रही हों। नेत्रोंके आगे अन्धकार फैल गया। लक्ष्मण खड़े रहनेमें भी असमर्थ होकर भूमिमें बैठ गये। दोनों हाथोंसे उन्होंने नेत्र बन्द कर लिये। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था। संज्ञा शून्य बैठे रहे वे।

श्रीराम सर्वथा ही प्रस्तुत नहीं हैं तो लक्ष्मणका आवेश किस कामका? यही अवस्था होनी है महासेनापतिकी, सैनिकोंकी और अब जो प्रजाप्रतिनिधि, नागरिक-प्रमुख स्थान-स्थानपर एकत्र होकर मन्त्रणा करने लगे हैं, उन मन्त्रणा-गोष्ठियोंके उत्तेजनापूर्ण निर्णय—उन सब निर्णयोंकी ही क्या सार्थकता है? जिन श्रीरामके प्रेमवश, श्रीरामको आधार बनाकर वे निर्णय होरहे हैं, उन सबकी यही अवस्था होनी है।

नगरमें उत्तेजना है, नगरके तरुणरक्तमें ही नहीं, वृद्धों तकमें उत्तजना है। नारियाँ अपने पतियोंको, भाइयोंको उत्तेजित करनेको भरी बैठी हैं और इसकी आवश्यकता किसीको नहीं है। सब स्वतः अत्यन्त उत्तेजित हैं। वैश्य वर्गका निर्णय है—'हमारी सम्पूर्ण सम्पत्ति श्रीरामकी। हम श्रीरामका विरोध करनेवाले किसी-को एक कार्षापण (कौड़ी) नहीं देंगे, भले ही हमें अपना सर्वस्व स्वयं अग्निको अर्पित कर देना पड़े।'

'श्रीराम और उनके अनुगतोंके अतिरिक्त दूसरे किसीकी सेवा हमें नहीं करनी है, सेवकोंके वर्गोंके वृद्धोंने एकत्र होकर गोष्ठी की और उनका निर्णय अपने पूरे वर्गमें प्रसारित होगया।

प्रजाके प्रधानोंने किसी मन्त्रीकी अपेक्षा नहीं की। उन्होंने अपनी गोष्ठी कर ली। उनको भी निर्णयमें विलम्ब नहीं होना था। उनकी राज्यव्यापी पञ्चायतें--कठोर जातीय बन्धन उन पञ्चायतोंका। उन पञ्चायतोंके प्रमुखोंने एकमतसे निर्णय कर लिया था। एक ऐसा राष्ट्रव्यापी निर्णय, ऐसा ठोस समर्थन कदाचित ही कभी किसी राष्ट्रने किया हो।

यह सब होकर भी व्यर्थ हो गया। वैसे ही व्यर्थ हो गया, जैसे लक्ष्मणका आवेश व्यर्थ हो गया था और जब प्रबल आवेश व्यर्थ होता है, व्यक्ति जैसे गतिहीन निष्प्राण प्राय हो जाता है। यही अवस्था सबकी होनी थी। इसी अवस्थामें महारानी कौसल्याके सदनमें लक्ष्मण सिरपर हाथ धरे बैठ गये थे।

श्रीरामने भाईकी ओर देखा। उन्होंने समझ लिया कि कुछ भी बोलनेसे लक्ष्मण पुनः आवेशमें आसकते हैं। इस समय उन्हें कुछ क्षण अकेले, नीरव रहनेका अवसर मिलना ही सबसे अधिक उपयुक्त था। श्रीरामजननी स्वयं अत्यन्त व्याकुल थीं। उन्हें अपने तनकी भी सुधि नहीं थी।

श्रीरामने माताके चरणोंपर मस्तक रखा। दोनों करोंसे माताके चरण दबाने लगे। जननीने बलपूर्वक उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। झरते दृग, रुद्ध कण्ठ—'वत्स ! तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो ! तुम्हें आतप, शीत, वर्षासे वनदेवता बचाते रहें। वनके हिंसक पशुओंसे, विषैले सर्प-वृश्चिकादिसे, हानिकर जल तथा वनकी विषौषधियोंसे वनदेवी सदा बचावें ! तुम्हें पथ, वृक्ष, लता, प्राणी अनुकूल प्राप्त हों..........।' माताके आशीर्वादकी भी कोई सीमा होती है ?

श्रीरामने वहाँ उपस्थित सभी सेविकाओंको भी अभिवादन किया। माताके गृहकी उन सेविकाओंका भी अपरिमित वात्सल्य श्रीरामपर। वे सब क्रन्दन कर रही थीं।

सबको प्रणाम करके, सबका आशीर्वाद लेकर, जननीको प्रणाम करके उस सदनसे श्रीराम निकले; किन्तु लक्ष्मणको इसका पता नहीं लगा। वे उसी प्रकार संज्ञाशून्यकी भाँति बैठे रहे। श्रीराम माता तो मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं श्रीरामके भवनसे निकलते ही।

'तात् ! अब आप जाकर पिता और माता कैकेयीको आश्वस्त करें !' जननीके भवनसे निकलते ही श्रीरामने महामन्त्री सुमन्त्रके पुत्रको भी विदा किया—'मैं अपने अन्तःपुरसे होकर शीघ्र पिताजीसे विदा लेने उपस्थित हो रहा हूँ। आप पितृव्य महामन्त्रीजीसे मेरी ओरसे प्रार्थना कर दें, मुझे कुलगुरुके आश्रमके समीप पहुँचकर अपने सेवक-सेविका वर्गके सम्बन्धमें, अन्तःपुर तथा वाहनादिकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें कुछ निवेदन आवश्यक होगा।'

'पिताजी आपके साथ ही सेवामें रहेंगे।' मन्त्रिपुत्रका अभिप्राय स्पष्ट हो सके ऐसा अवसर नहीं था। जननीके सदन-द्वारपर मन्त्रि-पुत्रको कैकेयीके भवन भेजकर श्रीराम अपने भवन एकाकी ही गये।

श्रीजनक-नन्दिनी प्रस्तुत

अकेले श्रीराम अपने सदन पहुँचे। श्रीजनक-नन्दिनी व्रतस्था थीं। अब तक किसीका साहस नहीं हुआ था उनसे यह दारुण समाचार कहनेका। सेविकाएँ मानो अपनी स्वामिनीसे मुख छिपाती दूर-दूर रहनेका यत्न कर रही थीं। सबके हृदय फटे जा रहे थे और सब किसी प्रकार अश्रुवेग रोके रहनेके यत्नमें थीं। सखियाँ किसी न किसी बहाने चली गयी थीं। सस्मित मुख श्रीराम पहुँचे तो वैदेहीने आगे आकर स्वागत किया। ले जाकर सिंहासनपर हाथ पकड़कर बैठाया और चरण प्रक्षालन करने बैठ गयीं।

'आपके मस्तकपर मुकुट क्यों नहीं है? आप अकेले कैसे आये? सदाकी भाँति ब्राह्मण और दूसरे अनुगत, वन्दीजन कहाँ हैं?' चरण प्रक्षालन करते हुए श्रीजानकीने पूछा—'आप किसी शीघ्रतामें हैं? आज यह क्या हो रहा है—इस प्रकार मौन क्यों हैं? इस चरण-सेविकासे कोई अपराध होगया है? मुझसे रुष्ट हैं?'

इन भावमयी परम सुकुमारी कुसुम-कलिकासे इतनी विषम बात कहनी पड़ेगी, यह मनमें आनेसे श्रीराम लज्जासे मुख झुकाये थे। मुख विवर्ण होगया भक्त-दुःख-दुःखी होने वाले उन आनन्दघनका। शरीरमें स्वेद आ गया। मुखसे कोई शब्द नहीं निकला।

'अरे! आपका नित्य प्रफुल्ल श्रीमुख कान्तिहीन क्यों हो रहा है?' वैदेहीने पतिके मुखकी ओर देखा और उनके कर चरणोंपर स्थिर रह गये। 'आपके मुखपर हर्ष क्यों नहीं है? आज तो आपका राज्याभिषेक होना है।'

'सत्यप्रतिज्ञ पिताने छोटी माता कैकेयीको दो वरदान देनेको कहा।' श्रीरामने अपनेको स्थिर कर लिया—'उनके अनुसार अब भरत राजा होंगे। पिताने मुझे चौदह वर्ष वनमें रहनेका आदेश दिया है। मैं तुमसे मिलने आया हूँ।'

'मेरी बात ध्यान देकर सुनो!' श्रीरामको लगा कि श्रीविदेह-नन्दिनीने जैसे इसे कोई परिहास माना हो। उनके मुखपर कोई व्याकुलता, कोई दुःख-रेखा प्रकट नहीं हुई। वे ऐसे मुख उठाये सुनरही थीं, जैसे कोई कथा सुनरही हों। 'तुम

भरतसे कुछ कहना मत। भरतके सम्मुख कभी मेरी चर्चा मत करना। उनपर अपनी किसी आवश्यकताका भार मत डालना। उनके अनुकूल रहना। मैं आज ही वन जारहा हूँ। तुम व्रतका पालन करना। मेरी यशस्विनी माताकी और पिताजीकी सेवा करना। वे बहुत दुःखी हैं। उनका और माता कैकेयीका भी सम्मान करना। उनकी भी सेवा करना। भरत और शत्रुघ्नको अपना पुत्र समझकर उनसे स्नेह करना। यद्यपि भरत धर्मज्ञ, उदार तथा सद्गुणैक धाम हैं; किन्तु राजा कभी अकारण प्रसन्न और कभी अकारण अप्रसन्न होते ही हैं। अतः भरतका ध्यान रखना।'

श्रीराम एक साथ कहते चले गये। वे जानते थे कि तनिक रुकते ही यदि जनक-नन्दिनी बोलीं तो आवश्यक निर्देश देना भी शक्य नहीं रहेगा—'मैं माता-पिताकी सेवाके लिए, उन्हें मेरे वियोगका दुःख कम हो, इसलिए तुम्हें यहाँ छोड़ रहा हूँ। चौदह वर्ष होते कितने हैं, शीघ्र अवधि पूर्ण करके तुम्हारे पास लौट आऊँगा। मुझे प्रसन्न मन विदा करो!'

'आप मुझसे ऐसी छोटी बात कह कैसे सके?' श्रीजनक-नन्दिनीका मुख अरुण हो गया। नेत्र भर आये। उन्हें क्रोध आगया था। किसी प्रकार अपनेको सम्हालकर बोलीं—'आप वनमें जायँगे और मैं यहाँ सुख भोगनेके लिए रहूँगी? मेरे न माता है, न पिता, न भाई, न सेविका और न दूसरे कोई सम्बन्धी—मैं केवल आपकी और मेरे एक मात्र आप हैं। मैं आपके साथ आजीवन वनमें रहनेको प्रस्तुत हूँ। मैं अभी आपके साथ चलती हूँ। वनमें आपके आगे-आगे अपने पैरोंसे कुश-कण्टक रौंदती चलूँगी। मुझे केवल आपकी चरणछाया चाहिए। मैं भयङ्करतम वनमें चलनेको उद्यत हूँ। मेरा प्रतिवाद मत कीजिये। मैं ब्रह्मचर्य पूर्वक रहूँगी और आपको कोई कष्ट, कोई असुविधाका कारण नहीं बनूँगी। वनमें मृग, पशु, पक्षी, पुष्प देखकर प्रसन्न रहूँगी। आपके साथ मैं सहस्र वर्ष भी वनमें रहूँगी।'

'वनमें केवल मृग, शशक जैसे पशु, पक्षी और पुष्प ही नहीं होते। इन काल्पनिक सुखोंका ध्यान मत करो। तुम उच्चकुलमें उत्पन्न, राजसदनमें पली हो। तुमने केवल उद्यान देखे हैं। वन तो विपत्तियोंसे भरा होता है।' श्रीरामने समझाना प्रारम्भ किया—'गज, वाराह, व्याघ्र, महासर्प, ऋक्षोंकी विहार भूमि है वन। वहाँ पद-पदपर मृत्यु मुख फाड़े छिपी रहती है। वन-पर्वतोंका जल तक हानि-कारक होता है। कड़वे-कसैले कन्द भी आहारार्थ कठिनतासे मिलते हैं। भूमिपर शयन करना है और भूमि भी सदा समतल नहीं मिलती। भयानक झंझावात चलता है। दंश, मशकोंसे वन सर्वत्र उपद्रुत है। वन जाना किसी प्रकार तुम्हारे योग्य नहीं है।'

'वन मेरे योग्य नहीं है और आपके योग्य है ?' श्रीराम जैसे-जैसे वनकी भयानकताका वर्णन करते गये, श्रीजानकीका रुदन बढ़ता गया। वे एकदम अपने स्वामीके मुखकी ओर देख रही थीं। अन्तमें फूट पड़ीं—'आपके साथ तो सब दोष मेरे लिए गुण हो जायँगे। आपको धनुष चढ़ाये देखकर ही सिंह भाग खड़ा होगा। आपके साथ रहनेपर त्रिभुवनमें मेरा अपमान करनेमें कोई समर्थ हो सकता है ?'

'बचपनमें मुझे देखकर एक ज्योतिषीने पितासे कहा था कि इस कन्याको वनमें रहना होगा। उसकी बात सत्य हो।' श्रीमैथिलीने रोते-रोते कहा—'एक तपस्विनी भिक्षुणी आयी थी मेरे पिताके सदनमें उसने भी मेरा हाथ देखकर मातासे कहा था—'इसे वनमें जाना पड़ेगा।' मैं तो तबसे वन जानेको उत्सुक हूँ। मेरे आराध्य ही वन जा रहे हैं तो मुझे वन जानेमें क्या कठिनाई है।'

'देवि ! दुराग्रह मत करो ! तुम्हारा सुकुमार श्रीअङ्ग वनके कष्टोंको सहने योग्य नहीं है।' श्रीरामने पुनः प्रयत्न किया समझानेका—'तुम अयोध्यामें अथवा पितृगृह जहाँ जब मन लगे, रहना। किसी प्रकार विपत्तिके ये दिन मुझे काट लेने दो।'

'हाय ! मेरे पिताने क्या जाना था कि वे एक दुर्बल जामाताको अपनी कन्या दे रहे हैं। आप कापुरुष कबसे होगये ?' अत्यन्त दुःखके आवेशमें रोष पूर्वक भगवती भूमिनन्दिनी कहने लगीं—'आप अपनी भार्याकी रक्षा करनेमें भी असमर्थ हैं ? जो त्रिभुवनका रक्षक है, उसे ऐसी बात शोभा देती है ? अन्ततः आप किस बातसे भयभीत हैं ? आपकी इसमें तेजस्विता है कि मुझ असहाया, एकाकिनीको इस प्रकार आतङ्कित करके छोड़ जाना चाहते हैं ?'

'आप साथ ले चलते तो आपके साथ असह्य कष्टोंमें भी सीता आनन्द मानती जीवित रहती। सावित्री अपने मृतपति सत्यवानके जीवके पीछे लोकभयङ्कर यमराजका पीछा करती यमलोकके द्वारतक चली गयी थी और मैं अपने सर्वसमर्थ स्वामीके साथ वनमें जाने योग्य नहीं हूँ ?' श्रीजानकीने हिचकियाँ लेते हुए किसी प्रकार कहा—'तब आप आज वन किसी प्रकार नहीं जा सकते। आपको सीताकी आज अन्त्येष्टि करके तब वन जाना है। आपने मुझे त्यागनेका ही निर्णय कर लिया है तो वैदेही इस आपसे उपेक्षित शरीरको एक घड़ी भी धारण नहीं करना चाहती। अभी आपके इन चरणोंमें ही यह जानकी देह-त्याग करती है।'

कटे वृक्षके समान श्रीवैदेही मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। मुख कान्तिहीन होकर तनिक नीला पड़ने लगा था। श्रीरामने अत्यन्त आतुरता पूर्वक उन्हें भुजाओंमें उठा

लिया और कर्णके समीप मुख ले जाकर उच्चस्वरसे बोले—'देवि ! साथ चलो !'

'तुम्हें दुःखी करके रामको साकेत भी स्वीकार नहीं है।' जैसे ही श्रीजानकीजीने नेत्र खोले श्रीरामने कहा—'तुम तो मेरे साथ वन जानेको ही बनी हो। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता।'

'मैंने बचपनमें ऋषियोंके मुखसे अनेक युगोंका आपका चरित सुना है।' अब उस कान्तिहीन कमल मुखपर पुनः प्रसन्नता आ गयी थी—'सभी युगोंमें—सभी कल्पोंमें तो सीता अपने स्वामीके साथ वन गयी है, मैं ही ऐसी भाग्यहीना हूँ कि आप मेरा त्याग कर रहे हैं?'

'मैं तुम्हारा त्याग कर नहीं सकता।' श्रीरामने अश्रु दिग्ध पद्ममुख अपने करोंसे ही मार्जित किया—'तुम शीघ्र प्रस्तुत हो जाओ। अब भवनमें जो रत्न,धन, सामग्री है, वह ब्राह्मणोंको दे दो। वस्त्र, शैय्यादि सबका दान करदो'

'आप ब्राह्मणोंको, ब्राह्मण पत्नियोंको बुला दो !' श्रीजानकी ऐसे उत्साहसे, इतनी प्रसन्नतासे उठीं, जितनी प्रसन्नता उन्हें राज्याभिषेकके सम्वादसे भी प्राप्त नहीं हुई थी। 'देवर भी नहीं दीखते हैं और मन्त्रिपुत्र भी नहीं हैं। मैं कुलगुरुकी पत्नी देवी अरुन्धतीको अपने आभरण देना चाहती हूँ।'

श्रीरामने मध्यम कक्ष तक जाकर सेवकको आदेश दिया। बहुत अल्प समयमें ही ब्राह्मणोंका समूह, विप्रपत्नियाँ आगयीं। देवी अरुन्धती भी भेजे गये रथमें पधारीं। श्रीरामने सबका पूजन किया। श्रीजनक-नन्दिनी सेविकाओंसे कम ही कार्य ले रही थीं। वे स्वयं भवन सामग्री उठा-उठाकर लानेमें पूरे उत्साहसे लगी थीं।

'देव ! यह शैय्या अपने सम्पूर्ण आस्तरण सहित आप स्वीकार करें !' अब जब ऐसे अवसरपर श्रीराम या श्रीजानकी अनुरोध करते हों, कोई अस्वीकार कैसे करदे। वीतराग, तपस्वी, पर्णकुटीमें निवास करने वाले ब्राह्मणके यहाँ इस रत्न-जटित स्वर्ण शैय्याका उपयोग ? एक तपःस्वाध्यायरत ब्राह्मण इन दुग्धफेन कोमल आस्तरणोंपर शयन करेगा ? लेकिन स्वीकार करना था—अन्तरमें अपार दुःख, उमड़ते अश्रु रोककर स्वीकार करना था सबको।

'मातः ! ये आभरण !' देवी अरुन्धतीके सम्मुख श्रीजानकीने अपने आभरण रख दिये।

'वत्से ! तू देखती है कि मैं तपस्विनी हूँ।' देवीने कहा—'लेकिन तेरी प्रसन्नताके लिए इनको स्वीकार करती हूँ।'

महाराज जनकने, चक्रवर्ती महाराज श्रीदशरथने, उनकी महारानियोंने, सामन्तोंने ही नहीं, दिक्पाल-लोकपालोंने, सुरेन्द्र तकने समय-समयपर अलभ्य, अत्यन्त दुर्लभ, अकल्पनीय मूल्य एवं प्रभावशाली उपकरण उपहार दिये थे। श्रीरामके अन्तःपुरके एक-एक उपकरण इन्द्रपत्नी शची तकको प्रलुब्ध करने वाले थे; किन्तु श्रीराम तथा उनकी भार्याको क्या पदार्थ कभी प्रिय हुए हैं ? श्रीजनक-नन्दिनी इस प्रकार समस्त सामग्री वितरित करनेमें लगी थीं जैसे किसी महोत्सवके अवसरपर वे सोल्लास दान कर रही हों। किसी पदार्थको देखकर एक आधे क्षणको भी न उनके कर शिथिल हुए, न मुखपर कोई व्यथा व्यक्त हुई। वे ऐसे वितरित कर रही थीं जैसे एक-एक वस्तु देते हुए उसके भारसे मुक्त होनेका उल्लास उन्हें प्राप्त हो रहा हो।

ब्राह्मणोंको, ब्राह्मणपत्नियोंको, दास-दासियोंको भी उन्होंने भवनका सब कुछ बाँट दिया। सब बाँटकर, लुटाकर वे स्वामीके साथ चलनेको प्रस्तुत होगयीं।

———

सौमित्र और सुमित्रा

'आर्य !' लक्ष्मणकी वाह्य चेतना लौटी और वे चौंके—श्रीराम तो वहाँ हैं नहीं। उन्होंने किसीसे कुछ नहीं पूछा। उठे और सीधे श्रीरामके सदन पहुँचे। सदाकी भाँति मध्य कक्षामें रुके नहीं, अतःपुरमें चले गये और रोते हुए अग्रजके चरणोंपर गिर पड़े। श्रीरामने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया।

'आर्य ! आपने यदि वन जानेका निर्णय ही कर लिया है तो लक्ष्मण धनुष लिए आपके पीछे पीछे चलेगा !' रुदनके साथ स्वरमें स्थिर निश्चय था—'आर्यको एक सेवक अवश्य वनमें चाहिए। इन चरणोंको छोड़कर मुझे बैकुण्ठ अथवा समस्त लोकोंका ऐश्वर्य भी नहीं चाहिए।'

'तात मैं तुम्हारी प्रीतिको समझता हूँ।' श्रीरामने छोटे भाईको हृदयसे लगाए रखा। लक्ष्मणकी पीठपर फिरता रहा रामका दक्षिण कर—'लेकिन तुम परमपावन इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए हो। बुद्धिमान हो और राजकुमारका कर्तव्य समझते हो। पिताजी मेरे वन जानेकी बात ही सोचकर बार बार मूर्च्छित हो रहे हैं। भरत और शत्रुघ्न कोई यहाँ हैं नहीं। अब यदि तुमको मैं साथ ले जाऊँ तो प्रजा तथा पुरी सब प्रकार रक्षक रहित हो जायगी। तुम जानते ही हो कि किसी राज्यके लिए रक्षकका दो घड़ीका अभाव भी कितने अनर्थोंका कारण हो सकता है। मेरी जननी कितनी दुःखी हैं, तुम देख चुके हो। वधुएँ हैं, पिताजी हैं, माताएँ हैं, प्रजा है, तुम सबकी रक्षा—सेवा करनेमें समर्थ हो। भरतको भी तुम्हारी सहायताकी आवश्यकता है, अतः धर्मको, अपने कर्तव्यको समझकर तुम्हें कातर नहीं होना चाहिए। कुछ अन्यथा मत समझो, मैं तुम्हें माँकी सेवा-आश्वासनके लिए यहाँ रखना चाहता हूँ।'

'आर्य ! आप यह सब किससे कह रहे हैं ?' लक्ष्मणके नेत्रोंसे अश्रुधारा गिरने लगी, शरीर काँपने लगा—'लक्ष्मणमें दोष होगा, इसके चित्तमें आपके चरणोंके अतिरिक्त भी कहीं कुछ आसक्ति होगी, इसीलिए आप ऐसा आदेश दे रहे हैं, अन्यथा लक्ष्मणको एक ही धर्म ज्ञात है और वह इन चरणोंका सान्निध्य है। मेरे माता-पिता, स्वजन सम्बन्धी भी हैं, यह तो मैं आपके कारण, आपके निमित्तसे जानता हूँ। आप जहाँ नहीं हैं, वह पुरी रहे या नष्ट हो जाय ! लक्ष्मणको सम्पूर्ण सृष्टि अभी मिटती हो तो भी दुःख नहीं होगा।'

'आपके इन श्रीचरणोंकी शपथ, मुझे अपनेपर भी विश्वास नहीं है।' लक्ष्मणने अग्रजके चरण पकड़े—'आप जानते ही हैं कि उन्मत्तको दोष नहीं दिया जा सकता और लक्ष्मणको आपके चरणोंसे पृथक किया गया तो यह निश्चय संज्ञा खो देगा। आपके समझानेपर भी मैं पिताको क्षमा नहीं करपाता हूँ— कैकेयीको तो सर्वथा नहीं। आप हैं, अतः लक्ष्मण अपनी संज्ञामें है और कोई औधत्य नहीं करता। आप इसे त्यागकर चले जायँगे तो दोमें से एक बात अवश्य होने ही वाली है, यह जन यदि सचमुच आपका है तो इसका देह मिलेगा राजाको, भरतको चितामें चढ़ानेके लिए और इसके प्राणोंको अपने साथ लगे रहनेसे आप रोक नहीं सकेंगे। यदि लक्ष्मणमें आपके चरणोंकी प्रीतिमें न्यूनता है, तो और भी भयानक बात है। आपके अयोध्यासे बाहर होते ही यह उन्मत्त हो जायगा और तब स्नेहा-देश देकर इसे वर्जित करने वाला कोई नहीं होगा। कौन जानता है कि इसके धनुषकी ज्यासे होती मृत्यु वर्षामें आपको वन भेजनेके निमित्त कौन जान पड़ेंगे और किन किनकी बलि हो जायगी।'

'आप एक अबोधको जो आपके अतिरिक्त विश्वमें और किसीको नहीं जानता, कर्तव्यकी, धर्मकी सेवाकी शिक्षा दे रहे हैं?' लक्ष्मणके नेत्र लाल लाल हो आये! उन्होंने अद्भुत भावसे देखा अग्रजकी ओर और जैसे अर्ध चेतनामें बोल रहे हों—'लक्ष्मण! आर्य तुझे छोड़ गये! तू सेवा करेगा? आश्वासन देगा अयोध्याके आर्यके विरहमें व्याकुल लोगोंको? यह कार्य तुझे कभी आया है? जीवोंको कर्मजालकी व्यस्तता—व्याकुलतासे प्रलयकी शीतल, शान्त गोदमें सुप्त कर देनेकी प्रकृति ही तो तेरी है। तब अयोध्याके ये अत्यन्त व्याकुल, दुःखी लोग दीर्घकाल तक तड़पते रहें, यह तुझसे देखा जायगा? आर्य तुझे यहाँ इनको आश्वासन देनेके लिए छोड़ गये हैं तो तेरे सहज स्वभावको समझे बिना छोड़ गये हैं? पालन तो आर्यको आता है। वे समर्थ हैं। आवेंगे और उन्हें अभीष्ट होगा तो अपनी लीलाका विस्तार करके उसका पालन करेंगे, तेरी अम्बा भगवती योगमाया उनको त्यागकर कहीं अन्यत्र रहती हैं? तू अपना कार्य कर! अपने ढंगसे सबका दुःख दूर कर! सबको सुस्थिर आश्वासन दे—आश्वासन! आहा! हा! आश्वासन!'

अयोध्याके राजसदनमें, श्रीरामके अन्तःपुरमें लक्ष्मणका वह अट्टहास—पहिली बार—जीवनमें केवल एक बार लक्ष्मणने अट्टहास किया। उसे सुनकर तो श्रीजानकी तक व्याकुल होकर देखने लगी थीं। कन्धेसे धनुष उतारते लक्ष्मणके

दक्षिण करको श्रीरामने पकड़ा और उनकी मेघ गम्भीर वाणीमें अनन्त वात्सल्य गूँजा—'लक्ष्मण ! मेरी ओर देखो। मेरे साथ चलना है तुम्हें !'

प्रेम वैचित्र्यका वह आवेश क्षणार्धमें समाप्त हो गया—ऐसे समाप्त हो गया जैसे कभी आया ही न हो। नन्हे शिशुके समान फूटकर रुदन करते लक्ष्मण अग्रज-के चरणोंपर गिरे। श्रीरामने भुजाओंमें भरकर बलपूर्वक उठाकर हृदयसे लगाया—'मातासे विदा ले आओ। मेरे साथ वन चलो। मुझे तुम्हारी सेवाकी आवश्यकता सदा है, सदा रहेगी। राम तुम्हारे बिना न अयोध्यामें रह सकता, न वनमें। मैं यहीं प्रतीक्षा करूँगा, जब तक तुम मातासे विदा लेकर आते हो।'

'माता ?' लक्ष्मणने अग्रजके अङ्कसे अपनेको पृथक किया और इस प्रकार श्रीरामके मुखकी ओर देखा जैसे उनकी समझमें ही नहीं आया कि उनको किस मातासे विदा लेने जाना है। वे तो कभी किसी विशेष माताको नहीं जानते। श्रीरामजननीको ही माता जाना उन्होंने और जबसे जनकपुरमें भगवती भूमिजाके श्रीचरण दीखे, माता हो गयीं। श्रीरामजननीके सदनसे अभी आये हैं और ये अम्बा तो यहीं हैं।

'अपनी जननीसे विदा ले आओ !' श्रीरामने छोटे भाईको स्नेह पूर्वक समझाया—'मैं इस समय मध्यमा अम्बाके समीप नहीं जा सकता।'

माता कौशल्या अपनी जननी हैं। वे माता कैकेयीसे विरोध न लें, यह उन्हें समझाया जा सकता है; किन्तु माता सुमित्रा—उनके लिए तो राम और भरत समान हैं। उनके लक्ष्मण और शत्रुघ्नमें से एकको तो उसके साथ रहना ही है जो सिंहासनपर बैठेगा। वे यदि आज्ञा दे दें कि—'रामको वन नहीं जाना है ?' श्रीराम ऐसी विषम स्थितिको अवसर नहीं देना चाहते।

लक्ष्मणने मस्तक झुकाकर आज्ञा स्वीकार करली; किन्तु वे समझ नहीं पा रहे थे कि आर्यने उन्हें यह आज्ञा क्यों दी। उनकी जननीसे कभी तो आर्यके साथ जानेमें पूछनेकी आवश्यकता नहीं हुई। अन्ततः महर्षि विश्वामित्रके साथ आर्य गये तब भी तो साथ ले गये थे। अब पता नहीं जननी क्या कहेंगी ? एक समस्या यह भी थी कि उन्हें ढूँढ़ा कहाँ जाय। वे राजभवनकी व्यवस्थामें व्यस्त पता नहीं कहाँ होगी।

लक्ष्मण अपनी जननीके सदनमें ही गये। मस्तक झुकाये, अपनी ही चिन्ता में लीन गये। उन्होंने देखा नहीं कि मार्गमें कोई उन्हें देखता है, अभिवादन करता

है अथवा उनसे कुछ पूछना चाहता है। माताके कक्षमें पहुँचकर उन्होंने मस्तक उठाया।

कैकेयीके वरदानका समाचार मिला तो महारानी सुमित्रा स्तब्ध रह गयीं। अब राजसदनमें व्यवस्था करनेको क्या रह गया ? सब—एक ओरसे सब तो व्याकुल, प्राणहीन जैसे हो गये हैं। किसीको अपनी सुधि नहीं। अब जब आश्वासन देनेका कोई उपाय नहीं, किसीके समीप—कहीं जानेका प्रयोजन ? महारानी सुमित्राका शरीर अवसन्न हो गया। उनसे अपने स्थानसे उठा ही नहीं गया, जैसे शरीरमें हिलनेकी ही शक्ति नहीं रही।

'जीजी कौसल्याकी क्या दशा होगी ?' सुमित्राजीको कभी अपना स्मरण नहीं आया था और आज भी नहीं आया। उनकी प्रबल इच्छा हुई कि वे उठकर कौसल्याजीके सदन जायँ;किन्तु तभी उन्हें श्रीजनक-नन्दिनीका स्मरण आया। सभी पुत्रवधुएँ स्मरण आयीं और अन्तमें—'बेचारी कैकेयी ! दैवने कहींका नहीं रखा इस मानिनीको। वह इतनी हठी है कि इस समय किसीकी सुनेगी नहीं; किन्तु हायरे निष्ठुर नियति ! कैकेयी कैसे सह पावेगी जब भरत ही आकर उसकी भर्त्सना करेंगे। जीवनभरके लिए तिरस्कार दुःखका वरदान माँग रही है वह, यह कहाँ समझपाती है आज।'

अत्यन्त दया आ रही थी कैकेयीपर। जो कुछ होने वाला था, जो कुछ आगे हुआ, सुमित्राजीकी दीर्घदर्शिनी दृष्टि उसे स्पष्ट देख रही थी। उन्हें किसीपर रोष नहीं था। कहीं भ्रम नहीं था। अत्यन्त करुणा उमड़ आयी थी कैकेयीपर। वे उठना चाहकर भी उठ नहीं पा रही थीं। समझ नहीं पारही थीं कि पहिले किस सदनमें जावें। उन्हें उर्मिला ही नहीं, श्रुतिकीर्ति, माण्डवी—अपनी सब पुत्रवधुओंकी व्यथा एक साथ व्याप्त हो गयी थी। वे दुःखी, हताश, निरुपाय हो बैठी थीं आज।

लक्ष्मणने आकर माताके चरणोंपर मस्तक रखा और उठकर हाथ जोड़कर खड़े हुए तो माताने ही कहा—'वत्स ! सब सुन चुकी हूँ, अब तुम ?'

'आर्यने मुझे आपसे अनुमति लेने भेजा है।' लक्ष्मणने एक साथ कह दिया—'उन्होंने मुझे साथ ले जाना स्वीकार कर लिया है। आप आशीर्वाद दो ! वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं और वनमें उन्हें तथा मेरी वैदेही अम्बाको भी मेरी सेवाकी आवश्यकता होगी।'

'वत्स ! तुमने सुमित्राकी कुक्षिको धन्य कर दिया।' माताने खींचकर पुत्रको हृदयसे लगाया—'तुम्हें जन्म देकर मेरा मातृत्व आज परिपूर्ण हो गया। मुझे

अब लक्ष्मण-जननी कहलानेमें गर्व है। रामके चरणोंमें अनुराग न हो, ऐसे पुत्रको उत्पन्न करनेसे तो नारीका वन्ध्या रहजाना उत्तम है। स्त्री इसलिए नौ मास उदरमें शिशुका भार नहीं ढोती और न इसलिए वक्षका रस पिलाकर उसे पालती कि पशु-पक्षियोंके शावकोंकी भाँति उसका पुत्र भी भोगोंका अर्जन करके, उनमें लिप्त द्विपाद पशु बने। मानवी माता बनती है तो उसके मनमें महत्त्वाकांक्षा जागती है, उसका लाल महान बनेगा। वह अपने साथ माताके भी भव-पाश छिन्न करेगा भगवद्भक्ति करके। लक्ष्मण! तुमने मेरी महत्वाकांक्षा पूर्ण की। तुमने मुझे सचमुच माता बनाया। तुम्हारा मंगल हो!'

लक्ष्मण असमञ्जसमें आये थे। त्वरा थी उस समय उन्हें; किन्तु माताकी वाणीने उन्हें आश्वस्त कर दिया। आज माताके प्रति अपार श्रद्धाका, अत्यन्त प्रेमका पारावार उमड़ा हृदयमें। माताके वक्षसे नन्हे शिशुके समान वे सटे खड़े थे।

'वत्स! जनक-नन्दिनी सीता तुम्हारी माता हैं और श्रीराम तुम्हारे पिता हैं।' माता सुमित्राने अपने आवेगपर नियन्त्रण कर लिया। उन्हें माताका कर्तव्य पूर्ण करना चाहिए। पुत्रको उचित शिक्षा देना माताका कर्तव्य है, भले पुत्र स्वयं कितना भी विद्वान, बुद्धिमान, विवेकशील हो—सीताराम जहाँ हैं, वहीं तुम्हारी अयोध्या है। यहाँ अयोध्यामें किसीका स्मरण तुम्हारे मनमें कभी नहीं आना चाहिए।'

इससे अधिक स्पष्ट आश्वासन कोई माता प्रवासमें जाते पुत्रको और क्या दे सकती है? यह आश्वासन ही था कि परिवारको, पुत्रवधूको माता सम्हाल लेंगी। इस दिशामें पुत्रको कुछ नहीं सोचना है।

'तुम वनमें सीतारामकी सेवा करने, उन्हें सुविधा देने–सुख पहुँचाने जा रहे हो, इस बातको कभी भूलना मत।' माताने कर्तव्यका निर्देश किया—'अपनी सुख सुविधाका विचार करके सेवा नहीं हुआ करती। सेवा होती है आलस्य, प्रमाद, निद्रा, आहार, विश्राम आदिकी सुविधाओंकी उपेक्षा करके। सेवा वह कर पाता है जो यह नहीं देखता कि उसे कितना श्रम करना पड़ेगा अथवा पड़ रहा है। जो अपनें शरीरके कष्टको उपेक्षणीय मानता है, साथ ही जो सेवाके प्रतिदानकी किञ्चित भी कामना नहीं रखता। जो सेवाके बदले स्नेह अथवा सम्मानकी भी आशा करता है, वह निकृष्ट सेवक है।'

'वत्स! सुमित्राका आदेश है कि तुम इसी क्षणसे भूल जाओ कि तुम रामके अनुज हो और उनका स्नेह तुम्हारा स्वत्व है।' माताने स्थिर प्रसन्न कण्ठसे कहा–

'तुम अबसे सीतारामके दास हो। उनकी सेवा ही तुम्हारा पुरस्कार है। तुम्हारी सेवासे उनका कोई श्रम दूर होता है, उन्हें किञ्चित सुविधा मिलती है तो इससे महान कोई पुरस्कार तुम्हारे लिए नहीं हो सकता।'

'लक्ष्मण! जब व्यक्तिको कष्ट उठाना पड़ता है, असुविधाओंमें रहना पड़ता है, तब अकारण भी वह झुंझला उठता है। क्रोधमें कुछ कह बैठता है।' माताने सावधान किया—'वधू सीताने जाना ही नहीं है कि दुःख क्या होता है। अब उन्हें राजभवन त्यागकर वनमें रहना है। अत्यन्त कठिन जीवन बिताना है। वे तुम्हारी पूजनीया हैं। कभी भी कष्टोंकी पीड़ा उन्हें उत्तेजित कर सकती है। तुम सेवासे दृष्टि हटाकर ऐसे अवसरोंके शब्दोंपर ध्यान दोगे तो कर्तव्यच्युत होगे।'

'काम, क्रोध, लोभ, प्रमाद, ईर्षा कभी तुम्हारे अन्तःकरणका स्पर्श न करें।' माताने उठकर एक छोटी कुल्हाड़ी दी—'इसे साथ रखो। इसका उपदेश भी मनमें रखो—जिसके हाथमें है, उसकी और उसके रक्ष्योंकी रक्षामें सदा उद्यत रहना तथा कण्टकोंको, बाधाओंको काटनेमें तनिक भी विलम्ब नहीं करना। तुम्हारा पथ मंगलमय हो! सभी देवता तुम्हारी सहायता करें! तुम्हारा विवेक कभी कुण्ठित न हो! सीताराममें तुम्हारी श्रद्धा अविचल रहे!'

माताने आशीर्वाद देकर, हृदयसे लगाकर, मस्तकपर कर फेरकर पुत्रको प्रसन्न मन विदा किया। माताकी चरण धूलि मस्तकसे लगाकर जब लक्ष्मण उस कक्षसे निकले, उनका चित्त निर्मल, भारहीन हो चुका था। वन-गमन इनको उद्यान-विहारके समान ही लग रहा था। उनका श्रीमुख तेजोदीप्त था।

बल्कल-धारण

'अम्बा कैकेयी जो वल्कलादि प्रदान करेंगी, उसके अतिरिक्त अयोध्याकी कोई वस्तु हमको साथ नहीं ले जानी है।' श्रीरामने भाईसे कहा—'महाराज जनकको वरुणने दो दिव्य धनुष और अक्षय तूणीर दिये थे। विवाहके समय वे मुझे दहेजमें प्राप्त हुए हैं। उन्हें साथ ले लो। वे अयोध्याकी सम्पत्ति नहीं हैं।'

लक्ष्मणने अपना धनुष और त्रोण त्याग दिया। उन्होंने वे दोनों धनुष और दोनों त्रोण ले लिये। सुमन्त्र-पुत्रको श्रीरामने आदेश दिया—'कुलगुरुके आश्रम-वासियों तथा दूसरे ब्राह्मणोंको बुलालो। मैं सब सामग्रीका दान करूँगा।'

अन्तःपुरकी सामग्रीका दान तो श्रीजनक-नन्दिनी कर ही चुकी थीं। अब श्रीरामको अपनी गोशाला, अश्वशाला, गजशालाके पशुओं तथा दूसरी सामग्रीका दान करना था। श्रीरामने महर्षि वशिष्ठके मुख्य शिष्य सुयज्ञसे प्रार्थना की—'मेरे भवनमें एक योग्य विप्रको आप नियुक्त करदें। वे यहाँ निवास करेंगे। यहाँ आराध्यका पूजन तथा मेरी गार्हस्थ्याग्निकी रक्षा भी करेंगे। वन-यात्राके इस आपत्तिकालमें मैं अग्नि साथ ले जानेकी स्थितिमें नहीं हूँ। लक्ष्मणके सदनमें भी इष्टार्चन एवं अग्नि-रक्षणका कार्य एक विप्रको करना चाहिए।'

'मुझ कङ्गालपर कृपा करें! पत्नीके आग्रहसे विवश आया हूँ प्रतिग्रह लेने!' गर्ग गोत्रीय, पिंगल जटा जूट, फरसा, कुदाल, हल लिये एक त्रिजट नामका ब्राह्मण इसी समय श्रीरामके सम्मुख आया—'अपने असमयके कारण मैं अनेक सन्तानोंका पिता हो गया। अब मोह मुझे तपोनिरत नहीं रहने देता है।'

इस ब्राह्मणकी उपस्थिति श्रीराम तथा सुयज्ञको भी आश्चर्यजनक लगी। यह वनमें कहीं भी हल या कुदालसे कुछ भूमि स्वयं बिना वृषभकी सहायताके जोत-गोड़कर श्यामाक जैसे मुन्यन्न बो लेता है और उससे काम न चले तो खेतोंमें अन्न कट जानेपर दाने चुन लेता है। इस निष्परिग्रह, विरक्त तपस्वा गृहस्थ ब्राह्मणने कभी किसीका दान स्वीकार नहीं किया। किसीके यज्ञ, पूजनादिके अवसरपर आग्रह करनेपर भी नहीं गया। अब आज इस वृद्धकी युवा पत्नी बहुत आग्रह करके, हाथ पकड़कर ले आयी है—'श्रीरामके सम्मुख चलो। मैं तुम्हारी सन्तानोंका दुर्बल कलेवर देखनेमें, क्षुधा पीड़ित रुदन सुननेमें असमर्थ होगयी हूँ।'

'भगवन् ! आप जो आज्ञा करें, वह देकर मैं अपना सौभाग्य मानूँगा।' श्रीरामने उस ब्राह्मणकी वन्दना की और तब कहा।

'एक गौ दे दीजिए।' मलिन जीर्णवस्त्र उस ब्राह्मणने सन्तुष्ट होकर कहा।

'आपको मैं एक गौ नहीं दूँगा।' श्रीरामने अपनी गोशालासे लाकर उपस्थित की गयी गायोंके समूहकी ओर सङ्केत किया—'आप अपना लकुट फेंकें। वह जहाँ तक पहुँचेगा, उतनी दूरीमें स्थित सब गाएँ आपकी हो जायँगी।'

ब्राह्मणने अपने जीर्णवस्त्र समेटे और पूरी शक्तिसे डण्डा फेंका। उसका डण्डा सरयूपार जाकर गिरा। श्रीरामने प्रसन्न होकर कहा—'इस दूरीमें आये सब वृषभ, गायें, बछड़े-बछड़ियाँ अब आपकी हैं।'

'भगवन् ! आप मुझे क्षमा करें ! मुझपर क्रोध न करें !' ब्राह्मणको यह अपार गोदान करके भी श्रीराम लज्जित, दुःखी थे—'मैंने आपसे श्रम करवाया ! आपका मुझपर कुछ भी स्नेह हो तो यह अल्प धन स्वीकार कर लें। पशुधन तो आपने पौरुषसे अर्जित किया है।'

उस ब्राह्मणको स्वर्ण एवं रत्नोंकी राशि मिली किन्तु; जब उसे पता लगा कि श्रीराम तो आज सर्वस्व दान करके वनमें जारहे हैं, उसने सिर पीट लिया। पत्नीसे बोला—'यह सब धन और सम्पत्ति अब तुम्हें सुखी करे। वत्स रामभद्रको इस वनवासी त्रिजटका सामीप्य आवश्यक है। यह वनका अनुभवी साथ रहेगा तो……………।'

'देव ! आपका आशीर्वाद रामकी रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ है।' श्रीराम इस प्रकार किसीको साथ रखना स्वीकार करलें तो अयोध्यामें कौन अभागा है जो इनके साथ जानेका सुअवसर छोड़ देगा। रथ, गज, अश्व तथा दूसरे सब उपकरण श्रीरामने ब्राह्मणोंको तथा सदनके अपने सेवक-सेविकाओंको दे दिये। सब वितरण करके वे पत्नी तथा भाईके साथ अपने भवनसे निकले।

दान लेते समय भी ब्राह्मण रुदन कर रहे थे। राजपथ शोकाकुल लोगोंसे भरा था। सहसा हा-हाकार गूंजा—'जिस असूर्यम्पश्या श्रीचक्रवर्ती महाराजकी पुत्रवधूको आकाशचारी भी देख नहीं सकते थे, वे पैदल जारही हैं। ये वनमें इन पाटलदल सुकुमार चरणोंसे कैसे चलेंगी ?'

लोगोंने पथमें अपने उत्तरीय बिछा दिये। जिसे जहाँ जो भी सुकुमार सुमन मिले, उसके दलोंसे पूरा पथ आच्छादित कर दिया—'हाय ! हाय ! जिन श्रीराममें

अक्रूरता, दया, विद्या, शील, दम और शममें षड्गुण नित्य निवास करते हैं, वही जब वन जा रहे हैं तो हम क्षेत्र, भवन, उपवन आदिको लेकर क्या करेंगे ? श्रीरामसे रहित अयोध्या हमें नहीं चाहिए। अब यहाँके धन-धान्य शून्य, धूलि, चूहे, सर्प, शृगालादिके आवासभूत भवन कैकेयी प्राप्त करे और इनपर राज्य करे; अब अयोध्याके किसी घरमें न धूम्र उठेगा, न कहीं देवपूजन होगा, न मानव शब्द सुन पड़ेगा। इन भवनोंमें वन पशु बसेंगे। कैकेयी उन्हें देखकर प्रसन्न हो। हम सब श्रीरामके साथ जायँगे। हमारे राम जहाँ रहेंगे, वहीं हमारी अयोध्या है। वनमें नगर बसेगा और अमरावतीका आखण्डल (इन्द्र) भी वहाँ आना अपना सौभाग्य मानेगा।'

लोग साथ-साथ राजद्वार तक आये। महामन्त्री सुमन्त्र द्वारपर प्रतीक्षा करते मिले। श्रीरामने उनसे कहा—'तात ! पितृचरणोंको मेरे आगमनकी सूचना दीजिये !'

'महाराजाधिराजकी जय हो !' सुमन्त्रने भीतर जाकर सूचना दी—'रामभद्र श्रीवैदेही और लक्ष्मणके साथ आगये हैं।'

'वधू वैदेही और लक्ष्मण भी ?' महाराज तो सुनकर ही मूर्च्छित होकर गिरे। दो क्षणमें सावधान होकर बोले—'सुमन्त्र ! मेरी सभी रानियोंको भी बुला लो। वे भी देखें कि दशरथ कितना क्रूर है।'

महाराज दशरथकी अन्य दोनों महारानियाँ श्रीकौसल्याजी और सुमित्राजी-को सुमन्त्र ले आये। कैकेयीने किसीकी ओर दृष्टि नहीं उठायी, महारानियोंमें भी कोई बोलनेकी स्थितिमें नहीं थी। श्रीरामको आते देखकर महाराज उठे और मिलने झपटे; किन्तु मूर्च्छित होकर गिर पड़े। रानियोंने उन्हें सम्हाला।

'आपसे मैं आज्ञा लेने आया हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दें।' बहुत देरमें जब महाराज सचेत हुए, श्रीरामने पिताके चरणोंपर मस्तक रखा—'ये मैथिली और लक्ष्मण भी साथ जा रहे हैं। मैंने बहुत समझाया इन्हें; किन्तु ये यहाँ रहनेको प्रस्तुत नहीं हैं।'

'लक्ष्मण ! मैं कैकेयीको वरदान देकर मोह मूढ़ हो रहा हूँ।' महाराजने अत्यन्त कातर भावसे देखा —'तुम मुझे बन्दी बनालो और ········।'

'तात ! आप ऐसी बात क्यों कहते हैं ? आप मेरे स्वामी हैं।' श्रीरामने दोनों करोंसे पिताके चरण पकड़े—'आपके वचनोंकी रक्षाके लिए चौदह वर्ष तो क्या मैं सहस्र वर्ष भी वनमें रहनेको प्रस्तुत हूँ।'

'आप इनसे वनमें जानेको कहते क्यों नहीं ।' कैकेयीने झुंझलाकर महाराजसे कहा । वह लक्ष्मण और श्रीजनक-नन्दिनीको वन गमनोद्यत देखकर प्रसन्न हो गयी थी । उसे लगता था कि उसके मार्गका कण्टक ही दूर हो रहा है ।

'वत्स ! तुम धर्मज्ञ हो । तुम्हारा मङ्गल हो ।' महाराजने श्रीरामको अङ्कमें खींच लिया—'मैं जानता हूँ कि तुमको अब रोका नहीं जा सकता । लेकिन एक दिन रुककर हम सबको देख लो । हमें अपना चन्द्रमुख भरनेत्र देख लेने दो । अब फिर दशरथ यह मुख नहीं········ ।'

'आप कातर मत हों ।' श्रीरामने पिताको चरण पकड़कर समझाया—'एक दिन मेरे रुकनेसे कोई विशेष बात नहीं होने वाली है और आपका वचन भङ्ग हो जायगा । अम्बाने आज ही मेरे वन जानेका वरदान माँगा है । आज ही आप भरतको बुलाने दूत भेज दें । यह धन-धान्यसे समृद्ध राज्य उन्हें दे दें । मुझे राज्य अथवा सुख नहीं चाहिए । मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा । आपका दुःख मिटे । आपके नेत्रोंसे अश्रु न गिरें । आप सत्यवादी बने रहें । मैं यहाँ थोड़ी देर भी नहीं रुकूंगा । आपका वरदान पूरा हो ।'

'कैकेयी !' वज्र कर्कश स्वर—महामन्त्री सुमन्त्रने जीवनमें पहिली बार किसीको इस प्रकार पुकारा था । एक सेविकाके प्रति भी सदय विनम्र रहने वाले महामन्त्री आवेशमें थे । वे रुदन कर रहे थे । उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे । दाँत पीसकर, हाथ मलते, क्रोधसे काँपते बोल रहे थे । 'तूने स्वयं पतिका त्याग किया है । तू पति हत्यारिणी, कुलघ्नी है । ऐसे अक्षोभ्यपतिको दुःखी कर रही है ? तेरे पुत्र भरत यहाँ राजा हों; किन्तु हम श्रीरामके साथ वन जायँगे । तेरे राज्यमें कोई ब्राह्मण कैसे रहेगा ? आश्चर्य है—कोई ब्राह्मण तुझे शाप क्यों नहीं देता ।'

कैकेयी काँप उठी । उसने भयभीत नेत्रोंसे उपस्थित विप्रों तथा कुलगुरुको देखा । महामन्त्री उसी आवेशमें कहते गये—'तू अपनी अनार्या माताके अनुरूप है । मुझे ज्ञात है कि किसी ऋषिने महाराज अश्वपतिको सभी प्राणियोंकी भाषा समझनेका वरदान देकर सावधान किया कि प्राणियोंकी वह वार्ता दूसरेको सुनाते ही राजा की मृत्यु हो जायगी । राजा अश्वपति रानीके साथ बैठे थे । चींटियोंकी कोई चेष्टा देखकर उन्हें हँसी आ गयी । रानीने समझा कि उसकी किसी बातपर हँसे हैं । उसने पतिसे हंसनेका कारण पूछा । राजाने स्पष्ट कह दिया कि वह कारण प्रकट करनेपर उनकी मृत्यु निश्चित है; किन्तु तेरी माता दुराग्रहपर अड़ी रही—'तुम जिओ या मरो मुझे कारण बतलाओ, अन्यथा मैं प्राण त्याग दूंगी ।'

राजा अश्वपतिने कुलगुरुसे सम्मति लेकर तेरी मातासे कह दिया—'तुम जीवित रहो या मर जाओ, मैं हँसनेका कारण नहीं बतला सकता। मैंने तुम्हारा त्याग किया।' परित्यक्ता माताकी पुत्री तू वैसी ही है। महाराजको भी तेरा त्याग करना चाहिए। अपना वरदान अब भी लौटा लो, अन्यथा कलङ्किनी होगी।'

कैकेयी अक्षुब्ध, स्थिर बनी रही। उसने महामन्त्रीकी ओर देखा ही नहीं। तब महाराज बोले—'इसका त्याग तो मैं कर चुका; किन्तु इसे मैंने शपथ करके वचन दिया है। वत्स रामभद्र वनमें जा रहे हैं तो सेना, कोष, कलाजीवी साथ जावें। प्रजा और राजसेवकोंमें जो भी जाना चाहें, सब जावें। मैं साथ जाऊँगा। जो रानियाँ चाहें, साथ चलें। यह भरतके साथ यहाँ सूने नगरपर शासन करे।'

'महाराजाधिराजकी जय !' सुमन्त्रके कण्ठसे हर्ष विह्वल जयघोष निकला। वे हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर इस आदेशको क्रियान्वित करने जाने ही वाले थे।

'यही आपकी सत्यवादिता है ?' क्रुद्ध सर्पिणीके समान कैकेयीने फूत्कारके साथ कहा—'आप अपने पुत्र भरतकी वञ्चना करेंगे ? रामको भोग विवर्जित मुनि-वेशमें वनमें रहनेका वरदान दिया है आपने ?'

'अम्ब ! आप सन्तुष्ट हों।' श्रीरामने हाथ जोड़कर कैकेयीको मस्तक झुकाया—'मैं आपको खिन्न, दुखी नहीं करना चाहता। मैं तो भोगोंका त्याग करके जा रहा हूँ। मुझे धन-धान्य, सैन्य-सेवक अथवा अनुयायियोंका क्या करना है ! हाथीका त्याग कर दिया तो उसके बाँधनेकी रज्जुसे प्रयोजन ? आप हमारे लिए वल्कल चीर, खन्ती तथा मूल कन्द रखनेके उपयुक्त पेटिका प्रदान करें। आपके रामको धनादिका लोभ नहीं है।'

कैकेयीने इधर-उधर देखा। वहाँ कोई सेवक-सेविका नहीं थी। मन्थरा भी वहाँ आनेका साहस नहीं कर सकी थी। कैकेयी स्वयं उठी। उसके भवनमें अभ्यागत तापसोंको देनेके लिए वल्कल चीर, खन्ती, पेटिका आदि सदा रहती थीं। वह उनमें से वल्कल, एक खन्ती और एक पेटिका उठा लायी।

'ये धनुष और त्रोण अयोध्याकी सम्पत्ति नहीं हैं। ये महाराज विदेहके उपहार हैं।' श्रीरामने अपने शरीरपर के आभूषण और वस्त्र उतारकर वल्कल धारण करते हुए कहा—'उनको हम साथ ले जायँगे। क्षत्रियके लिए वानप्रस्थसे पूर्व धनुष-त्याग करना उचित नहीं है।'

महाराज मूर्च्छित हो चुके थे। उपस्थित लोग फूट-फूटकर रुदन करने लगे थे। कमललोचन श्रीरामने जब कौशेय वस्त्र त्यागकर वल्कलकी कौपीन पहिनी और उसपर वल्कलका आच्छादन वस्त्र लपेटा, दिशाएँ मानो क्रन्दन करने लगीं। वायु फूत्कारके समान खर स्पर्श बहने लगा।

अग्रजके समान ही लक्ष्मणने भी आभरण उतार दिये। कौशेय वस्त्र त्यागकर वल्कल धारण किया। अब श्रीरामने एक तूणीर बाँधा अपने पृष्ठ देशपर और धनुष वाम स्कन्धपर धारण किया। लक्ष्मणने धनुष, त्रोणके अतिरिक्त खन्ती, टोकरी तथा छोटी कुल्हाड़ी भी ले ली।

कैकेयीने एक शब्द नहीं कहा। वह पाषाणीके समान बैठी थी। रानियाँ क्रन्दन कर रही थीं। महामन्त्री और उपस्थित समूह हाथोंसे मुख छिपाकर रुदन व्याकुल था। महाराज दशरथ मूर्च्छित होचुके थे और उन्होंने कैकेयीको त्यक्ता घोषित कर दिया था; किन्तु कैकेयीपर इस सबका कोई प्रभाव नहीं था। वह ऊब रही थी। उसे यही लगता था कि राम कब अयोध्यासे निकलें—कब निकलें।

बड़े सङ्कोचमें खड़ी थीं भगवती भूमिजा। वहाँ कुलगुरु थे, स्वसुर थे, स्वसुरके समान सुमन्त्र थे और सभी सासुएँ थीं। वे राजनन्दिनी समझ ही नहीं पाती थीं कि इन सबके सम्मुख कैसे अपने अङ्गोंसे आभरण उतारें। कैसे कौशेय वस्त्रको हटावें। इन वल्कल वस्त्रोंको उन्होंने दूरसे देखा था; किन्तु इनको पहिना कैसे जायगा, यह उनकी समझमें ही नहीं आता था। एकान्त होता तो वे प्रयत्न करतीं; किन्तु उतने लोगोंके, गुरुजनोंके सम्मुख—उनका मुख लज्जासे आरक्त हो रहा था। उनके पद्मदलायत लोचन अश्रुपूरित हो रहे थे। वे बड़े सङ्कोचसे कभी वस्त्रोंकी ओर और कभी तनिक मुख घुमाकर अपने आराध्यकी ओर देख रही थीं। उनके नेत्र पूछ रहे थे—'आर्यपुत्र! इन वस्त्रोंका उपयोग मैं कैसे करूँ? कोई मुनिकन्या मेरी सहायताको आप बुला नहीं देंगे?'

श्रीजनक-नन्दिनीको बड़ा सङ्कोच था कि यात्रा प्रारम्भ भी नहीं हुई और वे अपने स्वामीके लिए समस्या बन रही हैं। उन्हें सङ्कोचमें डाल रही हैं। पर वे निरुपाया............।

कैकेयीकी भर्त्सना

'अनार्ये ! तू श्रीविदेहराजनन्दिनीको वल्कल देनेका साहस करती है ?' श्रीरामने जैसे ही वल्कल उठाकर श्रीसीताके वस्त्रोंके ऊपर ही लपेटा, महर्षि वशिष्ठ क्रुद्ध हो उठे—'तूने केवल श्रीरामचन्द्रके लिए वनवासका वरदान महाराज-से माँगा है या सीताके लिए भी ?'

'महाराज ! आपने अपनी पुत्रवधू सीताके लिए भी वन जानेका वचन दिया है ?' कुलगुरुके पूछनेपर जब कैकेयीने सिर झुका लिया और बोली नहीं; तब महर्षिने सीधे श्रीचक्रवर्ती महाराजसे पूछा । उनकी वाणीमें रोष था—असह्य रोष और लगता था कि वे शाप देने ही वाले हैं । कैकेयी भयभीत हो उठी थी । वह समझ गयी थी कि वल्कल देनेकी उतावलीमें उससे भूल हुई और इस भूलको महर्षि अपराध मान लें तो उन्हें कोई भी दोष नहीं दे सकता ।

'मैंने वधूको वनमें जानेकी आज्ञा नहीं दी है ।' श्रीचक्रवर्ती महाराजको कुलगुरुकी रुष्ट वाणीने प्रसन्न किया—बल दिया । वे आशा भरे दृगोंसे महर्षिके मुखकी ओर देखने लगे ।

'कैकेयी ! तू दुष्टा है । तूने पतिको वरदान माँगकर ठग लिया है । तेरे प्रति जो इनका प्रेम था, उस प्रेमके साथ विश्वासघात किया है ।' महर्षिने उसी प्रकार कहा—'किन्तु तू क्या समझती है कि अयोध्याका सिंहासन महाराजका अङ्गाभरण है जो वे इच्छा होते ही किसीको उतारकर दे देंगे ? इक्ष्वाकुवंशके इस सिंहासनके प्रति वशिष्ठका भी कुछ दायित्व है । मैं कहता हूँ कि वधू सीता यहीं रहेंगी । वत्स रामभद्र पिताके वचनोंकी रक्षाके लिए वन जाना चाहते हैं तो जावें । यद्यपि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है; किन्तु मैं उनको नहीं रोकता । राज्यका सिंहासन उनका ही रहेगा । उनकी अनुपस्थितिमें उनकी अर्धाङ्गिनी बैठेगी उस सिंहासनपर और प्रशासनका सञ्चालन करेगी । लक्ष्मण उसके रक्षक होकर उसके साथ यहाँ रहेंगे । कोई वशिष्ठके इस विधानका विरोध करता है ?'

'कोई विरोध नहीं करेगा !' महर्षिने घूमकर महामन्त्रीकी ओर देखा तो सुमन्त्रने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया । महामन्त्री इस समय सम्पूर्ण राजपरिषद-के प्रतिनिधि होकर बोल रहे थे । भले अयोध्याके राज्यासनपर कभी कोई अकेली

नारी न बैठी हो; किन्तु सृष्टिकर्ताके साक्षात् पुत्र महर्षि वशिष्ठके विधानका विरोध करनेका साहस त्रिभुवनमें कौन कर सकता है। इस समय तो महर्षि सबको अमृत दान करने जैसा विधान कर रहे थे। सुमन्त्र जानते थे कि इस विधानका जन-जन हृदयसे स्वागत करेगा।

कैकेयीका मुख सूख गया। उसे लगा कि उसकी सम्पूर्ण योजना ध्वस्त हो गयी। अब अयोध्यामें, कदाचित पितगृहमें भी उसके लिए कोई स्थान नहीं रहा। उसे सब करके केवल तिरस्कार और अपयश ही मिला। वह क्या बोले—निराशा, भयके कारण कण्ठ सूख चुका था। वह जानती थी कि कुलगुरुके विधानका उल्लं-घन किसीके लिए भी शक्य नहीं है। अब वह भी महाराजको वचन भंगका दोष नहीं दे सकती।

'कैकेयी! तू क्या समझती है कि राजभवनके अन्त:पुरमें स्त्रीके हावभावसे मोहित करके महाराजको वचनबद्ध करके साम्राज्यका सिंहासन आभरण अथवा खिलौनेके समान प्राप्त कर लिया जा सकता है?' महर्षिने अब क्रोधपूर्वक देखते हुए सूचना देना प्रारम्भ किया—'तू लोभसे अन्धी हो गयी है, अन्यथा देख लेती कि तेरे सदनमें कोई सेविका नहीं है। तेरे राजभवनमें कोई सेवक नहीं है। प्रजा धानोंने निर्णय किया है कि तेरी या भरतकी सेवा करने वाला जातिच्युत माना जायगा। रामभद्र लक्ष्मण और वधू सीताके साथ वनमें चले भी जायँ तो भरत-को लेकर तू राज्यका शासन चला लेगी?'

कैकेयीका मुख इस सूचनाके साथ विवर्ण हो गया। उसने कहाँ सोचा था कि प्रजा-प्रधान इतना कठोर निर्णय भी कर सकते हैं। सम्पूर्ण राज्यके सभी जातीय पञ्चायतोंके प्रधान पञ्चोंने यह निर्णय कर लिया है तो भरतके लिए अयोध्यामें रहना भी असम्भव है, शासनके सञ्चालनकी सम्भावनाकी चर्चा तो व्यर्थ है। कैकेयी इतनी मूर्ख नहीं है जो प्रजा-प्रधानोंको शक्तिके बलपर, दण्डके भयसे दबानेकी आशा कर सके। सम्पूर्ण राज्यकी प्रजा—पूरी जनशक्तिका एकमत जिसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ, अब उसे अयोध्यामें दो क्षण भी टिकनेको स्थान कहाँ। लगा कि पृथ्वी घूमने लगी है। नेत्रोंके आगे अन्धकार छा गया। कैकेयीने कहाँ सोचा था कि वह भरतको राजा बनानेके प्रयत्नमें अयोध्यासे सदाके लिए निर्वासित करने जा रही है। शासनकी वास्तविक शक्ति राजाके करोंमें नहीं होती, जन-प्रतिनिधियोंके करोंमें होती है, यह प्रजा-प्रधानोंने अपने निर्णयसे सिद्ध कर दिया था।

महाराज, सुमन्त्र सब चौंके, सब प्रसन्न हो गये। महाराजने मन ही मन अपने प्रजा-प्रधानोंपर गर्वका अनुभव किया; किन्तु श्रीराम अत्यन्त गम्भीर हो उठे। वे—केवल वे जानते हैं कि प्रजा-प्रधानोंका निर्णय किस प्रकार परिवर्तित हो सकता है। उसे परिवर्तित करनेका अपना दायित्व पूरा करनेका उन्होंने उसी क्षण निर्णय कर लिया।

'मूर्खे ! तू यहाँ अन्तःपुरमें बैठी पुत्रको सिंहासनपर बैठानेका स्वप्न देख रही है और तेरे इस कुत्सित प्रयत्नने नगरमें कौनसा दावानल प्रकट कर दिया है, तुझे कुछ पता है ?' महर्षि वशिष्ठकी सूचनाएँ अभी समाप्त नहीं हुई हैं, यह समझकर कैकेयी फटे फटे नेत्रोंसे उनके मुखकी ओर देखने लगी थी। महर्षि कठोर स्वरमें कहते गये—'तू, तेरा वह निरपराध पुत्र और तेरा पितृकुल उस दावानलकी महा ज्वालाको सह लेनेमें समर्थ है ? अयोध्याकी विजयवाहिनीकी हुंकार अश्वपति झेल सकेंगे ?'

केवल महामन्त्री सुमन्त्र जानते थे कि कुलगुरु क्या कहना चाहते हैं। महाराज दशरथ इन सूचनाओंको ऐसे सुन रहे थे जैसे अमृतकी घूंटें कण्ठसे उतर रही हों। श्रीरामने चौंककर कुलगुरुकी ओर देखा।

'महासेनापतिने तेरे वरदानका सम्वाद मिलते ही समस्त सेनानायकोंको, सेनाको शंखध्वनि करके पुकार लिया। उन्होंने चतुरङ्गिणी सेनाको यह कहकर भङ्ग कर दिया कि वे श्राचक्रवर्ती महाराजके प्रति निष्ठावान नहीं रहे। वे विद्रोह करेंगे, एकाकी विद्रोह; किन्तु एक भी सैनिक उनके अनुशासनसे पृथक होनेको प्रस्तुत नहीं हुआ। सम्पूर्ण सेनाने खड्ग खींचकर हाथ उठाकर कह दिया कि वे सब महासेनापतिके साथ हैं इस विद्रोहमें !' महर्षिकी सूचनाने लक्ष्मणको प्रफुल्ल कर दिया। अपने महासेनापतिको दौड़कर हृदयसे लगा लेनेकी इच्छा हुई उनकी। महासेनापतिने अयोध्याके उपयुक्त सिद्ध कर दिया अपनेको।

'महासेनापति खड्ग खींचे इस सदनके मध्यम कक्षमें स्वयं खड़े हैं। कैकेयी ! कान खोलकर सुनले !' महर्षि वशिष्ठका स्वर कदाचित ही जीवनमें इतना निष्ठुर हुआ हो—'सुमन्त्र कहते हैं कि कोई ब्राह्मण तुझे शाप क्यों नहीं देता; लेकिन किसी पतित्यक्ता बन्दिनी मूर्खा स्त्रीको शाप देनेकी आवश्यकता ? तेरे सदनमें कोई सेवक-सेविका होती भी तो वह अब सदनसे बाहर नहीं जासकती थी। कैकय जानेके सभी मार्गोंपर सैनिकोंने मोर्चे जमा दिये हैं। अयोध्यासे कोई चर, कोई सन्देश तू भरत या पिताको नहीं भेज सकती और रामभद्रके वन प्रस्थान करते ही जब यह

क्रुद्ध विद्रोही सैनिकोंकी सुसंगठित सेना कैकयको पदाक्रान्त करने दौड़ पड़ेगी, अश्वपति या युधाजित क्षुद्र पतङ्ग के समान आहुति बन जायँगे। तूने अपने पितृ-कुलका विनाश आमन्त्रित किया है !'

कैकेयी पहिली बार मूर्च्छित होकर गिरी। लेकिन अत्यन्त उपेक्षासे उसकी ओर देखकर श्रीचक्रवर्ती महाराज उठ खड़े हुए—'महासेनापति कहाँ हैं सुमन्त्र ! उन्हें पाप नहीं होगा। दशरथ उन्हें और उनकी सम्पूर्ण सेनाको अपने प्रति दायित्वसे मुक्त करता है। उन्हें जो उचित लगे, निर्णय लेने और उसको क्रिया-न्वित करनेमें स्वतन्त्र हैं। उनसे मेरा एक अनुरोध सुना दो कि राजकुमार भरत सर्वथा निर्दोष हैं, इसका विचार रखेंगे।'

'अम्ब ! ऐसा कुछ नहीं होगा। आप आश्वस्त हों।' श्रीरामने अत्यन्त त्वरा पूर्वक कैकेयीको सम्हाला—'महासेनापतिको मैं भली प्रकार जानता हूँ। वे अत्यन्त धर्मनिष्ठ राजभक्त हैं। मेरे प्रेमके कारण उन्होंने कुछ कहा, किया तो आप उन्हें क्षमा कर दें ! वे भाई भरतके प्रति भी वैसे ही निष्ठावान रहेंगे, जैसे अब तक सिंहासनके प्रति रहे हैं। मैं प्रजा-प्रतिनिधियोंको समझा दूँगा। आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप किसीके भी इस समयके कार्यको अपराध मानकर मनमें मत लावें। सबको क्षमा कर दें। अब मुझे आशीर्वाद दें। मैं महासेनापति तथा प्रजा-प्रतिनिधि-गणोंको समझाते जाऊँगा !'

कैकेयी स्तब्ध मुख देखती रह गयी श्रीरामका। महाराज पुनः धमसे बैठ गये। महर्षि वशिष्ठने देखा कि श्रीवैदेही पतिके पीछे जानेको प्रस्तुत हैं तो उन्होंने कहा—'यदि वधू सीता अयोध्या नहीं रहना चाहतीं तो पतिव्रताके सङ्कल्पको अन्यथा करनेकी शक्ति वशिष्ठमें भी नहीं है। अयोध्याका अभाग्य; किन्तु श्रीजनक-नन्दिनी अपने इन्हीं वस्त्रोंमें आभरण भूषिता ही जायँगी। इनके साथ अङ्ग रक्षक जायँगे।'

'यह सेवा करनेको अकेले लक्ष्मण पर्याप्त हैं।' श्रीरामने गुरुदेवके चरणोंमें मस्तक रखा। पिताको, माताओंको—कैकेयीको भी चरण स्पर्श करके प्रणाम किया। सबकी प्रदक्षिणा की। श्रीजनक-नन्दिनीने भी सभी सासुओंकी पद-वन्दना की। केवल लक्ष्मणने वहींसे सबको सिर झुका लिया।

श्रीरामके कक्षसे निकलनेको घूमते ही श्रीचक्रवर्ती महाराज मूर्च्छित होकर गिर पड़े। रानियोंने उन्हें सम्हाला। महर्षि श्रीरामके साथ ही आगे चलते हुए कक्षसे बाहर निकले। केवल कैकेयी बैठी रही—निस्तब्ध, नीरव। *

उर्मिलाकी ओजस्विता

श्रीराम सानुज सीताके साथ कैकेयीके अन्तःपुरसे जैसे ही निकले, महारानी सुमित्रा तत्काल वहाँसे उठीं। वे श्रीचक्रवर्ती महाराजके राजसदनकी मानो प्रत्यक्ष अधिदेवता—उन व्यवस्था स्वरूपाको प्रमाद स्पर्श ही नहीं करता। ऐसे दारुण व्यवस्था-क्षणने भी उन्हें विचलित नहीं किया। वे सीधे लक्ष्मणके अन्तःपुर पहुँचीं।

'वत्से! लक्ष्मणका स्वभाव ही ऐसा है कि इस समय वह विश्वमें किसीका भी स्मरण नहीं कर सकता। मेरे समीप भी वह आशीर्वाद लेने वत्स रामभद्रके भेजनेपर आया था। पदोंमें प्रणाम करती पुत्रवधूको हृदयसे लगाकर उन्होंने कहा—'वह तेरे समीप विदा लेने नहीं आया, इसका बुरा मत मानना।'

'अम्ब! इस सदनमें पद रखते ही आपने जो उपदेश दिया था, उर्मिलाने उसे अपना जीवनमन्त्र मान लिया। आपके पुत्र यदि आज मुझसे मिलने आते तो मैं मानती कि मैं उनकी पादसेविका होनेके योग्य सिद्ध नहीं हुई। मैं आजके उनके व्यवहारसे गौरवान्वित हुई। उन्होंने इस किंकरीको विश्वास करने योग्य माना।' उर्मिलाने कहा—'मातः! आपने ही तो मुझे वह प्रथमोपदेश दिया था कि नारीकी सफलता माता बननेमें अवश्य है; किन्तु उसकी सार्थकता पुरुषको मुक्त करदेनेमें है। नारी अयोग्य सिद्ध होती है पुरुषको अपने मोहपाशमें बाँधकर। माया नहीं,मुक्तिका पथ-प्रदर्शन करनेमें मानवीकी महानता है। मातः! आशीर्वाद दो कि यह आपकी अनुग्रहभाजना आपके पुत्रके उपयुक्त किंकरी सिद्ध हो!'

'वत्से! यह दारुणवियोग-काल केवल चतुर्दशवर्षीय है। वत्स श्रीरामभद्र भाई और भार्याके साथ सकुशल अयोध्या लौटेंगे। अयोध्या अवश्य पुनः आनन्दके दिन देखेगी।' महारानी सुमित्राके स्वरोंमें दृढ़, गम्भीर विश्वाससे भरी परावाणी बोल रही थी—'कैकेयीको पता नहीं कैसे यह मोह हो गया है। वे तेरी पूज्या हैं, यह भूलना मत। मैं मार्ग नहीं पारही हूँ कि उसे कैसे सम्हाल सकूँगी। वह मानिनी जो अन्तःपुरकी शासिका थी अत्यन्त तिरस्कृता हो चुकी है। वत्स भरतके आते ही वह कहींकी नहीं रहेगी। उसे तब अपनी भूल ज्ञात होगी; किन्तु तब तक समय निकल चुका होगा। उसको सम्हालनेमें मुझे तेरी सहायता अपेक्षित होगी।'

'अम्ब ! आपकी वाणी असत्यका स्पर्श नहीं करती, यही एकमात्र आशा होगयी कि ज्येष्ठ लौटेंगे।' उर्मिलाने अपने हृदयकी बात स्पष्ट कहदी—'अन्यथा मुझे तो अयोध्याके भविष्यमें अन्धकार ही दृष्टि पड़ता था।'

'क्यों ? वत्स रामभद्रको अयोध्या लौटनेसे कौन रोक सकता है ?' सुमित्राके नेत्रोंमें तेज आया—'त्रिभुवनकी कोई शक्ति उनकी इच्छामें व्याघात बननेकी शक्ति नहीं पा सकती।'

'लेकिन वे अयोध्या लौटनेकी क्यों इच्छा करेंगे अम्ब ? वियोगके दारुण वर्ष समाप्त हो जायँगे, जानती हूँ; किन्तु आपके पुत्र पुकार नहीं ले सकते अपनी इस पादसेविकाको ? स्वजनोंके लिए अयोध्या आनेकी तो उन्हें आवश्यकता नहीं है।' उर्मिलाने एक ऐसी सम्भावना व्यक्तकी जिसकी कल्पना भी अब तक किसीने नहीं की थी—'एक घटीके लिए भी कोई अनुज अयोध्याका सिंहासन स्वीकार करले तो उसके उच्छिष्ट सिंहासनपर आरूढ़ होने आना ज्येष्ठके अनुरूप होगा ? इस भवनमें आकर मैंने सुना कि कुलगुरुने कहा था—'महर्षि विश्वामित्रके समान दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता त्रिभुवनमें कोई हुआ नहीं, होनेकी सम्भावना भी नहीं।' महर्षिने अपने वे सब दिव्यास्त्र आपके वन जानेवाले दोनों पुत्रोंको दे दिये हैं। भोग विवर्जित मुनिवृत्तिसे रहनेकी अवधि छोटी माताने चतुर्दश वर्ष निश्चित की है। इसके व्यतीत होनेपर आपके पुत्र धनुष लेकर अग्रजके पार्श्वमें खड़े होंगे तो जहाँ होंगे, चक्रवर्ती सम्राटका सिंहासन वहाँ स्थापित होनेमें दो दिन भी लगेगा ? अयोध्यामें कोई भी हो उस समय, वह आपके पुत्रके समीप उपेक्षणीय सामन्त होकर बद्धाञ्जलि कर सहित उपस्थित होनेको बाध्य नहीं होगा ?'

'मत कह वत्से ! ऐसा सङ्कल्प मत कर ! सतीका सङ्कल्प सत्य हो जाता है और यह अत्यन्त अशुभ सङ्कल्प होगा !' सुमित्राके स्वरोंमें अनुरोध आया। अपनी अत्यन्त तेजस्विनी पुत्रवधूका चिबुक करसे ऊपर उठाया उन्होंने—'अयोध्या इक्ष्वाकुकुलकी अपनी भूमि है। इसका गौरव अक्षुण्ण रहनेमें सबका गौरव है। अपनी बहिन माण्डवीसे ईर्षा मत करना !'

'हाय अम्ब ! मैं उस दुःखियासे ईर्षा करूँगी ?' उर्मिलाके नेत्रोंसे बिन्दु टपकने लगे—'उसकी दशा देखी नहीं जाती है। मैं अभी उसके समीपसे लौटी हूँ। आपसे प्रार्थना करने वाली थी कि उसे सम्हालें। दया तो मुझे श्रुतिकीर्तिपर आरही है।'

'इन दोनोंको क्या हुआ है ?' महारानी सुमित्राने आश्चर्यसे पूछा।

'श्रुतिकीर्ति बच्ची है। उसे कुछ नहीं हुआ; किन्तु उसके इस भोलेपनको देखकर ही रुदनका वेग नहीं रुकता।' उर्मिलाने कहा—'वह अभी यह कहाँ समझ पाती है कि सबसे छोटे होनेका दण्ड दैव आपके परम मृदुल हृदय छोटे कुमारको ही देने वाला है।'

'शत्रुघ्नको क्या होने वाला है ?' महारानी सुमित्राको आज लगा कि पतिके अत्यन्त असह्य वियोगने उनकी इस कुसुमकलिका पुत्रवधूको उन्मादिनी नहीं किया तो इसकी प्रतिभाको असाधारण रूपमें उत्तेजित कर दिया है। इससे यह भविष्य-दर्शिनी होगयी है।

'अम्ब ! हमारे पिताको विदेह कहा जाता है; किन्तु अयोध्या आकर हमें अनुभव हुआ कि अनासक्ति इस नगरके जनोंके श्रीचरणोंके ध्यानका प्रसाद है।' उर्मिलाका स्वर व्यथासे बोझिल था—'आप ही कह रही थीं कि छोटी अम्बाका भ्रम उनके कुमारके लौटते ही दूर हो जायगा। वे यहाँ आकर अग्रजका स्वत्व स्वीकार कर लेंगे, इसकी कोई सम्भावना नहीं है और कहीं उन्होंने भी आपके बड़े पुत्रका अनुगमन किया—देवर अयोध्याको छोड़ सकेंगे ? उन्हींको तो अग्रजोंके आदेशका पालन करनेको विवश होना है। प्रसन्न हो पावेंगे वे अग्रजोंसे परित्यक्ता इस पुरीमें ? बेचारी श्रुतिकीर्ति—वह बच्ची कैसे इतना भार सम्हाल सकेगी ?'

'माण्डवी क्या कहती है ?' महारानी सुमित्रा गम्भीर होगयीं। पुत्रवधूने जो सम्भावना प्रकट की थी, वह उपेक्षणीय नहीं थी। कोई उपाय नहीं सूझता था उसका। बहुत गम्भीर होकर कोई मार्ग निकालना पड़ सकता है, यह बात ध्यानमें आचुकी; किन्तु अभी जो सम्मुख उपस्थित था, वही कहाँ कम कष्टप्रद था।

'वे क्या कहेंगी ? मैं उनके सदन गयी तो मुझसे लिपटकर रो पड़ीं—"उर्मिला ! व्यंग मत करना बहिन !" लगता था कि किसीने उनको महारानी कहकर अत्यन्त व्यथित कर दिया है। उनके रुदनका वेग रुकता नहीं था। वे ठीक ही कह रही थीं—"अम्बाको, पता नहीं क्या सूझा है। अपने लिए तो उन्होंने जीवन भरका असह्य दुःख आमन्त्रित कर ही लिया, मुझे भी कहींका नहीं छोड़ा। यदि मातामहके यहाँसे आकर आराध्यने अम्बाके कृत्यमें मेरी सङ्केत-सहमति भी समझ ली, माण्डवीको उनके श्रीचरणोंका दूरसे भी दर्शन प्राप्त करनेका अधिकार नहीं रह जायगा।"

'अम्ब ! माण्डवी जीजीके लिए अब एकमात्र आप ही आश्रय हैं।' उर्मिलाने अत्यन्त कातर स्वरमें अनुरोध किया—'जीजी ठीक कहती हैं कि उनके स्वामी

सिंहासनको स्वप्नमें भी स्वीकार नहीं कर सकते। अग्रजके समीप वे वनमें रहें तो भी कोई दु:खकी बात नहीं है; किन्तु मेरी भाँति माण्डवी जीजीको भी अपने स्वामीके चरण-स्पर्शका अधिकार तो रहना चाहिए। उनके वियोगकी भी अवधि-सीमा होना चाहिए।'

'भरत मेरी अवज्ञा नहीं करेंगे। मुझपर उनका विश्वास है!' महारानी सुमित्राने पुत्रवधूको पुन: अङ्कसे लगाया—'वत्से! उचित समयपर तुमने मुझे सतर्क किया है; किन्तु अपनी बहिनोंका तुम्हें ध्यान रखना है। वे मुझसे सङ्कोच करेंगी। भरतके आते ही कैकेयीकी सेवाका विशेष दायित्व तुमपर ही होगा। उसे दूसरा कोई सहन भी नहीं कर पावेगा। दासियों तकने उसका त्याग कर दिया है। अपनी व्यथा भूलना है तुम्हें और इन दारुण दिनोंमें राजसदनकी सेवामें मेरी सहायता करना है।'

'अम्ब! मैं गौरवान्वित हुई कि आपने मुझे अपनी सेवाके योग्य माना।' उर्मिलाने अपने नेत्र पोंछ लिये—'मेरी व्यथा क्या? स्वामी अग्रजके साथ कर्तव्य-पालन करने वन जारहे हैं और उनकी पूजनीया जननीने अपनी सेवाका—अपने दायित्वमें योग देनेका सौभाग्य दे दिया है इसे अनुकम्पा करके। उर्मिला तो आज धन्य होगयी। सार्थक हुआ इसका जीवन। आप आशीर्वाद दो कि यह कर्तव्यपर स्थिर रहनेमें सफल हो!'

महारानी सुमित्राने अपनी पद रज लेती पुत्रवधूको उठाया—'वत्से! तू इस वंशके उपयुक्त कुलवधू है!'

उस ओजस्विनीने उसी क्षणसे कर्तव्य सम्हाल लिया। अन्त:पुरकी—विशेषत: अपनी बहिनोंकी वह उसी दिनसे संरक्षिका होगयी।

प्रियजन-परितोष

अनुमानसे अधिक स्थिति विषम हो चुकी थी। सानुज श्रीराम जैसे ही कैकेयीके अन्तःपुरसे मध्यम कक्षमें पहुँचे, महासेनापतिने अपने हाथका खड्ग उनके चरणोंमें रखनेके लिए दोनों करोंमें लिया। यह प्रतीक था कि वे श्रीरामके प्रति भक्तिकी शपथ लेने जा रहे हैं। श्रीरामने कोई बाधा नहीं दी; किन्तु जैसे ही खड्ग नीचे रखकर महासेनापति उठे, श्रीरामने उनके वाम स्कन्धपर दक्षिण कर रखा–'आप भावावेशमें यह भूलते हैं कि पितृचरण विद्यमान हैं और राम उन्हें अपना देवता मानता है। उनकी आज्ञाका पालन राम अपने प्राण देकर भी कर सके तो अपना सौभाग्य मानेगा। रामका वही प्रिय हो सकता है जो पितृचरणोंका अनुवर्ती हो।'

महासेनापतिने मस्तक झुका रखा था। श्रीरामने स्नेहसिक्त स्वरमें फिर कहा—'श्रीचक्रवर्ती महाराजने आपको तथा सैनिकोंको राजद्रोही नहीं माना है। उन्होंने सबको क्षमा कर दिया है। आप खड्ग उठालें और महाराजके अनुवर्ती बने रहें।'

'आप मुझे क्षमा करें!' महासेनापतिने भरे कण्ठसे कहा–'आप जानते हैं कि सेनाकी भक्ति परिवर्तित नहीं होती और हो जाय तो पुनः लौटना अशक्य होजाता है। मैं स्वीकार भी करलूं कुछ, तो मैं एकाकी ही स्वीकार कर सकूँगा। सेनाने अब आपके चरणोंके प्रति निष्ठावान रहनेकी शपथ ली है।'

'अच्छी बात!' स्वस्थ, अविकम्प स्वरमें श्रीरामने कहा। झुककर महासेनापतिका खड्ग उठाकर उनके कटिसे बँधे कोषमें रखा।—'आप सैनिकोंको, सेनानायकोंको एकत्र होनेका आदेश दें।'

'तात! आप प्रजा-प्रतिनिधियोंको भी एकत्र करलें।' श्रीरामने सुमन्त्रकी ओर देखा—'राज्यसभाके मन्त्रिवर्गको भी मेरी ओरसे प्रार्थना कर दें कि राम आज राजसभामें उपस्थित नहीं हो सकता। पथपर ही सबके साथ मिलकर दो बातें कर लेना चाहता है।'

महामन्त्री सुमन्त्रने पुत्रको सङ्केत कर दिया। वे स्वयं इस समय श्रीचक्रवर्ती महाराजको दो क्षण भी एकाकी नहीं छोड़ना चाहते थे। महाराज केवल स्वामी

ही नहीं थे, सुमन्त्र उनके अन्तरङ्ग सुहृद थे। बार बार महाराज मूर्च्छित हो रहे थे। ऐसे समय मूर्च्छा दूर होनेपर वे कुछ कहना चाहें तो महामन्त्रीको उनके समीप रहना चाहिए।

'तात ! मेरी माता कौसल्या महायशस्विनी हैं, वृद्धा हैं, धार्मिका हैं !' श्रीरामने अन्तःपुरमें लौटते सुमन्त्रसे कहा—'आप पिताश्रीसे मेरा अनुरोध सुना द कि वे मेरी इन माताका ध्यान रखें। माता मेरा चिन्तन करते जीवित रहेंगी। मैं लौटकर उनके चरणोंका दर्शन करूँगा। कभी उन्होंने महाराजकी अवज्ञा नहीं की है। उन्हें कभी दुःख देखना नहीं पड़ा है। मेरे जानेसे वे बहुत दुःखी हैं। उनका शोक कम हो इसका महाराज और आप ध्यान रखें।'

'रामभद्र ! अब तो बड़ी महारानी ही महाराजको किञ्चित आश्वासन, आश्रय दे सकती हैं।' सुमन्त्रने अश्रुमोचन करते कहा—'महाराज अब मूर्च्छा दूर होनेपर इस अन्तःपुरसे अविलम्ब चले जायँगे और जीवनमें इधर नहीं देखेंगे। तुम्हारे समक्ष ही कैकेयीका त्याग कर दिया है उन्होंने।'

महाराजने त्याग कर दिया तो सुमन्त्रके लिए कैकेयी महारानी नहीं रह गयी। वह राजमाता बन सकेगी, सुमन्त्रको इसकी भी सम्भावना नहीं लगती।

सहसा सुमन्त्र अन्तःपुरमें जाकर फिर लौट आये। उनके साथ महारानी कौसल्या तथा दूसरी सब रानियाँ थीं। केवल कैकेयी अन्तःपुरमें बैठी रह गयी थी। कौसल्याजीने आते ही सीताको अङ्कमें भर लिया। बहुत धैर्य रखकर कहा—'वधू ! तुम धर्मज्ञा हो, पतिव्रता हो। ये मेरे पुत्र राम निर्धन बनकर वनमें जा रहे हैं। यही तुम्हारे देवता हैं। कष्टोंसे घबड़ाकर इनका अपमान मत करना। धर्ममें स्थिर यदि नारी नहीं है तो वह बिना तारकी वीणा है—व्यर्थ है। स्त्रीका सुख पतिके सत्कारमें है। सब संसारके सम्बन्धी परमित लौकिक सामग्री ही दे सकते हैं, अपरिमित परमपदका सौख्य केवल पति ही दे सकता है।'

'आर्याने अनुग्रह करके जो शिक्षा दी है, मैं उसे हृदयमें रखकर उसका पालन करूँगी।' श्रीजनक-नन्दिनीने सासकी पद वन्दना की। रोते-रोते अङ्कमाल देकर कौसल्याने उन्हें विदाके समय आशीर्वाद दिया।

श्रीरामने माताके चरणोंमें मस्तक रखा। हाथ जोड़कर बोले—'अब आप पिताजीकी ओर ध्यान दो। वनवासकी चौदह वर्षकी अवधि स्वप्नके समान व्यतीत हो जायगी। मैं अनुज और इस आपकी पुत्रवधूके साथ शीघ्र लौटूँगा।'

श्रीरामने चक्रवर्ती महाराजकी सभी रानियोंके चरण स्पर्श किये—'मैं आपका पुत्र हूँ। कभी प्रमादवश मुझसे कोई अवज्ञा हुई हो, कोई कठोरवाणी मुखसे निकल गयी हो तो मुझे क्षमा कर दें।'

सब रुदन कर रही थीं। श्रीराम, लक्ष्मण एवं वैदेहीने सबको प्रणाम करके सबकी प्रदक्षिणा की। महारानी सुमित्राने लक्ष्मणसे कहा—'वत्स! वनवास जाते समय श्रीरामकी सेवाके लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है। श्रीराम और वधू सीता जब वन देखनेमें लगे हों, निद्रित हों, तब भी तुम सावधान रहना। कोई प्रमाद मत करना। रामके दर्शनमें लगकर भी प्रमाद मत करना। इनकी रक्षामें सदा सतर्क रहना। वन जाओ और स्मरण रखो कि ये अग्रज कैसे भी हों, यही तुम्हारे सर्वस्व हैं। अग्रजकी सेवामें, आर्तकी रक्षामें और युद्धमें प्राणोंका उत्सर्ग इक्ष्वाकुलका धर्म है। वत्स! ये राम तुम्हारे पिता हैं, सीता माता हैं, इनके साथ वन तुम्हारे लिए अयोध्या ही है, अतः प्रसन्न चित्त प्रस्थान करो।'

'महाराज केवल राम-राम रट रहे हैं!' महामन्त्री सुमन्त्रने कहा–'उनकी व्यथाका पार नहीं है। कह रहे थे, "लगता है कि मैंने बहुत प्राणियोंकी हिंसा पिछले जन्मोंमें की है। बहुतोंको पुत्रहीन बनाया है। उसी पापका परिणाम मुझे मिला है। हाय! प्राण निकलते क्यों नहीं। मेरे पुत्र मेरे नेत्रोंके सम्मुख वल्कल धारण करें और मैं जीवित देखता रहा। एक कैकेयीके कारण यह सबको सहना पड़ रहा है!' महाराज बार-बार मूर्च्छित हो रहे हैं।'

'महाराजने वधू सीताके लिए वस्त्राभरण भेजे हैं!' सुमन्त्रने सेवकके द्वारा लाये वस्त्रादि सम्मुख रखे।

'तात! आप स्वयं मेरी असमर्थता समझकर क्षमा कर दें।' श्रीवैदेहीने वस्त्राभरणोंको हाथ जोड़कर सिर झुकाया—'हम वनवासी कोई भी अतिरिक्त वस्तु रखेंगे तो वह हमारे लिए भार ही बनेगी।'

महाराज क्रन्दन करते कह रहे थे—"श्रीराममें इतने सद्गुण न होते तो माता-पिता इन्हें वन कैसे भेज पाते।" सुमन्त्रने हाथ जोड़कर प्रार्थना की–'महाराजने मुझे आज्ञा दी है कि आप तीनोंको रथपर बैठाकर जनपदसे बाहर तक पहुँचा आऊँ।'

'हम सैनिकों तथा प्रजा-प्रतिनिधियोंसे विदा लेकर रथ स्वीकार कर लेंगे।' श्रीरामने नगरमें पैदल ही निकलना पसंद किया। सैनिक, प्रजा-प्रतिनिधिगण एवं नागरिकोंसे पथ रुद्धप्राय था।

'आप सब चाहते हैं कि राम पिताकी आज्ञाका पालन करके अवधि पूर्ण होनेपर अयोध्या लौटे ?' मेघ गम्भीर स्वरमें श्रीरामने सबको सम्बोधित किया–'यदि अयोध्याकी विजय-वाहिनी, उसके सेनानायक और प्रजा तथा प्रजा-प्रतिनिधिगण रामकी इच्छा अस्वीकार करते हैं तो मुझे मानना पड़ेगा कि आप सब नहीं चाहते कि राम अयोध्या लौटे।'

'हममें ऐसा अधम कोई नहीं है।' एक साथ सभीका स्वर गूँजा—'हम आज्ञापालन करेंगे।'

'तब राम चाहता है कि आप सब श्रीचक्रवर्ती महाराजका सम्मान करें। कुछ ऐसा न करें, जिससे महाराजको दुःख हो।' श्रीराम कहते गये–'भाई भरतका सम्मान, उनके आदेशका पालन राम अपना सम्मान तथा अपने आदेशका पालन मानेगा। भरतकी अवज्ञा रामकी अवज्ञा होगी।'

सैनिकोंके मस्तक झुक गये। प्रजा-प्रतिनिधियोंने मस्तक झुका लिये।

श्रीरामने आदेशके स्वरमें कहा—'सैनिकोंको अपने स्थानपर अभी लौट जाना चाहिए। प्रजा-प्रतिनिधिगण आशा है अपने वहिष्कारकी घोषणा रामपर अनुग्रह करके लौटा लेंगे।'

'हम किसीको विवश नहीं कर सकते।' प्रजा-प्रतिनिधियोंने अपनी विवशता प्रकट की—'हम घोषणा कर रहे हैं कि किसीको भी रानी कैकेयी अथवा राजकुमार भरतकी सेवाके लिए जातिच्युत नहीं किया जायगा; किन्तु रामभद्र हमें क्षमा करेंगे, किसीको भी किसीकी सेवाके लिए विवश करना शक्य नहीं है।'

श्रीरामको यह स्थिति स्वीकार करनी थी। यद्यपि वे जानते थे कि इससे माता कैकेयी और भरतको भी बहुत असुविधा हो सकती है। सुमन्त्र रथ लिये खड़े थे और राजसदनकी ओरसे आते कोलाहलने यह सूचित कर दिया कि महाराज स्वयं पैदल दौड़े आ रहे हैं। रानियाँ आरही थीं महाराजके साथ। यह स्थिति असह्य दुःखद थी। अतः पत्नी और भाईके साथ श्रीराम रथपर बैठ गये। उन्होंने सुमन्त्रसे रथ आगे बढ़ानेको कहा।

'तात ! यह क्या है ?' रथमें वस्त्र, आभरण, अस्त्र-शस्त्रोंकी ढेरी पहिलेसे सज्जित देखकर श्रीरामने महामन्त्रीसे पूछा।

'महाराजाधिराजने अपनी पुत्रवधूको चौदह वर्षके लिए वस्त्र तथा आभरण हैं दिये।' सुमन्त्रने प्रार्थना की—'वनमें आप दोनोंके लिए ये अस्त्र-शस्त्र हैं।'

'तात ! हम वनमें कोई वाहन अपने साथ नहीं रख सकते ।' श्रीरामने स्पष्ट कर दिया—'इस सामग्रीको आप रथके साथ अयोध्या लौटाकर हमपर अनुग्रह करेंगे । अभी इसे लौटानेसे पिताको बहुत कष्ट होगा ।'

नगरका राजपथ भरा था । बहुत अव्यवस्था थी । गज, अश्व, वृषभ, गायें व्याकुल होकर, बन्धन छिन्न करके अपने स्थानोंसे निकल आये थे और चिग्घाड़ रहे थे । वनकी ओर दौड़ रहे थे । पक्षी आकाशमें चीखते उड़ रहे थे । स्त्री-पुरुष सब कैकेयीको कठोर अपशब्द कह रहे थे ।

'सुमन्त्र ! रथका वेग मन्द करो, हम रामका मुख देखना चाहते हैं ।' लोग उच्च स्वरसे पुकार रहे थे । सुमन्त्र क्या करें, श्रीराम उन्हें तीव्रगतिसे रथ निकालनेको कह रहे थे ।

'धन्य हैं कुमार लक्ष्मण ! अग्रजके पीछे समस्त सुखोंको, राजभवनको त्यागकर वनके कष्टोंका वरण करनेवाला ऐसा अनुज देवताओंमें भी दुर्लभ है ।' लोगोंमें भूरि भूरि प्रशंसा उमड़ रही थी—'मैथिलराज-नन्दिनी पतिव्रताओंकी मुकुटमणि हैं ।'

महाराज दशरथ रानियोंके साथ भवनसे निकलकर दौड़े किन्तु दो पद दौड़कर मूर्च्छित होकर गिर पड़े । श्रीरामने महामन्त्रीसे कहा—'तात ! पिताश्री तथा माताओंको इस प्रकार पैदल दौड़ते देखना मेरे लिए अत्यन्त कष्टदायक है । आप रथको वेगपूर्वक ले चलो !'

'राम ! रामभद्र ! वत्स श्रीराम ! रथ रोक लो !' पीछेसे महारानी कौसल्या, महाराज दशरथ पुकारते दौड़े चेतना प्राप्त होते ही । मूर्च्छित होकर गिरे । श्रीरामने कहा—महामन्त्रीसे—'तात ! दुःखके इन क्षणोंको दीर्घ करना अच्छा नहीं है । इस समय रथ न देखकर महाराज लौटेंगे तो वहाँ उनकी सेवा हो सकेगी ।'

विवश होकर सुमन्त्रको रथका वेग बढ़ाना पड़ा । रथ कुलगुरुके आश्रम-द्वारपर जाकर रुका ।

तमसा तीर

अयोध्याने ऐसा दारुण दिन नहीं देखा था। सृष्टिके लिए भी अत्यन्त अमङ्गल दिन—मकरका गुरु, मीनका बुध, कर्कका मङ्गल, वृश्चिकका चन्द्रमा, ये तो नीच राशिगत और शेष ग्रह शत्रुगृही अथवा दुःस्थानमें। शुभग्रह केन्द्राधिपति होकर दूषित। अशुभस्थान, अस्त, म्लानादि दोषोंसे सब दूषित थे। दिशाएँ म्लान, रजःछन्न होरही थीं।

श्रीराम गुरुके आश्रम-द्वारपर रथसे उतरे। महर्षि तथा देवी अरुन्धती आश्रम वासियोंके साथ द्वारपर ही थे। भाई तथा भार्याके साथ श्रीरामने कुलगुरु, गुरुपत्नी तथा सभी ब्राह्मणोंको प्रणाम किया। वे कुलगुरुसे अञ्जलि बाँधकर बोले—'देव ! मेरे तथा लक्ष्मणके भवनके सेवक, सेविकाओंकी तथा मेरी माता कौसल्याकी देखभाल अब श्रीचरणोंपर निर्भर है। इन तीनों सदनोंमें जो यहाँके सेवक हैं, जो जनकपुर या ननिहालसे आये सेवक या सेविकाएँ हैं, उनकी वृत्ति-व्यवस्था मैंने कर दी है; किन्तु ये अत्यन्त दुःखी हैं। अब श्रीचरण ही इनके आश्रय हैं।'

'वत्स रामभद्र ! तुम लोकमङ्गलके लिए वन जा रहे हो यह मैं जानता हूँ। त्रिभुवनका शल्योद्धरण तुम्हारे अतिरिक्त कोई कर नहीं सकता। तुम्हारी यात्रा सफल हो !' महर्षिने आशीर्वाद तथा आश्वासन दिया—'तुम जिनकी चिन्ता करो, उनको असुविधा देनेकी शक्ति किसी अधिदेवतामें नहीं है। वशिष्ठ अयोध्यामें उन सबका ध्यान रखेगा। तुम आश्वस्त रहो, उनकी उपेक्षा कोई नहीं कर सकेगा।'

'धन्य राम !' लोगोंमें चर्चा चल रही थी—'राज्य गया, सुख गया, स्वयं भार्याके साथ वन जा रहे हैं और अब भी राजसदनमें रहने वाले अपने सेवक-सेविकाओंके लिए चिन्तित हैं ! आश्रित जन वात्सल्य ऐसा कहाँ मिलेगा ?'

'देव ! एक अनुरोध और।' श्रीरामने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया—'अम्बा कैकेयीकी अवज्ञा, उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। महाराज उनसे रुष्ट हो गये हैं। भरत क्या करेंगे, कहा नहीं जा सकता।'

'वत्स ! वशिष्ठ भी इस विषयमें असमर्थ है।' महर्षिने स्पष्ट कहा—'अब कैकेयी अयोध्याके जनोंका सम्मान नहीं पा सकती। मैं केवल इतना कर सकता हूँ कि उसके साथ कोई अनिष्ट न घटित हो।'

सचमुच श्रीचक्रवर्ती महाराज कैकेयीसे अत्यन्त रुष्ट होगये थे। अन्तःपुरके लोगोंने उन्हें तथा रानियोंको यह कहकर रोक दिया था—'जिस प्रियजनसे शीघ्र मिलनेकी कामना हो, उसे दूर तक पहुँचाने नहीं जाना चाहिए। जो चाहते हैं कि श्रीराम शीघ्र लौटें, वे दूर तक न जावें।'

सब लोग—महाराजके साथके सब लोग रुक गये थे राजभवनके द्वारसे थोड़ी ही दूरीपर। जब तक रथ दीखता रहा, महाराज खड़े देखते रहे। कैकेयीसे उन्होंने कह दिया था—'तुमसे और तुम्हारे बन्धुबान्धवोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरी देह कौसल्याके सदनमें छूटेगी। मेरी उत्तर क्रियामें किसी प्रकार भाग लेनेका तुम्हें स्वत्व नहीं है।'

'मैं कैकेयीका मुख नहीं देखना चाहता।' जब रथ दृष्टि पड़ना बन्द होगया, महाराज मूर्च्छित होगये थे। चेतना लौटते ही बोले—'मुझे कौसल्याके सदनमें पहुँचा दो, भरतकी इच्छा हो तो वह आकर राज्य करे।'

'देवि ! रामके साथ मेरी दृष्टि-शक्ति चली गयी।' महाराजने कौसल्याजीसे उनके सदनमें पहुँचकर कहा—'तुम स्पर्श करो तो पता चले कि शरीरमें स्पर्शज्ञान है या वह भी विदा हो गया।'

'महाराज ! इस सेविकाका स्पर्श तो आपको बहुत वर्षोंसे अप्रिय होगया था।' दुःखके अत्यन्त आवेगमें महारानी कौसल्या कह गयीं—'ऐसा न होता तो इस भाग्यहीनाके पुत्रको महाराज निर्वासित कर देते। अब मैं स्पर्श करूँ········।'

'देवि ! मैं स्वयं अपने दोषसे मर रहा हूँ।' अत्यन्त कातर कण्ठसे महाराजने कहा—'अब तुम तो व्यंग वचनोंसे मुझ मरणासन्नको मत मारो। मैं मृत्युसे पूर्वके कुछ क्षण तुम्हारे आश्रयमें व्यतीत करने आया हूँ।'

'जीजी ! आप पतिव्रता हो।' महारानी सुमित्राने धीरेसे कानोंके समीप मुख लेजाकर कहा—'इस समय महाराजको आपकी सेवा और दयाकी आवश्यकता है।'

'हाय बहिन ! अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राट आज दयनीय होगये हैं।' महारानी कौसल्या सावधान होकर भी रो पड़ीं—'तुम मेरी सहायता करो। अपने रामके जानेसे कौसल्याकी बुद्धि भी चली गयी है।'

'जीजी ! विश्वास करो कि वत्स राम आनन्दकन्द हैं।' महारानी सुमित्रा-का धैर्य, उनकी स्थिर बुद्धि अनुपमेय है। उन्होंने पूरे विश्वाससे कहा—'आपकी तपस्या, आपके पुण्य वनमें उन्हें दुःखी नहीं होने देंगे।'

'बहिन ! तुम्हारी वाणी सफल हो।' कौसल्याजी पतिकी सेवामें लग गयीं। उस समय सबसे बड़ी सेवा महाराजकी यही थी कि उन्हें श्रीरामके समाचार दिये जायँ। महारानी सुमित्राने यह व्यवस्था अविलम्ब की। कुछ क्षणोंके अन्तरसे सेवक आकर अन्तःपुरकी रक्षिकाको सम्वाद देने लगे। सेविकासे प्राप्त वह वर्णन महारानी कौसल्या महाराजको सुनाने लगीं। वे पतिका सिर अङ्कमें लेकर स्थिर बैठ गयी थीं।

श्रीराम, लक्ष्मण और वैदेही गुरुदेवको, गुरुपत्नीको, ब्राह्मणोंको प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा करके चलने ही वाले थे कि महर्षिकी कामधेनु नन्दिनी अपने बछड़ेके साथ हुंकार करती आगे आ गयी। दोनों भाइयोंने भूमिमें पड़कर उस गौ को दण्डवत प्रणिपात किया तो नन्दिनीने हुंकार करके उनका सिर सूँघा। अपने पदोंमें मस्तक रखती श्रीवैदेहीके सिरपर उसने धीरेसे ग्रीवा रख दिया।

'वत्स रामभद्र ! नन्दिनीका आशीर्वाद व्यर्थ नहीं जाता।' महर्षि वशिष्ठ प्रसन्न होकर बोले—'मैं इसके सङ्केत भली प्रकार समझता हूँ। यह तुम्हें महान विजय प्राप्त करनेका और जनककुमारीको सौभाग्यवती रहनेका आशीर्वाद दे रही है।'

'अम्ब ! राम अयोध्याकी रक्षाका दायित्व आपपर छोड़ता है।' श्रीरामने अञ्जलि बाँधकर गौसे प्रार्थना की।

'हो गया वत्स ! तुम्हारे लौटने तक अब अयोध्याकी ओर दृष्टि उठाने वाला अपना विनाश आमन्त्रित करेगा।' जैसे ही नन्दिनीने अगले दक्षिण पादके खुरसे भूमि कुरेदकर स्वीकृति दी, महर्षिने कहा—'त्रिभुवनके अद्वितीय अस्त्रज्ञ विश्वामित्रकी उग्रतम तपस्यासे प्राप्त दिव्यास्त्र-शक्ति भी नन्दिनीकी एक हुंकृतिके सम्मुख निष्प्रभ हो गयी थी। नन्दिनीने तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर ली है। सुर-असुरोंकी सम्मिलित शक्ति भी अब अयोध्याका अनिष्ट करनेमें असमर्थ है। तुम वनमें जाते भी राज्यको निष्कण्टक करके जा रहे हो ! अब इधरसे निश्चिन्त रहो !'

'आप सबका मुझपर असीम अनुराग है; किन्तु मेरे लिए आप सब भरतसे स्नेह करें। भरत आपका सम्यक पालन करेंगे। वे योग्य हैं, अनुरूप स्वामी हैं, उनमें राजाके योग्य सब सद्गुण हैं।' श्रीरामने देखा कि प्रजाके सब लोग उनके रथके पीछे दौड़ते चले आरहे हैं तो रथको रोककर सबको समझाने लगे। नन्दिनीकी

परिक्रमा करके वे रथपर बैठे थे। ऐसे समझानेसे कहीं वे प्रीतिपगे प्राण पीछे लौटने वाले थे, एक भी व्यक्ति दो पद भी पीछे नहीं हटा।

'हम अपनी अग्नियाँ अपने साथ लाये हैं।' ब्राह्मणोंका समुदाय आगे आ गया। उनमें वृद्ध, विद्वान ब्राह्मण थे—'हमारे समीप बाजपेय यज्ञके वे छत्र हैं जो तुम्हारे पिताने यज्ञके समय दान किये थे हमें। हमारे लिए वे अनुपयोगी थे। अब उनको सार्थक होने दो। तुम आतपमें चलोगे तब हम उनसे तुमपर छाया किये रहेंगे। हमको छोड़कर मत जाओ। हम साथ रहेंगे। हम तो वनवासके अभ्यस्त तपस्वी हैं, हमारी ऐसी कोई आवश्यकता नहीं जिसके लिए तुम्हें कभी कुछ सोचना पड़े। हमें नगरकी अपेक्षा वन प्रिय है।'

'वत्स! ये अश्व, ये गज, ये वृषभ और गायें भी नगरमें लौटनेको उद्यत नहीं हैं। ये पक्षी तक तुम्हारे साथ चल रहे हैं। ये वृक्ष-लताएँ तुम्हारे वियोगमें पत्र-त्याग कर रहे हैं। हम तो मनुष्य हैं।' एक वृद्ध नागरिकने रोते-रोते कहा—'हमको तुम लौटनेको कहते हो? अयोध्या हमको प्रज्वलित चिता दीखती है। उधर हमारी दृष्टि नहीं जाती, पद जा सकेंगे?'

तपस्वी ब्राह्मण, वृद्धजन पैदल चलते हों तो श्रीराम रथारुढ़ कैसे रह सकते थे। वे भाई और भार्याके साथ रथसे उतर आये। पैदल ही वे तमसा नदीके तट तक उस दिन पहुँचे। तमसातट तक पहुँचनेमें सायंकाल होगया था। दिन भरके निर्जल व्रती थे सब। स्नान करके श्रीरामके साथ सब सन्ध्या-तर्पणमें लग गये।

सूर्यास्त हुआ! सुमन्त्रने पत्र-शैय्या बना दी। श्रीरामने अनुजसे कहा—'लक्ष्मण! मुझे वनके वृक्ष रुदन करते लगते हैं। इस समय मुझे अपने वृद्ध, वियोग विह्वल पिता तथा माताका स्मरण आ रहा है। भरतके आनेमें विलम्ब है। वे आकर पिताको आश्वस्त करेंगे; किन्तु तब तक तुम अयोध्या रहकर उनको सहारा दो। भरतके आजानेपर तुम मेरे समीप आ सकते हो। श्रीमैथिली भी महामन्त्री-के साथ रथमें लौटें। यें मेरी माताको सम्हालें। मैं अकेला वनमें रहकर अपने सब काम सरलतासे कर सकता हूँ।'

'आर्य! आपको छोड़कर ये अम्बा जीवित रहेंगी?' लक्ष्मणने रोते हुए अग्रजके चरण पकड़े—'यह आपका सेवक भी जीवित आपके समीपसे लौट नहीं सकता। आप अब लौटनेकी चर्चा मत करें।'

श्रीराम मौन हो गये। उनका मुख गम्भीर हो गया। कुछ देर पीछे दीर्घ-श्वास ली उन्होंने और श्री वैदेहीसे बोले—'निद्राका अभिनय करना पड़ेगा देवि! दूसरा मार्ग नहीं है।'

त्रोण और धनुष पत्रशय्यापर मध्यमें रखकर उसके एक ओर श्रीराम तथा दूसरी ओर श्रीजनक-नन्दिनीने शयन किया। लक्ष्मणने धनुष चढ़ाया। थोड़ी दूर-पर वीरासनसे बैठ गये दक्षिण करमें वाण लेकर। श्री सौमित्रकी चौदह वर्षके लिए यह रात्रिचर्या बन गयी। सुमन्त्रने अश्व रथसे खोलकर वृक्षशाखासे बाँध दिये थे। अश्वोंने न सरिताका जल पिया था, न सम्मुख पड़े तृणको मुख लगाया।

श्रीसीतारामने कल भी उपवास किया था। अयोध्याके सभी मनुष्य, पशु, पक्षी तक आज निर्जल थे। सब पुरवासी दिनभर रुदनसे व्याकुल रहे थे। पूरे दिन खड़े या चलते रहे थे। क्षुधा, तृषा एवं श्रान्तिके कारण सब भूमिपर इधर-उधर बैठे और सो गये वहीं लेटकर।

'तात ! ये सब लोग मेरे लिए गृह त्यागकर आए हैं। ये प्राण दे देंगे; किन्तु लौटेंगे नहीं।' श्रीरामने मध्यरात्रि व्यतीत होते ही उठकर सुमन्त्रको समीप बुलाकर कहा—'अत: रथ जोड़ लें। अयोध्याके वाह्योपवन तक रथ लौटावें और फिर रथ-चक्र रेखा मिटाते वनकी ओर निकल चलें।'

श्रीसीता और सौमित्रके साथ श्रीराम रथमें बैठे। नि:शब्द रथ दो घटी अयोध्याकी ओर चला, फिर रथ-चक्र चिह्न मिटाते सुमन्त्रने वनकी ओर रथ बढ़ा दिया।

'श्रीराम चले गये !' ब्रह्ममुहूर्तसे भी पूर्व एक नागरिककी निद्रा टूटी। वह चीत्कार कर उठा। फिर तो हा-हाकार होने लगा। एक बार तो सबने चिता बनाकर अग्नि-प्रवेशका निर्णय किया, लेकिन तभी रथके चक्रोंकी रेखा एकको दीख गयी। सब उस रेखाको देखते चलने लगे। वे चौंके तो तब जब महर्षि वशिष्ठ आश्रम-द्वारपर मिले उन्हें। महर्षिने सबको समझाकर उनके गृहोंको लौटाया।

शृङ्गबेरपुर

'आप दोनों इस वेशमें ?' श्रीचक्रवर्ती महाराजका कोविदार ध्वज रथ आरहा है, यह समाचार निषादराज गुहको उनके लोगोंने दिया था। गुह पिताके स्वर्ग-वासी होनेपर निषादपति होगये थे। दूरसे आते रथकी ध्वजा दीखते ही निषाद दौड़ पड़े थे गुहको समाचार देने। गुहने उपहार सजाये और कुछ प्रधान निषादोंके साथ शीघ्रता पूर्वक आगे आये थे स्वागत करने। राजकीय रथ है तो स्वयं श्रीचक्रवर्ती महाराज न भी हों तो राजकुलके पुरुष होंगे उसमें, यह गुहने समझ लिया था; किन्तु रथसे जो उतरे, उन्हें देखते ही हाथ जोड़ गुह नेत्रफाड़े देखते रह गये। वल्कलवसन श्रीराम-लक्ष्मण, उनके साथ श्रीजनक-नन्दिनी केवल महामन्त्री सुमन्त्रके साथ आवेंगे, यह अकल्पित बात थी।

गुहने भूमिमें पड़कर दण्डवत प्रणाम किया था। श्रीरामने रथसे कूदकर उन्हें हृदयसे लगा लिया था। लेकिन कज्जल कृष्णवर्ण, वज्रदेह, केशरीको भी केवल भुजाओंमें दबाकर मार देने वाले, महागजोंको सूंड़ पकड़कर पीछे घसीट ले जाने वाले विख्यात बलशाली निषादराज गुह श्रीरामको देखते ही बालकोंके समान फूटकर रोपड़े थे। उनका हृदय चीत्कार कर उठा था—'राज्यको धिक्कार है, जिसके पीछे राजकुलोंमें षड्यन्त्र चलते रहते हैं। श्रीराम जैसे सद्गुणैकधामको जहाँ इस प्रकार निर्वासित होना पड़ता है।'

रात्रिमें तमसातटसे रथ अयोध्याके वाह्योपवन तक जाकर मुड़ा था और वेदश्रुति नदी[1]को रथसे ही पार करके दक्षिण दिशाकी ओर चले थे। प्रातः स्नान सन्ध्या श्रीरामने गोमती तटपर भाई तथा महामन्त्रीके साथ किया था। गोमतीको देखकर सरयूका स्मरण आगया था। मार्गमें देवमन्दिरोंकी प्रदक्षिण करते, विप्रोंका सम्मान करते मध्याह्नमें गङ्गातट पहुँचे थे। शैवाल रहित निर्मल सुरसरिका प्रवाह देखकर श्रीराम प्रसन्न हुए। सबने मध्याह्न स्नान, सन्ध्यादि सम्पन्न की। गङ्गातटके ऋषि-मुनियोंके आश्रम मिलते गये। ऋषियोंकी वन्दना करते गङ्गातट

---

[1]वाल्मीकीय रामायणमें वर्णित सरिताओं, वनों, पर्वतोंका वर्तमान नाम, स्थान निर्देश सम्भव नहीं है। त्रेतासे अब तकके दीर्घकालमें उनमें अनेक सरिताओं का लोप होगया होगा। पर्वत, वनादि भी लुप्त हुए हो सकते हैं।

से ही चलता रथ शृङ्गबेरपुर पहुँचा था। यहाँ पहुँचनेमें दिनका चतुर्थ प्रहर आधे के लगभग व्यतीत हो चुका था। श्रीरामने कह दिया था—'हम यहीं रात्रि-विश्राम करेंगे।'

'अयोध्यामें क्या हुआ है, यह जाननेकी मुझे आवश्यकता नहीं है।' गुहने दो क्षणमें अपनेको स्थिर कर लिया—'गुह और इसका सर्वस्व आपका है। आप इस जनकी झोपड़ीमें पधारें, ऐसी प्रार्थना मैं नहीं कर सकता। हम निषादोंका अपावन आवास आपके योग्य नहीं है; किन्तु निषाद दुर्बल अथवा कापुरुष होते हैं, ऐसा कहनेका साहस कभी किसीने नहीं किया। आज आप यहाँ रात्रि-विश्राम करें। कल प्रातः निषादोंकी, समस्त वनवासियोंकी विशाल सेना आपके श्रीचरणोंमें गुह उपस्थित कर देगा। हमारे जनपदाति हैं; किन्तु रथ अथवा गज सेनाको पराजित करना जानते हैं। शृङ्गबेरपुरसे सम्पूर्ण दक्षिणापथका अरण्यानी साम्राज्य सप्ताहके भीतर आपके छत्रकी छाया प्राप्त करके सनाथ हो!'

'मित्र! मैं तुम्हारा प्रेम और शक्ति भी जानता हूँ।' श्रीरामने निषादराजके कन्धेपर दक्षिण कर रखा—'गुहको मित्र पाकर सुरपति भी गौरवान्वित ही होंगे। लेकिन हम पिताकी आज्ञासे वन आये हैं। चौदह वर्ष तक मुनिवृत्ति रखनी है हमें। रामको अपने व्रतमें दृढ़ रहनेमें सहयोग दो। हम तुम्हारी उपहार सामग्रीमें से केवल अश्वोंके लिए आया तृण स्वीकार कर सकते हैं।'

निषादराजके सेवक अब तक शैय्या ले आये थे। उत्तम भोजन सामग्री—कंद, फल, दूध, दधि—आचुकी थी; किन्तु अर्घ्य देनेका भी अवसर उन्हें नहीं मिला। सुमन्त्रने एक इंगुदी वृक्षके नीचे रथ रोका था। गुहने स्वयं सघन शिंशुपा (सिरीष) के नीचे कुशास्तरण करके उसपर कोमल किसलय सजाये और उसके ऊपर पुष्पों की पंखड़ियोंको भली प्रकार आस्तृत किया।

श्रीराम, लक्ष्मण तथा महामन्त्रीने सायंकालीन स्नान करके सन्ध्या की। श्रीसीतारामने लक्ष्मणका लाया गङ्गाजल मात्र पान किया। सुमन्त्र और लक्ष्मणने वह भी नहीं लिया। तीन दिनके निर्जल व्रतका पारण इस प्रकार गङ्गाजलसे हुआ था।

श्रीसीतारामने पत्र शैय्यापर शयन किया मध्यमें धनुष तथा त्रोण रखकर तब लक्ष्मण धनुष चढ़ाकर सावधान बैठ गये। निषादराज गुहने चारों ओर प्रहरी नियुक्त किये। स्वयं धनुष चढ़ाये, त्रोण बाँधे लक्ष्मणके समीप पहुँचकर बोले—

'कुमार ! आपके लिए मैंने पृथक पत्र-शैय्या सज्जित कर दी है। आपके अग्रज मेरे प्राण हैं। उनकी रक्षामें मुझसे प्रमाद हो नहीं सकता। आप धनुष उतारकर विश्राम करें।'

'मित्र ! तुम्हारी रक्षा-व्यवस्थामें मुझे किञ्चित भी सन्देह नहीं है; किन्तु मेरा कर्तव्य मुझे बाध्य करता है।' लक्ष्मणने नम्र स्वरमें कहा—'अम्बाके साथ अग्रजको भूमि-शयन करते देखकर मैं कैसे शयन कर सकता हूँ। मुझे निद्रा कैसे आसकती है। उससे तो मेरी व्याकुलता ही बढ़ेगी।'

'तुम सत्य कहते हो कुमार !' गुह धनुष चढ़ाये लक्ष्मणके समीप ही वीरासनसे बैठ गये—'चक्रवर्ती महाराज अयोध्यानाथकी पुत्रवधू, महाराज विदेहकी भूमि-सम्भवा दिव्य पुत्री, समस्त सद्गुणैकधाम श्रीरामकी सुमनसुकुमार भार्या भूमिपर तृण-शयन करें, यह देखकर किसका हृदय विदीर्ण नहीं होगा।'

'कह नहीं सकता कि अयोध्यामें आज क्या होगा। यदि यशस्विनी अम्बा कौसल्या धैर्य न रख सकें, पुत्र वियोगमें प्राण त्याग दें तो मेरी माता दो क्षण भा जीवित नहीं रहेंगी और न मेरे पिता जीवन-धारण कर सकेंगे।' लक्ष्मणके कमल-लोचनोंसे बिन्दु टपकने लगे—'कोई नहीं बचेगा तब अयोध्यामें। कुलगुरु अमरकाय हैं, पर वे अपने पिताके स्थानपर ब्रह्मलोक चले जायँगे। बचेगी केवल कैकेयी और उसकी कुब्जा दासी मन्थरा। अयोध्याको महाश्मशान तो उसने बना ही दिया है।'

'जहाँसे श्रीराम चले आये, उस अयोध्याको कुछ भी हो' निषादराजके नेत्र लगे थे श्रीरामके चरणोंपर—'इन किंशुकारुण श्रीचरणोंसे कैसे चलेंगे ये दारुण वनपथमें। कैसे चलेंगी श्रीवैदेही। वनके कष्ट कैसे सहेगी इनकी यह भुवनपावन अतिशय कोमल काया। वन क्या इनके योग्य है।'

'सखे ! ऋषि-मुनियों से सुना है, जानता हूँ कि मेरे ये अग्रज सर्वसमर्थ हैं। इनकी असङ्गता; अकल्पित सहिष्णुताका अनेक अवसरोंपर साक्षी रहा हूँ। ये अम्बा निखिल भुवन विधात्री हैं। समस्त प्रकृति इनके सङ्केतोंका अप्रमत्त पालन करती है' लक्ष्मण ने रुदन करते कहा—'यह सब जानना समझना कहाँ काम आता है। इनको सम्मुख इस अवस्थामें देखकर हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है।'

दोनों रात्रिभर रुदन करते रहे। कोकिलकी कुहूध्वनि और मयूरोंका केकारव गूंजा। श्रीराम उठ बैठे। स्नानसे पूर्व उन्होंने निषादराजसे कहा—'मित्र !'

वनमें इन केशोंको स्वच्छ बनाये रखनेका प्रयत्न सम्भव नहीं है। हमको कुछ वट-दुग्धकी आवश्यकता होगी अभी।'

सूर्योदयसे पूर्व किसी भी वृक्ष, क्षुपसे रस अथवा दूध अधिक निकलता है। गुहके सङ्केतपर पर्याप्त वट-क्षीर आगया था। सन्ध्या तर्पण करके श्रीरामने भाई-के साथ अपनी अलकोंको उस दुग्धसे चिपकाकर जटाका रूप दिया। सुमन्त्र, गुह तथा सभीके लिए यह दृश्य अत्यन्त दारुण था। वे सघन कृष्ण कोमल घुँघराली अलकें केवल पाँच जटाओंके रूपमें रह गयीं। उनको भी समेटकर मुकुटके समान मस्तकके ऊपर बाँध लिया दोनों भाइयोंने।

'मेरे लिए क्या आज्ञा है?' सुमन्त्र हाथ जोड़कर खड़े हो गये। हृदय कहता था—'कोई देवता कृपा करे, कोई पुण्य सहायक हो जाय और ये साथ चलनेकी अनुमति दे दें।'

'तात! आप महाराजके समीप पधारें।' श्रीरामने महामन्त्रीको कर-स्पर्श करके समझाया—'आप पिताजीके अन्तरङ्ग सखा हैं। पिताजी कितने दुःखी हैं, आप जानते हैं। इस समय आपको उनके समीप होना चाहिए। आप उन्हें आश्वासन देना। माता कैकेयीको मेरा प्रणाम कहना और भरतको शीघ्र बुला लेना।'

श्रीजानकी तथा लक्ष्मणने भी गुरुजनोंको प्रणाम निवेदन किया। सुमन्त्र क्रन्दन कर रहे थे—'मैं आपके बिना पुरीमें कैसे जा सकूँगा। मैं लोगोंसे कहूँगा कि मैं श्रीरामको वधू वैदेहीके साथ वन भेज आया?'

'तात! मुझपर आपका अपार स्नेह है; किन्तु'—श्रीरामने समझाया—'आप सच्चे स्वामिभक्त हो। पिताजीके अन्तरङ्ग सखा हो। आपके लौटनेपर अम्बा कैकेयीको विश्वास हो जायगा कि राम वन चले गये। अन्यथा उन्हें भ्रम रहेगा कि राजाने हमें कहीं अन्यत्र—सामन्तराज्यमें भेज दिया है। वे राजाको सत्यवादी समझें। भरतको राजा हुआ देखकर वे प्रसन्न हों। आपका लौटना अनेक दृष्टियों से आवश्यक है।'

'यह सामग्री?' सुमन्त्रने अत्यन्त दीन स्वरमें कहा।

'इसे आप लौटा ले जायँ।' रथमें आयी सब सामग्री श्रीरामने लौटा दी—'पिताजीसे प्रार्थना करेंगे कि हम इसको ढोकर कहीं ले जानेमें असमर्थ हैं।'

सुमन्त्र खड़े देखते रहे। निषादराजने गङ्गातटपर उत्तम नौका उपस्थित

कर दी। महामन्त्रीको प्रणाम करके श्रीरामने हाथका सहारा देकर श्रीवैदेहीको नौकापर चढ़ाया और तब स्वयं जाकर बैठ गये। निषादराजके सहायक नौका पकड़े रहे। कुमार लक्ष्मणलालने अग्रजका और अपना भी धनुष, त्रोण, पेटिका, खन्ती, कुल्हाड़ी सम्हालकर रखा। स्वयं निषादराज गुह नौका खेने बैठ गये।

श्रीरामने नौकामें बैठकर जप प्रारम्भ कर दिया। सीताजीने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'देवि भगवत्पदी त्रिपथगे ! पति और देवरके साथ लौटकर मैं आपकी सविधि पूजा करूँगी। आपके तटपर यहाँ गोदान, वस्त्रदान, देवपूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन कराऊँगी।'

गङ्गामें हिलोरें उठीं और उनमें स्पष्ट शब्द सुन पड़ा—'देवि ! आप निखिल लोकेश्वरीने मुझे गौरव दिया ! आपकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होंगी।'

नौका दक्षिण तटपर पहुँची। निषादराजने कूदकर नौकाको पकड़ लिया। श्रीराम उतरे। उन्होंने सहारा देकर श्रीमैथिलीको उतारा। लक्ष्मणने धनुषादि उतारे।

अब दोनों भाइयोंने त्रोण पीठपर कसे। लक्ष्मणने करमें कुल्हाड़ी, खन्ती लिया और पेटिका कन्धेपर बाँधी। निषादराजने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'मुझे प्रयाग तक अवश्य साथ चलनेकी अनुमति दें। पथ मेरा पहिचाना है।'

श्रीरामने गुहको सङ्केतसे ही अनुमति दे दी।

सुमन्त्रको विदा

'अयोध्या सर्वथा अनाथ हो जायगी लक्ष्मण !' गङ्गातटपर हाथ जोड़े महामन्त्री सुमन्त्रको देखकर श्रीरामने भाईसे कहा—'यदि तुम अथवा मैथिली वहाँ होते··· ' कमल लोचन भर आये थे।

'आर्य ! आप लौटनेकी बात कहकर अम्बाको और मुझे बार-बार क्यों दुःखी कर रहे हैं ?' लक्ष्मणके स्वरमें दुःखके साथ उपालम्भ था—'आपसे रहित हम माता-पिता, भाई-बन्धु, स्वर्ग या बैकुण्ठ भी देखना नहीं चाहते। अयोध्याको जब आपने त्यागा, उसी क्षण वह चन्द्र हीन रजनीके समान अन्धकार पुरी हो गयी। अब क्या वह पुनः अनाथ होगी ?'

श्रीराम मौन हो गये। दो क्षण रुककर उन्होंने निषादराजकी ओर देखा—'मित्र ! हमारे महामन्त्रीको अयोध्या शीघ्र पहुँचना चाहिए। वहाँ महाराज इनकी प्रतीक्षा करते होंगे। माता कैकेयीको भी प्रतीक्षा होगी इनके लौटने की।'

'महाराज तथा अम्बा कैकेयीके सम्बन्धमें तुम कुछ अन्यथा मत समझना।' श्रीरामने गुहके कन्धेपर कर रखा—'मेरा प्रिय करोगे यदि भरतके साथ वैसा ही व्यवहार रखोगे जैसा मेरे साथ है। निषादवर्गको अयोध्याका मित्र रखनेका दायित्व मैं तुम्हें देकर जा रहा हूँ।'

निषादराज मौन बने रहे। उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चल रहा था। इतने उदार उनके इन सखाको रानीने निर्वासित किया ? व्यवहार भले मैत्रीका बनाये रखें वे अयोध्याके साथ, हृदय क्षमा कर पावेगा ?

'तात ! आप शीघ्र अयोध्या लौटें।' श्रीरामकी मेघगम्भीर वाणी गङ्गापार सुमन्त्रने सुनी। देखा कि जटा-मुकुटी दोनों भाई हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहे हैं। श्रीजनकराज-नन्दिनी भी मस्तक झुकाये हैं।

निषादराज गुहने नौका लाने वाले अपने सहायकोंको निर्देश दिया। नौका लौटी। श्रीसीताराम तथा लक्ष्मणने सुरसरिको प्रणाम किया। श्रीरामने भाईसे कहा—'लक्ष्मण ! सीताकी सावधानी पूर्वक रक्षा हमारा कर्तव्य है। मित्र गुह सबसे आगे चलेंगे। तुम उनके पीछे चलो। सीता मेरे और तुम्हारे मध्य चलेंगी। यह वन है, यहाँ कुछ भी घटित होना कठिन नहीं है।'

'आप निश्चिन्त रहें !' निषादराज गुहने आश्वासन दिया—'प्रयाग तकके वनोंमें ऐसा कोई वनवासी नहीं जो गुहको न जानता हो। अतः आशङ्काका कोई कारण नहीं है। मार्गके अरण्य-ग्रामीण आपका स्वागत करके धन्य होंगे।'

सुमन्त्रने गङ्गातटपर खड़े-खड़े दूसरे तटपर श्रीरामकी दूर जाती झाँकी देखी। निषादराज गुहके पीछे जाते अयोध्याके प्राणाधार तीनों धुँधले होते गये और साथ ही धुँधली होती गयी सुमन्त्रकी दृष्टि। सुमन्त्रने नहीं देखा कि नौका कब समीप आकर लगी। कब उसके नाविक उतरे। कब उन्होंने अपने लोगोंको पुकारा। कब उन निषादोंने ही अश्व रथमें जोड़ा और रथ गङ्गाके कगारपर लाकर खड़ा किया। 'हाय !' कहकर सुमन्त्र मूर्च्छित होकर गिरे गङ्गा पार दूर जाती मूर्तियोंके अदृश्य होनेपर। समीप खड़े निषादोंने उन्हें सम्हाल लिया और रथपर लाकर बैठाया।

'श्रीरामने आपको शीघ्र अयोध्या लौटनेको कहा है !' सुमन्त्रकी चेतना लौटी—नेत्र खु[illegible] कहना ठीक है; क्योंकि वे न कुछ सुन पाते थे, न समझ पाते थे। फटे-फटे नेत्रोंसे केवल निषादोंकी ओर देखते थे।

'ये यमदूत हैं ? मैं मर चुका हूँ और ये मुझे यमपुरी लेजा रहे हैं ? राम जैसे गुणगणधामके वन भेजनेका पाप कम तो नहीं होता।' सुमन्त्रको रथपर बैठाकर चार निषाद तरुण अयोध्याकी ओर ले चले तो वे प्रलाप करने लगे—'आप इतने सौम्य क्यों हैं ? मुझ अधमके प्रति इतना नम्र व्यवहार क्यों करते हैं ? आपके कशा कहाँ हैं ? आपके नरकोंमें मेरे लिए स्थान नहीं होगा। किसी अत्यन्त दारुण नरककी नवीन सृष्टि करनेका सन्देश आपने अपने स्वामीको दे दिया अथवा नहीं ? मुझे कशाघातसे ताड़ित करते, घसीटते ले चलें। मैं इस प्रकार यानपर ले जाने योग्य नहीं हूँ।'

निषाद तरुणोंकी कठिनाई केवल महामन्त्री ही नहीं थे। रथके चारों ही श्यामकर्ण अश्व अनियन्त्रित हो रहे थे। वे तड़फड़ाते थे, पीछे ही मुड़ना चाहते थे। बार-बार मुख घुमाते थे पीछेको। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा चल रही थी। उनके हींसनेकी अत्यन्त करुण ध्वनि निषादोंको भी व्याकुल बना रही थी। उन्हें बलपूर्वक पकड़कर आगे चलाना था और उनके साथ निष्ठुर व्यवहार अत्यन्त हृदय हीन ही कर सकता था।

'आर्य ! आप अपनेको सम्हालें।' निषाद बार-बार कातर अनुरोध कर रहे थे सुमन्त्रसे—'आप अयोध्याके महामन्त्री हैं ! अयोध्या समीप आ रही है।'

'अयोध्या !' सुमन्त्र बार-बार ऐसे चौंकते थे जैसे यह नाम भी स्मरण करना पड़ता हो—'अयोध्या त्रिभुवन धन्या महानगरी थी। मन्द मति मन्त्री सुमन्त्रने उसके जीवनको वनमें भेज दिया। वह कापुरुष विद्रोह कर देता, क्या कर लेती कैकेयी उसका ? रामको वनमें पहुँचा दिया उस अधमने और अयोध्या उजड़ गयी। वहाँ कोई प्राणी जीवित नहीं रहा। स्वप्नपुरी हो गयी अयोध्या ! अब सुमन्त्रका जीव यमपुरीके पथपर............।'

महामन्त्री उन्मत्तकी भाँति कभी अटट्हास करते थे और कभी हाथोंसे नेत्र बन्द करके फूट-फूटकर रुदन करते थे। निषाद तरुण अश्वोंको बल पूर्वक चलानेके श्रमसे श्रान्त हुए जा रहे थे। उनके शरीर स्वेद स्नात हो रहे थे। बहुत कठिनाईसे रथ ले जाना पड़ रहा था उन्हें। रात्रि-विश्राममें निद्रा किसे आनी थी।

दो रात्रि मार्गमें रुककर जब रथ तमसा-तट पहुँचा, तब कहीं महामन्त्रीको वाह्यसंज्ञा प्राप्त हुई। तब उन्होंने इधर-उधर चकित होकर देखा—'मैं कहाँ हूँ ? आप सब ? श्रीराम.........।'

सुमन्त्रको वाह्य संज्ञा प्राप्त हुई तो उनकी वेदना और बढ़ गयी। उन्होंने निषादोंको बार-बार अनुरोध करके नगरके वाह्योपवन पहुँचनेसे पूर्व ही लौटा दिया। नगरसे पर्याप्त दूर रथ रोककर मस्तकपर हाथ रखे वे रुदन करते रात्रिका अन्धकार फैलनेकी प्रतीक्षा करते बैठे रहे। दिनके प्रकाशमें सूना रथ पुरजनोंके सम्मुख ले जानेका साहस उनमें नहीं था।

———

प्रयाग पहुँचे

अत्यन्त अनभ्यस्त श्रमसे सर्वथा अपरिचित श्रीजनक-नन्दिनी। बड़ा सङ्कोच मनमें कि स्वामीको भार न प्रतीत हों। अयोध्यासे आगे आगे चलनेका आश्वासन देकर आयी थीं। लेकिन इतना सुकुमार शरीर—चार पद चलते ही कमलमुख अत्यरुण हो गया। मुक्ताकणोंके समान स्वेदकण भाल-कपोलोंपर झलमलाने लगे। अधर शुष्क होने लगे। अपने श्रमकी बात कही नहीं जा सकती। बड़े उत्साहसे किसी अपरिचित पशु, वृक्ष, लता, पुष्प, पक्षी अथवा फलको देखकर श्रीरामकी ओर मुड़तीं और उसका नाम पूछतीं। दो क्षण रुकनेका यह कारण बहुत विश्राम देता।

'देवि! यह दक्षिणावर्त वृक्षको आलिंगन देती लता—प्रायः दुर्लभ है ऐसा स्थान जहाँ लता दक्षिणावर्त हो।' पत्नीके श्रमको समझकर श्रीराम स्वयं कुछ दिखलाकर तनिक विस्तारसे वर्णन करते—'सिद्धिकाम साधक इस प्रकारका स्थान ढूँढ़ते हैं। ऐसे स्थानपर मन्त्र जप, तप शीघ्र सिद्धिप्रद होता है।'

'आप यहाँ आश्रम बनावेंगे ?' श्रीविदेह-नन्दिनीने बहुत प्रसन्न होकर पूछा।

'देवि! अयोध्याके इतने सन्निकट निवास नहीं किया जा सकता।' श्रीरामने गम्भीर होकर उत्तर दिया—'हम अभी प्रयाग भी नहीं पहुँचे। कई रात्रियाँ वनमें व्यतीत करते चलनेके पश्चात् तब कहीं आश्रमके उपयुक्त स्थल प्राप्त होना है।'

श्रीजानकीने समझ लिया कि उन्हें पर्णकुटी-निर्माण सम्बन्धी प्रश्न नहीं करना है। इससे उनकी श्रान्ति, व्याकुलता प्रकट होती है और स्वामीको कष्ट होता है। सम्मुख उपस्थित कष्टको धैर्य पूर्वक सह लेना ही प्रशस्त प्राणोंकी विशिष्टता है।

आकाशमें मेघोंने छाया कर रखी थी। शीतल मन्द वायु पीछेसे आगेकी ओर वह रहा था। मार्गके दोनों ओर छोटे बड़े वनपशु एकत्र हो गये थे और लगता था कि पूरे प्रदेशके पक्षी वहीं आगये थे। गगन मेघाच्छन्न न भी होता तो भी पक्षियोंकी छाया ही इन अपूर्व पथिकोंको आतपस्पर्श नहीं होने देती। शशक जैसे क्षुद्र पशु श्रीमैथिलीके चारु-चरणोंका स्पर्श कर लेते थे तो वे चौंककर हँस पड़ती

थीं। नन्हे पक्षी अनेक बार लक्ष्मण अथवा निषादराजके मस्तक या स्कन्धपर बैठ जाते थे। वे कोमल मधुर स्वरमें जैसे कुछ पूछते हों। उनको देखकर श्रीजनक-नन्दिनीको हर्ष होता था।

'मित्र ! आप आगे चलकर पथ देखलें।' निषादराज चाहते हुए भी बहुत मन्दगति नहीं चल पाते थे। श्रीरामने उनको आगे भेजा—'जल कहाँ समीप मिलेगा, यह भी आप देख लें।'

'स्वामी ! कहीं समीप जल मिलेगा ?' श्रीजनक-नन्दिनीने उल्लसित होकर पूछा।

'पिपासा लगी है देवि ?' श्रीरामके नेत्र भर आये पत्नीके कष्टको देख कर—'अवश्य थोड़ी दूरपर ही जल मिलेगा।'

'मैं ले आता हूँ।' लक्ष्मणने कहा और चल पड़े।

'मुझे पिपासा नहीं है; किन्तु आप अपने चरणोंकी ओर तो देखिये ! पथकी तप्त रेणुकामें चलनेसे कितने अरुण हो गये हैं।' मैथिलीके नेत्रोंसे बिन्दु टपकने लगे—'तनिक कहीं छायामें बैठ जाइये। लक्ष्मण जल लेने गये हैं और अन्ततः वालक हैं। हम चलते रहेंगे तो वनमें वे अकेले पड़ जायंगे। उन्हें दौड़ना पड़ेगा। अञ्चलसे आपके चरणोंको पोंछकर तनिक दबा दूं और जल आजाय तो इन्हें प्रक्षालित कर दूं।'

श्रीरामने सघन वृक्षकी छायामें बैठते हुए तनिक स्मित पूर्वक कहाँ—'देवि ! यह तो पथका प्रारम्भ है। मध्यमें पाद-प्रक्षालन पीड़ादायक होता है। लक्ष्मण तीव्रगतिसे चलनेमें कठिनाई नहीं अनुभव करेंगे। तुम व्याकुल और चिन्तित मत हो।'

श्रीरामने एक कण्टक तोड़ लिया था। वे अपने अरुण कोमल चरणोंमें चुभे कण्टक ढूँढ़ने लगे थे। लक्ष्मणने आते ही जलका तूँवा श्रीजानकीके सम्मुख रखा और आतुरकी भाँति श्रीरामके चरणोंके समीप घुटनोंके बल बैठ गये। कण्टक निकाल देनेकी सेवा उन्हें करनी चाहिए, उन्होंने कातर कण्ठसे सम्बोधन किया—'आर्य !'

श्रीराम बोले नहीं। भाईकी ओर देखकर केवल नेत्रोंसे सङ्केत किया श्रीजानकीकी ओर—'ये श्रान्त हो चुकी हैं। तनिक अधिक विश्राम अपेक्षित है इन्हें।'

लक्ष्मणने मस्तक झुका लिया। श्रीराम देर तक अपने चरणोंमें कण्टकका अन्वेषण करते रहे। जब श्रीमैथिली समीप आ बैठीं कण्टक निकालने, हाथका कण्टक फेंककर चलनेको उठ खड़े हुए।

प्रयाग तक मार्गमें वन बहुत विरल था। अधिक ग्राम थे मार्गमें और कृषकोंके खेत थे। यद्यपि खेत कट चुके थे; किन्तु गन्नेके खेतोंमें हरियाली थी। कृषक उन खेतोंमें भी मिल जाते थे और ग्रामोंके समीप तो मिलते ही थे।

'हमें ग्राममें नहीं जाना है।' इस नियमने पथको बहुत दीर्घ कर दिया था। अनेक स्थानोंपर पथ ग्राममें होकर जाता था। वस्तुतः तो पगडण्डियाँ किसी ग्राम को ही जाती थीं, ग्रामोंको छोड़कर जानेमें घूमकर जाना पड़ता था।

'ग्राम-प्रवेश हमारे लिए वर्जित है।' बड़ा निष्ठुर उत्तर था; किन्तु इस नियमके कारण सुविधा भी थी। अन्यथा ग्राममें होकर जिसके गृहके सम्मुखसे सायंकाल अथवा मध्याह्नमें निकलना चाहते, वह अपने आतिथ्य धर्मके त्यागको प्रस्तुत होता ? उसके धर्म-सङ्गत आग्रहको अस्वीकार किया जा पाता ?

ग्रामीण—भोले ग्रामीण देखते ही दौड़ पड़ते थे। स्त्री-पुरुष, वृद्ध-वृद्धाएँ तक आतुर आते थे। बालक तो पथका कोई ही अंश आया जब साथ न रहे हों। बहुत लोग निषादराजके परिचित थे। उनके मुखसे अयोध्याके चक्रवर्ती महाराजके राजकुमारों एवं पुत्रवधूके वनगमनकी यह चर्चा फैली तो फैलती चली गयी।

'हम श्रीराम-लक्ष्मणकी सेवा करेंगे। तुम सीताकी सेवा करना। वे समर्थ हैं, सबका वनमें भी पालन कर लेंगे।' ग्रामीणोंके इस सहज तर्कको अस्वीकार कौन कर सकता है ? भ्रूभङ्ग मात्रसे निखिलभुवनका उद्भव-पालन जो करते रहते हैं, उन्हें कुछ सहस्र लोगोंके पालनमें श्रम होगा ? 'हमको तो वनमें जाना ही चाहिए था। अब तप करनेकी आयु आगयी।'

'क्या रखा है इन घरों, खेतों और पशुओंमें।' यदि वृद्धोंका तर्क था कि उनके लिए वन-गमनकी आयु है तो तरुण कहते थे—'कौनसा भोग धरा है इन घरों-में। इन भुवन-सुन्दरकी सेवासे बड़ा सौख्य कहीं है ? खेतोंमें दिनभर तपनेकी अपेक्षा इनके साथ वनमें रहना अधिक सुखद है।'

'हम अपनी गायें ले चलेंगे।' एक समूहका तर्क था—'किसने कहा कि वनवासी मुनिके लिए गौ-दुग्ध त्याज्य है। ये तीनों जन दूध, नवनीत, दधिका सेवन क्यों नहीं कर सकते ?'

बड़ा कठिन था इन ग्रामीणोंको समझाकर ग्रामोंमें रहनेको प्रस्तुत करना। वृद्ध-तरुण सबका तर्क था—'आपपर हम कोई भार नहीं डालेंगे। वनपशुओंसे हम स्वयं अपनी तथा अपने पशुओंकी रक्षा कर लेंगे।'

वृद्ध ही नहीं, तरुण भी लक्ष्मण या श्रीरामका हाथ पकड़ लेते थे। ग्राम्य नारियाँ सीताजीको घेर लेती थीं। उनसे आग्रह करती थीं—'हमें सेविका बना लीजिये ! अपने स्वामीसे कहिए—हमें चलने दें।'

'वन श्रीचक्रवर्ती महाराजके नहीं हैं।[1] आप वनमें ही जाना चाहेंगे तो आपको राम वारित नहीं कर सकता; किन्तु आप सबसे मैं प्रार्थना करता हूँ।' श्रीरामके सम्मुख बहुत कठिन समस्या थी, दो व्यक्ति भी चले तो दो सहस्र—दो लक्ष होते देर नहीं लगेगी। सम्पूर्ण राज्य उजड़ जायेगा—'आप नहीं चाहेंगे कि जब चौदह वर्ष पूरा करके राम लौटे तब उसे उजाड़, वञ्जर प्रदेशका राजा होना पड़े। आप मुझपर अनुग्रह करके अपने गृहोंमें रहें और अपने कर्मोंमें लगे रहें। भरत योग्य नरेश सिद्ध होंगे। आप सबका प्रेमपूर्वक पालन करेंगे।'

'आप अवश्य आवेंगे, हम केवल यह सुनना चाहते हैं।' लोगोंका दृढ़ निश्चय था—'हमारे राजा आप हैं। हम मान लेंगे कि हमारे नरेश चौदह वर्षके लिए विशेष अनुष्ठानमें हैं।'

'मैं आऊँगा।' श्रीरामको ग्राम-ग्राममें वचन देना पड़ा।

'अभी तो तनिक विश्राम कीजिए।' दूसरा आग्रह ऐसा नहीं था कि उसे टाल दिया जा सके—'हमारे यहाँके कूपका जल शीतल है।'

कहीं दर्शनीय देवमन्दिर थे, कहीं तीर्थ थे और कहीं कोई वृद्ध तपस्वी थे। लोग तृणासन प्रस्तुत कर देते थे। जल लाकर रख देते थे नवीन कलशमें। उनके लाये कन्द, फल, दुग्ध, दधि भले स्वीकृत न हों, जल कैसे अस्वीकार किया जा सकता था।

ग्राम-ग्राममें एक चर्चा—'सत्पुरुष केवल लक्ष्मण हैं संसारमें; क्योंकि श्रीरामकी सेवाका सौभाग्य मिला है उन्हें। एकमात्र पतिव्रता हैं सीता—इन राजनन्दिनीने सब भोग त्यागकर इस अल्पवयमें पतिका अनुगमन किया है।'

---

[1] भारतके शास्त्रीय विधानमें वन शासकके द्वारा रक्ष्य तो माने जाते थे; किन्तु तपस्वियोंके लिए, दूसरे भी शरण चाहने वालोंके लिए स्वतन्त्र थे। शासक किसीको वहाँ रहनेसे रोक नहीं सकता था।

वृद्धोंका, वृद्धाओंका, ब्राह्मणोंका आशीर्वाद लेते श्रीराम आगे बढ़ रहे थे। वनपशु, पक्षी बढ़ते जा रहे थे और ग्राम-पार्श्वमें भी एकत्र होनेमें हिचक नहीं रहे थे। ग्रामीणोंके सत्कारने सुविधा ही दी थी। इससे श्रीमैथिलीको विश्रामका पर्याप्त अवसर मिल गया।

प्रथम दिन था गङ्गा पार करके पैदल यात्राका। सायंकाल स्नान-सन्ध्या करके एक वट वृक्षके नीचे निषादराज द्वारा निर्मित पत्रशैय्यापर श्रीसीतारामने विश्राम किया। आज तीन दिनके पश्चात् कन्द, मूल, फलका आहार उन्होंने स्वीकार किया था।

सम्पूर्ण रात्रि निषादराज और लक्ष्मण धनुष चढ़ाये सतर्क जागरण करते रहे थे। प्रातःकाल स्नान सन्ध्यादि नित्यकर्म करके इन लोगोंने प्रस्थान किया।

यात्रामें एक नियम ही बन गया कि मध्याह्नके समय न विश्राम हो पाता था, न कोई आहार ही ग्रहण किया जाता था। ग्रामजनोंके आग्रहके कारण कुछ क्षणोंका विश्राम प्रत्येक ग्रामके समीप करना पड़ता था। अधिकांश ग्रामीणजन दूसरे ग्रामके समीप तक पहुँचाकर ही लौटते थे।

श्रीसीताराम दूसरे दिन जब प्रयाग पहुँचे, दिनका चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ हो चुका था। वन-पथ पार करके गङ्गा-यमुनाके सङ्गमपर पहुँचना बड़ा आनन्दप्रद लगा। श्रीसीताराम मुग्ध खड़े अनेक क्षणों तक गङ्गा-यमुनाके श्वेत-नील प्रवाहको परस्पर अङ्कमाल देते देखते रहे। केवल निषादराज आवश्यक व्यवस्था करने चले गये।

भरद्वाज-आश्रम

अभी श्रीसीताराम त्रिवेणी तटपर पहुँचे ही थे कि उनके तीर्थ पुरोहित सेवकों-के साथ आ गये। भाईके साथ श्रीरामने वन्दना करके कहा—'देव! इस समय राम वनवासी है। अयोध्याके नरेश भरत हैं।'

'वत्स रामभद्र!' तीर्थ पुरोहितने आशीर्वाद देकर कहा—'तुम तनिक भी सङ्कोच मत करो। हमारे समीप जो कुछ है, सब तुम्हारे पूर्व पुरुषोंका ही दिया है। तुम यथेच्छा दानादि कर सकते हो। तूम जानते हो कि हम तीर्थपुरोहित दीर्घकालीन प्रतीक्षाके अभ्यासी होते हैं। तुम तो केवल चौदहवर्ष पश्चात् लौटोगे, हम तो शत्रुसे पराजित, पलायित यजमानका सत्कार भी अपना धर्म मानते हैं और उसे अभीष्ट द्रव्य धर्मकृत्यके लिए देकर यजमानके अभ्युदय कालकी प्रतीक्षा करते हैं कई-कई पीढ़ियों तक। तुम सङ्कोच क्यों करते हो?'

'देव! हमने उदासीन रहनेका व्रत लिया है वनवासकी अवधि तक।' श्रीरामने मस्तक झुकाकर पुनः प्रार्थना की—'हमारे लिए वनवासीके समान स्नान-मात्र उचित है।'

'आयुष्मन्! मैं तुम्हारे व्रतमें बाधक नहीं बनूंगा।' तीर्थपुरोहितने स्वस्थ कण्ठसे कहा—'सुन चुका हूँ कि तुम मार्गमें किसी ग्राममें नहीं गये हो। नगरमें जाकर इस विप्रबन्धुका आतिथ्य स्वीकार नहीं करोगे; किन्तु वधू श्रीजनकराज-नन्दिनी प्रथम पधारी हैं यहाँ........।'

'देव! राम इस समय अकिञ्चन है।' श्रीरामने विनय लज्जासे मस्तक झुका रखा था।

'यह कौन कहता है कि तुम अकिञ्चन हो?' तीर्थपुरोहितने प्रतिवाद किया—'महाराज इक्ष्वाकुसे तुम्हारे पिता तकने जो असीम धन-रत्न राशि यहाँ रख छोड़ी है, उसका यह विप्र केवल न्यास-रक्षक है। वह किसी साम्राज्यको भी क्रय करनेके लिए अल्प नहीं होगी; किन्तु मैं तुमको सङ्कोचमें नहीं डालूँगा। महर्षि भरद्वाजका दर्शन तो तुम करोगे?'

'अवश्य देव!' श्रीरामने कहा—'यहाँ स्नान करके हम महर्षिको अवश्य प्रणाम करेंगे।'

तीर्थपुरोहित प्रसन्न मन आशीर्वाद देकर महर्षिको सूचित करने चले गये।

श्रीरामने पत्नीके साथ त्रिवेणीमें सविधि—शरीरमें तीर्थ-मृत्तिका लगाकर स्नान करके सन्ध्या-तर्पण किया। जब अग्रज स्नान कर चुके, तब लक्ष्मणने स्नान किया और अपने तथा अग्रजके भी वल्कलको जल-शुद्ध करके सूखनेको डाल दिया।

'लक्ष्मण ! भाई भरत इस कालिन्दीके प्रवाहके समान अतल गम्भीर और निर्मल हैं।' श्रीरामका अङ्ग-अङ्ग पुलकित हो रहा था भरतके स्मरणसे—'इस प्रेम-सरिताके समान ही उनका अन्तर सरस है। मुझे उनकी चिन्ता है। अयोध्या आकर वे बहुत व्याकुल होंगे।'

स्नान-सन्ध्या, देवार्चन करके भाई और श्रीवैदेहीके साथ श्रीरामने श्याम वट [1](अक्षयवट) का दर्शन किया। श्रीजानकीने त्रिवेणीमें भी प्रार्थना की थी, वटके नीचे भी की—'आप प्रलय-पयोधिशायीके आश्रय हो, ऐसा अनुग्रह करो कि मैं अवधि पूर्ण होनेपर पति एवं देवरके साथ लौटकर आपकी अर्चा करूँ तथा अयोध्या पहुँचकर माताओंकी पद-वन्दना कर सकूँ।'

देवगुरु बृहस्पतिके साक्षात् पुत्र महर्षि भरद्वाजका आश्रम प्रयागमें वैदिक ज्ञानके पिपासुओं और अध्यात्मके जिज्ञासुओंका केन्द्र था। आश्रमके स्थानपर तृण-कुटीरोंका उपनगर प्रतीत होता था वह। पुष्प, तुलसी, विल्व, आमलक, वट, पीपल, पाकर, आम्रादि वृक्षोंकी सघन हरीतिमा, सहस्रशः गायों-वृषभोंसे सुशोभित, यज्ञ-कुण्डोंसे उठते धूम्र तथा श्रुति-मन्त्रोंकी ध्वनिसे पावन वह आश्रम। जहाँ तहाँ नीवार राशि, जहाँ तहाँ सूखते वल्कल, जहाँ तहाँ घूमते उछलते मृगोंके साथ खेलते गोवत्स, जहाँ तहाँ ध्यानस्थ अथवा शास्त्रचर्चामें लगे जटाधारी, वल्कल कौपीन, स्वस्थ-तेजस्वी-तपस्वी, युवावृद्ध मुनिगण। वायु भी श्रद्धा विनम्र ही आश्रममें प्रवेश करता था।

आज सहस्रशः तपस्वी कार्य व्यस्त थे। आश्रम स्वच्छ हो रहा था, सिञ्चित, गोमयोपलिप्त हो रहा था, तोरण बाँधे जा रहे थे—'श्रीराम आरहे हैं!'

संसारके राजाओं-सम्राटोंके आगमनकी चर्चा व्यर्थ है, सुर एवं सुरेन्द्र तथा दूसरे लोकपाल भी आते रहते थे महर्षिके पदोंमें प्रणाम करके आशीर्वाद प्राप्त करने और आश्रमका कोई युवा अन्तेवासी भी ध्यान नहीं देता था कि कोई आया है और आज तो स्वयं महर्षि व्यस्त थे—'श्रीराम आ रहे हैं।'

प्रत्येक जन अधिकतम सेवा कर लेना चाहता था। प्रायः समाधिमें स्थित रहने वाले, सबसे निरपेक्ष वृद्ध तापस मुनि भी पुष्प चयन, माल्यग्रन्थन अथवा

---

[1]वटका यही नाम वाल्मीकिमें है।

तोरण-निर्माणमें उत्साह पूर्वक योग दे रहे थे— 'श्रीराम आ रहे हैं।'

भाई और पत्नीके साथ श्रीराम आये। महर्षि भरद्वाजके अन्तेवासी प्रतीक्षा कर रहे थे। दूरसे आते देखकर उन्होंने समाचार दिया था। महर्षि अर्घ्य लेकर निकले तो उनके साथ सहस्रशः मुनिगण थे और अब तक नगरके भी बहुत अधिक लोग आचुके थे।

'यह इक्ष्वाकु गोत्रीय दाशरथि राम श्रीचरणोंमें प्रणत है।' श्रीरामके साथ लक्ष्मणने भी धनुषादि भूमिमें धर दिया और पृथ्वीमें साष्टाङ्ग पड़े। श्रीजानकीने घुटनोंके बल बैठकर भूमिमें मस्तक रखा।

महर्षिने लगभग दौड़कर श्रीरामको उठाकर हृदयसे लगाया। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा था, शरीरमें स्वेद-धारा चल रही थी। नेत्रोंके अश्रुने प्रथमार्घ्य दिया।

'वत्स रामभद्र! सङ्कोच मत करो।' आसनपर तीनोंको विराजमान करके महर्षिने अर्चन पात्र उठाया—'तुम धर्मज्ञ हो। जानते हो कि भिक्षुक, धर्मभ्रष्ट, प्रायश्चित रत एवं अन्त्यजके अतिरिक्त आगत व्यक्ति अतिथि होता है, पूज्य होता है।'

'तीव्र संवेग जिज्ञासु आत्म साक्षात्कारका अधिकारी होता है।' महर्षिने कहा—'वह जिस इन्द्रियातीत अचिन्त्यका साक्षात्कार करता है, वही तुम चिद्घन-वपु आज नेत्रोंके सम्मुख हो, आश्चर्य है, तुम्हें देखकर नेत्र सफल हुए।'

स्खलित वाणी, कम्पितगात्र महर्षिने किसी प्रकार पूजा सम्पन्न की— 'राम! जानता हूँ कि तुम क्यों वन आये हो। वनमें ही तो रहना है तुम्हें? यह गङ्गा-यमुनाकी मिलनस्थली प्रयाग तीर्थराज है। परम पावन स्थल है। तुम जितना चाहोगे, उतने एकान्तकी व्यवस्था सुलभ है। तुम यहीं निवास करो!'

महर्षिके आग्रहसे जब श्रीसीताराम कन्द, मूल, फल ग्रहण कर चुके, लक्ष्मणको भी महर्षिने विवश किया आहार लेने को। सब जब निश्चिन्त बैठ गये तब भरद्वाजजीने प्रस्ताव किया।

'देव! अयोध्यासे अत्यन्त समीप है प्रयाग।' श्रीरामने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'मैं यहाँ निवास करूँगा तो अयोध्याके लोग बार-बार त्रिवेणी-स्नानका निमित्त बनाकर आवेंगे। यहाँ आश्रममें बहुत विक्षेप होगा साधकोंको और मुझे भी बहुत अधिक सङ्कोच होगा।'

'अतिथिका अतिथि नहीं हुआ जा सकता' यह बात सङ्कोचीनाथ श्रीराम किसीसे भी कह नहीं सकते और अयोध्यासे आये लोग उनके समीप आवेंगे तो महर्षि उनका आतिथ्य नहीं करेंगे ? यह बात महर्षि तथा आश्रमवासियोंके लिए विक्षेपकारी तो है ही, आगतोंके लिए भी श्रेयस्कर नहीं है।

'वत्स ! उचित बात कहते हो तुम।' महर्षिने आग्रह नहीं किया—'तुम्हारे उपयुक्त चित्रकूट ही है। मार्गमें आदिकवि महर्षि प्राचेतसके भी दर्शन कर सकोगे।'

निषादराज गुह विलम्बसे लौटे। उन्होंने रात्रि-निवासकी व्यवस्था भी अपने सजातीय लोगोंके यहाँ कर ली थी। उन्होंने दूर तक अरण्यवासीजनोंको समाचार भेज दिया था और वनवासी अपने नायकके आदेशके प्रति कितने निष्ठावान होते हैं, यह कहना अनावश्यक है।

प्रातःकाल त्रिवेणी-स्नान करने महर्षि सम्पूर्ण आश्रमवासियोंको लेकर साथ आये। स्नान-सन्ध्यादिके पश्चात् श्रीरामने वहीं महर्षिके चरणोंमें प्रणाम किया। महर्षिने स्वस्त्ययन किया। आशीर्वाद दिया।

त्रिवेणीसे कुछ दूर यमुना किनारे चलकर नौकासे श्रीराम-लक्ष्मण जानकीने यमुना पार किया। श्रीवैदेहीने यमुनासे भी प्रार्थना की। निषादराजको हृदयसे लगाकर श्रीरामने विदा किया। यहाँ से अब पश्चिम दिशामें चलना था। निषाद-राज श्रीरामके बैठानेसे नौकामें बैठ गये और नौका चल पड़ी। साश्रु नेत्र वे देखते रहे—देखते रहे यमुना तटसे दूर जाते श्रीसीताराम को।

वाल्मीकि आश्रम

अयोध्यासे अब तक जो मार्गकी स्थिति थी, वह प्रयागमें यमुना-पार होते ही परिवर्तित होगयी। अब वनकी सघनता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। ग्रामोंकी दूरी बढ़ती जाती थी और ग्रामोंका आकार घटता जाता था। कुछ झोंपड़े मात्र मिलते थे ग्रामके नामपर। वनपशुओंसे रक्षाके लिए ग्रामके प्रत्येक झोंपड़ेके चारों ओर सघन, ऊँचा, चौड़ा काँटोंका घेरा मिलने लगा। खेतोंके चारों ओर भी यह घेरा आगे जाकर मिलने लगा; क्योंकि मृग-शशक आदि पशुओंसे कृषिकी रक्षा भी आवश्यक होगयी।

दूसरा मुख्य अन्तर पड़ा जलके सम्बन्धमें। जल वन्य ग्रामोंके समीप ही था और वह भी बहुत गहरे कूपोंमें उपलब्ध था। चित्रकूटके क्षेत्रमें पहुँचनेसे पूर्व स्रोत, निर्झरादि प्रायः नहीं थे।

मार्ग अब पूरे वनमें केवल ऋषि-आश्रमोंके लिए था। एक आश्रमसे दूसरे आश्रमको जानेके लिए क्षीण पगडंडी मार्ग और वह भी शिलाओंपर अथवा तृण, पतझड़के पत्तोंसे लुप्त प्राय।

वनमें केवल बाधाएँ ही बाधाएँ थीं। कण्टक वृक्ष, कंटीली झाड़ियाँ, कुश-कास, बाँसोंके अभेद्य झुरमुट और भूमि कुराइयों[1]से भरी हुई।

वृश्चिक, सर्प, महासर्प, ऋक्ष, व्याघ्रादि बहुत थे वनमें। गजों, वाराहों तथा अन्य हिंसक पशुओंकी भी बहुलता थी। अतः श्रीराम आगे हो गये। अनुजको

---

[1]जब भूमिमें भीतर ऊपरीस्तरके समीप पत्थरका स्तर होता है, वर्षाका जल पाषाण-स्तर तक जाकर स्थान-स्थानसे ऊपर निकलने लगता है। इससे भूमिपर गड्ढे बन जाते हैं, जिनको कुराई कहते हैं। ये ऊपर दीखनेमें छोटे होते हैं; किन्तु गहरे और नीचे चौड़े होते हैं। इनमें पैर पड़नेपर मनुष्य गिर सकता है। पैर टूट सकता है।

पीछे किया। श्रीजानकी मध्यमें चलती थीं। ऐसे पथसे महर्षि वाल्मीकिके आश्रम पहुँचे।[1]

आदिकवि महर्षि प्राचेतस जैसे प्रतीक्षा ही करते रहे हों। शिष्योंने श्रीरामके आगमनका समाचार दे दिया था। महर्षि उटजके द्वारपर ही अर्घ्य लिये मिले। श्रीराम-लक्ष्मणने गोत्र, पिताके नामके साथ अपना नाम लेकर प्रणाम किया तो महर्षिने उठाकर हृदयसे लगाया। सुगठित प्रलम्ब काय, सघन श्वेत रोमावली सज्जित गोधूम वर्ण देह, विशाल भाल, धूसर जटाजाल, दीर्घ दृग, उज्ज्वल श्मश्रु-केश महर्षि वाल्मीकि वृद्ध होनेपर भी बलवान, तपःतेज सम्पन्न, स्फूर्तिकी मूर्ति थे। उन्होंने सबसे पहिले श्रीजनक-नन्दिनीको ही सम्बोधित किया—'वत्से! महाराज सीरध्वज जनक मेरे मित्र हैं, अतः इस आश्रमको भी तू अपना पितृगृह ही समझ।'

सानुज श्रीरामको अर्घ्य देकर महर्षिने उटजमें आसन दिया और अर्चा करके बोले—'राम! तुम्हारे नामका यह प्रभाव है कि उसका उलटा उच्चारण करके भी एक अत्यन्त क्रूर, हिंसक ब्राह्मणाधम भगवान् प्रचेताका पुत्र बन गया और आज तुम परात्पर पुरुष स्वयं इसे धन्य करने पधारे हो।'

'देव! पिताके आदेशसे मैं वनमें आया हूँ।' श्रीरामने बहुत थोड़े शब्दोंमें वनवासका कारण बतलाकर पूछा—'अब आप ऐसा स्थान निर्दिष्ट कर दें, जहाँ मैं पत्नी और भाईके साथ कुछ काल रह सकूँ। मेरे रहनेसे किसी साधक-तपस्वी-को उद्वेग न हो; क्योंकि हम क्षत्रियोंमें राजसिक चाञ्चल्य स्वाभाविक होता है। दीर्घकालके निवासमें सतत सावधानी सम्भव नहीं होती।'

'राम! वाल्मीकिको वञ्चित मत करो! तुम्हारे स्मरणसे प्रमाद दूर होता है और प्राणी रजःकषायसे परिपूत हो जाता है।' महर्षिने गद्‌गद् स्वरमें कहा—'तुम्हारी सन्निधिसे जिस साधकको उद्वेग होगा, वह श्मशानका प्रेत-साधक होगा। जन्म जन्मके योग, तपकी साधनाका फल तो तुम्हारी अन्तःकरणमें एक झाँकी है; किन्तु जानता हूँ कि तुमको इस आश्रममें रहनेमें सङ्कोच होगा। प्रचेताका

---

[1]दीर्घजीवी ऋषियोंके आश्रम अनेक स्थानोंपर होते थे। प्रयागसे यमुना पार होनेपर पश्चिम चलकर महर्षि वाल्मीकिका यह आश्रम मिला था। लगता है कि महर्षि वाल्मीकिने पीछे अपना दूसरा आश्रम ब्रह्मावर्तके समीप बना लिया था, जहाँ पीछे लव-कुशका जन्म हुआ।

का यह पुत्र अभी इतना उत्तम अधिकारी नहीं हो सका कि तुम्हारा नित्य-सान्निध्य प्राप्त कर सके। तुमने इसे दर्शन देने योग्य माना, यही इसका सौभाग्य।'

'तुम विभु कहाँ नहीं हो कि मैं तुमको आवास स्थान सूचित कर दूँ; किन्तु तुम इस व्यक्त सगुण साकार रूपमें रहने योग्य स्थान चाहते हो ?' महर्षिने स्थान गिनाने प्रारम्भ किये—'जो निरन्तर तुम्हारे नाम-जपमें लगे हैं, उनके हृदयमें निवास करो। जो तुम्हारे आदेश रूप निगमाचरणमें निष्ठ हैं, उनके हृदयमें रहो। जो पाञ्चरात्रका आश्रय लेकर तुम्हारी अर्चाको ही जीवन-व्रत बना चुके हैं, उनके अन्तरको आवास बनाओ। जिनका चित्त तुम्हारे चरणोंके स्मरणमें ही अपना सौभाग्य मानता है, उनके मानसको मन्दिर बनाओ अपना। जिनका मनोराज्य तुम्हारी लीलाओंका विलास ही है, वह हृदय तुम्हारा भवन है। जो केवल तुम्हारा ही भरोसा करते हैं, उनके मनमें रहो। जो एक मात्र तुम्हारे हैं, उनका अन्तर उज्ज्वल करते रहो। जिन्होंने तुमको ही अपना बना रखा है, उनके हृदयको तो स्वयं चाहकर भी त्याग नहीं सकते।'

महर्षि गिनाते रहे, गिनाते चले गये। श्रीराम मस्तक झुकाये रहे। उनके श्रीमुखपर मन्दस्मित--जैसे वह स्वीकृति हो ! श्रीलक्ष्मण सुप्रसन्न देखते रहे महर्षिकी ओर। सहसा श्रीजनक-नन्दिनीने दृष्टि उठायी। 'वत्से ! तेरी अनुकम्पाके बिना तेरे ये स्वामी कहाँ किसीके हृदयमें आते हैं।' महर्षिने सीताकी ओर देखा—'तू जिस हृदयको उज्ज्वल कर दे, वही इनका आवास है। तू जहाँ अभीप्सा जागृत कर दे, निर्गुण निराकार राम वहाँ सगुण साकार बननेको बाध्य हैं।'

'महर्षि अत्रिकी त्रिभुवन वन्दनीया महासती अनुसूयाके तपःप्रभावसे सुरसरिकी धारा मन्दाकिनी जहाँ इस अरण्यको पवित्र करती हैं' महर्षिने अन्तमें व्यक्त जगतमें स्थान सूचित किया—'चित्रकूट गिरिके समीप उसके तटपर तुम्हें सब प्रकारकी सुविधा रहेगी। राम ! वह तुम्हारा शाश्वत स्थान है। अव्यक्त सन्निधिके स्थानपर अब उसे अपना व्यक्त आवास बनाओ। चित्रकूटका दिव्य प्रभाव लोकमें प्रख्यात हो। वहाँके तपस्वी, मुनिगण तुम्हें अपने समीप पाकर प्रसन्न होंगे। वहाँ तुम उनके समीप रहकर भी स्वतन्त्र, पृथक रह सकोगे। जल, कन्द, फलादिकी सब अनुकूलता वहाँ उपलब्ध है।'

श्रीरामको यह स्थान-निर्देश अच्छा लगा। महर्षिसे उन्होंने विदा माँगी।

पथ-कथा

यमुनापार होनेसे लेकर चित्रकूट पहुँचने तक जैसे-जैसे अरण्य सघन होता गया, अरण्यानी ग्राम दूर होते गये, वनवासी उतने ही सहज-सरल तथा नैसर्गिक स्वभावके मिलते गये। शरीरके रंगकी कालिमा और केशोंकी रूक्षता अवश्य बढ़ती गयी; किन्तु जैसे वस्त्र अल्प होते गये, स्वभावकी सहजता भी बढ़ती गयी। आप अरण्यानी मानवको अशिष्ट, असभ्य भले कहलें; किन्तु वह कपट, दम्भ जानता ही नहीं। उसको नागरिक सभ्यताके शिष्टाचार नहीं प्राप्त हैं तो अपने भावको छिपाना भी उसे नहीं आता। निरन्तर प्रकृति एवं वनपशुओंके संघर्षमें जीवनयापनने जहाँ उसे रूक्ष, सशङ्क बनाया है, वहीं निर्भय, कष्ट सहिष्णु और अपने सहायकोंको पहिचानकर उनसे उत्कट प्रीति करने वाला भी बना दिया है।

रूक्ष बिखरे केश, प्रायः कृष्ण वर्ण, पुरुष कटिमें किसी रज्जुके सहारे लंगोटी लगाये और स्त्रियोंके शरीरपर एक साड़ीमात्र यही उनकी सज्जा। शृङ्गारके नामपर कौड़ियोंके आभरण तथा पक्षियोंके पंख; किन्तु अत्यन्त अकृत्रिम स्वभाव।

श्रीसीताराम लक्ष्मण को वनके वे ग्रामजन देखते थे और देखते रह जाते थे। जिनका भुवनमोहन रूप सुरोंको भी चकित थकित कर देता है, उनको देखकर वनवासी आश्चर्य विमूढ़ रह जायँ तो आश्चर्य क्या। जो देखता था, कुछ क्षण विस्मय मुग्ध रहनेके पश्चात् वह क्या करेगा, कुछ ठिकाना नहीं था। कोई अपने लोगोंको बुलाने दौड़ता था और कोई उच्चस्वरसे पुकारने लगता था। अनेक नृत्य करने लगते थे।

'यह रूप, यह सुकुमार चरणतल क्या इस भूमिपर चलने योग्य हैं!' अनेक दौड़ते थे। उनमें कोई मार्ग स्वच्छ करने लगता था, कोई किसलय अथवा कुसुम पथमें बिछानेमें जुट जाता था।

'ये देवता हैं, अभी उतरे हैं ऊपरसे पृथ्वीपर!' अनेकोंके मुखसे निकलता था—'हमारे भाग्य जागे हैं। हमें दर्शन देने आये हैं।'

'ये अयोध्याके राजकुमार हैं !' किन्हीं वृद्धों तक निषादराजके द्वारा भेजा समाचार पहुँच गया था। वे लोगोंको समझाते थे—वधूके साथ इन्हें श्रीचक्रवर्ती महाराजने वनमें भेज दिया है। सुना है कि चित्रकूटमें रहेंगे ये।'

'हाय रे ! चक्रवर्ती महाराजका हृदय कैसा होगा ? इन्हें वन जानेको कह कैसे सके ?' अनेक स्त्रियाँ खुलकर रुदन करने लगती थीं—'इनकी जननीने कैसे सहा होगा इनका वन जाना ?'

'दादा ! मैं चला चित्रकूट।' अनेक तरुणोंने तत्काल निर्णय किया—'इनके लिए पर्णकुटी भी तो बनानी होगी।'

'लेकिन ये जहाँ रहना चाहेंगे, पर्णकुटी वहीं तो बनेगी।' बात ठीक थी। आगे जानेमें कोई लाभ नहीं था। लेकिन अनेकोंने अपनी कुल्हाड़ियाँ उठालीं और पत्नीको कह दिया, 'ये जहाँ भी रहेंगे, उसके आसपास—इतनी दूर कि इन्हें बाधा न पड़े, मैं झोंपड़ी बना लूँगा। तू बस प्रस्तुत रह। ये टिके और मैं तुझे लेने आया।'

श्रीरामसे पूछनेकी अपेक्षा इन्हें नहीं थी और इन्हें रोकपाना सम्भव भी नहीं था। श्रीसीताराम जब चित्रकूटमें रहने लगे, सहस्रों कोल-किरातोंने मुनि आश्रमोंसे दूर वनमें अपनी झोंपड़ियाँ बना ली थीं।

'आप तनिक विश्राम करलें !' प्रायः वन्यग्रामोंके वृद्ध आग्रह करते थे। किसी सघन वृक्षकी छायामें कोमल पत्रोंका आसन बनाकर, आसपास स्वच्छ करके जब हाथ जोड़कर वे प्रार्थना करते थे, उनका अनुरोध टालना अशक्य था।

'वधू श्रान्त होगयी लगती हैं !' वृद्धोंकी बात ग्रामजनोंके सबकी बात है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं थी—'हमने पर्ण-पुटकोंमें जल ला रखा है। बहुत शीतल, मधुर जल है यहाँका।'

वन्यजनोंके पात्र—काष्ठ, पाषाणादि पात्र इन अतिथियोंके योग्य नहीं हैं, यह वे जानते थे। केवल जल ही नहीं; कन्द, मूल, फल और वे लोग उनमें से एक-एकके स्वाद, गुण, प्रभावका वर्णन करते थे।

बालक डरते-डरते, अपने किसी स्वजनसे सटे समीप आते थे। श्रीराम कोई कन्द या फल किसी बालकको देना चाहते थे तो वह बहुत कठिनाईसे ले पाता था। प्रायः दिगम्बर बालक-बालिकाएँ, वे कन्द या फल लेकर स्वजनके

समीप जाकर प्रसन्न होते थे। वयस्कोंको गर्वसे दिखलाते थे, जैसे उन्हें बहुत बड़ा पुरस्कार प्राप्त हुआ हो।

स्त्रियाँ—वृद्धाएँ, तरुणियाँ भी धीरे-धीरे ही समीप आ पाती थीं। वृद्धाओं-की अपेक्षा वधुएँ, तरुणियाँ शीघ्र श्रीजानकीके समीप आ जाती थीं और अंचल हाथमें लेकर पद-वन्दन करती थीं। 'हम तो ग्राम्या भी नहीं, अशिष्ट वन्या हैं। आप हमारी धृष्टता क्षमा कर देंगी !'

'आपके स्वामी इनमें कौनसे हैं ?' बड़े सङ्कोचसे पूछती थीं वे और श्री-मैथिलीके लिए उत्तर सरल था—'वे गौर वर्ण जो बालक लगते हैं, मेरे मध्यम देवर हैं। वे……।'

'बालक !' खिलखिला उठती थीं वे वन्यवधुएँ। श्रीरामसे केवल एक दिन छोटे लक्ष्मण—वात्सल्य यह कहाँ देखता है। श्रीमैथिलीको तो वे बालक ही दीखते हैं। लेकिन ग्रामवधुओंको यह समझाया कैसे जाय।

अनेक स्थानोंपर श्रीसीतारामको कन्द, फल स्वीकार करना पड़ता था। लक्ष्मण ऐसे अवसरों पर लोगोंके साथ बात करने लगते थे या आगे पथ देखने निकल जाते थे

'आप तो मुझे चलते समय भयभीत कर रहे थे।' श्रीमैथिलीने मधुर उपा-लम्भ दिया—'मैं तो वनमें आकर युवराज्ञीके स्थानपर महाराज्ञी होगयी हूँ।'

निखिल भुवनाधिप कहीं हों, किसी वेशमें हों, प्रकृति उनका स्वागत करने-में प्रमाद तो कर नहीं सकती। मेघ छत्र बने चल रहे थे। उष्णता बढ़नेपर उनसे नन्हे सीकर झरने लगते थे। पथ-सिञ्चित कर रहे थे वे।

विहङ्गों का समूह वन्दियों के समान गायन करता चल रहा था। भ्रमर गुञ्जार करते थे झुण्ड-के-झुण्ड। लताओं तथा तरुओंसे राशि-राशि पुष्प झड़कर पथके पाँवड़े बनते जारहे थे।

अनेक स्थानोंपर केशरीने आकर सम्मुख खड़े होकर ऐसे मार्ग रोका जैसे वह कहता हो—'आप तीनों हमारे पृष्ठदेशको सनाथ करें।'

लक्ष्मणको अनेक बार मृगोंको पुचकारकर हटाना पड़ता था। वे श्री-वैदेहीके वस्त्रका छोर मुखमें पकड़ लेते थे। गवय, ऋक्ष तथा ऐसे अनेक बड़े शरीरके पशु थे जो बार-बार वाहन बननेको उत्सुक आ जाते थे पथ अवरुद्ध करने। पूरा गजयूथ जब सम्मुख आखड़ा हुआ और उसके यूथप गजराजने सूँड़

उठाकर ध्वनि करके मानो जयघोष किया—सूँड़ श्रीरामके चरणोंके समीप कुञ्चित करके खड़ा होगया, प्रसन्न श्रीमैथिलीने कहा—'आपको अब यहाँ अम्बा तो निषेध नहीं करती हैं। आप वाहन भले स्वीकार न करो, गजेन्द्रने मुझे महाराज्ञी मान लिया है।'

'अम्ब ! यह आपकी विभूति है।' श्रीलक्ष्मण ने कहा।

'देवर हमारे महामन्त्री हैं !' श्रीजनक-नन्दिनी सुप्रसन्न बोलीं, 'व्यवस्था इनको ही करनी है।'

'देवि ! वन सदा सुखद ही नहीं होता।' सहसा सीत्कार करके श्रीजानकीने स्वामीके स्कन्ध दोनों करोंसे पकड़ लिये और अपना दक्षिण चरण उठाया पीछे की ओर, तब श्रीरामने कहा—'वनका वैभव, आकर्षण अपार है तो यहाँके कष्टोंकी भी कोई सीमा नहीं है।'

'उन्हें दूर ही रखनेके लिए मेरे धनुष्पाणि देवर सदा सतर्क रहते हैं !' एक नन्हा कोई कण्टक दक्षिण पादतलमें तनिक-सा चुभा था। लक्ष्मण तत्काल भूमिमें घुटने झुकाकर बैठ गये थे। उन्होंने वह कण्टक धीरेसे पृथक किया और समीपसे कोई पुष्पदल मसलकर उसका रस पादतलमें लगा दिया। श्रीवैदेहीने पुनः चरण भूमिपर रखा तो पीड़ाका किञ्चित भी आभास नहीं था। लेकिन लक्ष्मणके नेत्र भर आये थे। वे बोलनेमें असमर्थ थे।

पशु, पक्षी, भृङ्ग, अरण्यानी कोल-किरात, वृक्ष-लता, तृण—सब स्वागतको आतुर। धरा अपना समस्त सुकुमार वैभव प्रकट किये प्रस्तुत। किसी सम्राट का ऐसा स्वागत उसकी अपनी राजधानीमें भी सम्भव नहीं।

जटा मुकुटी, वल्कल वसन, पीठपर त्रोण कसे, दक्षिण करमें धनुष लिये दूर्वादल श्याम श्रीराम और पीछे स्वर्ण गौर लक्ष्मण धनुष, त्रोणके अतिरिक्त पीठ-पर पेटिका बाँधे, दक्षिण करमें खन्ती, कुल्हाड़ी लिये। दोनोंके मध्य सौन्दर्य, सौकुमार्यकी अधिदेवी श्रीजनकराज-नन्दिनी वस्त्रोंके ऊपर वल्कलका उत्तरीय बनाये, भूमिमें दृष्टि दिये चलती वनपथमें।

———

चित्रकूट

अचानक वनमें परिवर्तन होगया। जैसे मरुस्थलके मध्य कोई हरा-भरा जल बहुल क्षेत्र आगया हो। कण्टक वृक्षोंकी सघनता घट गयी। जो थे भी वे सुगन्धित पुष्पोंसे परिपूर्ण थे। पारिजातकी सघनता बढ़ने लगी।

'तात ! पक्षियोंके उत्तम स्वर आरहे हैं।' श्रीरामने पीछे घूमकर भाईकी ओर देखा—'वृक्षोंके पत्रोंपर यज्ञधूमकी कालिमा लक्षित हो रही है। लगता है कि ऋषियोंके आश्रम समीप ही हैं।'

प्रातःकाल नित्यकर्म करके चल पड़े थे। सहसा चित्रकूटका शिखर दृष्टि पड़ा, लगा बहुत परिचित स्थानमें पहुँच गये हैं। दीर्घ प्रवासके पश्चात् जब कोई अपनी जन्मभूमिपर पहुँचता है—श्रीजनक-नन्दिनी एक एक मृगको पुचकारने लगी थीं। वे ऐसे दौड़कर समीप आते और पदोंसे लिपटते, कर सूँघते जैसे पूछते हों—'अम्ब ! आप अब तक कहाँ थीं ?'

एक एक लता, तरु-तृण पूर्व परिचित—जन्म-जन्मका परिचित लगता था। पूरे मार्ग श्रीवैदेही पुष्पों, वृक्षों, पशुओं, पक्षियोंका परिचय स्वामीसे पूछती आयी थीं। नवीन-नवीन कौतूहलने उन्हें पथ-श्रम नहीं होने दिया था; किन्तु चित्रकूट पहुँचकर तो जैसे कुछ अपरिचित रहा ही नहीं। उन्हें लगता था कि यहाँका कुञ्ज कुञ्ज उनका देखा जाना है।

'लक्ष्मण ! यह देवी महासती अनुसूयाका तपःप्रभाव है।' श्रीरामने एक बार वनको चारों ओर दृष्टि डालकर देखा—'देखते ही हो कि वृक्ष सुस्वादु पक्व फलोंसे लदे हैं। भूमि स्वास्थ्यप्रद कन्द एवं मूलसे परिपूर्ण है। जहाँ तहाँ मधुछत्रक लगे हैं। लताएँ सुरभित सुमनोंसे झूम रही हैं।'

मन्दाकिनीके तटपर पहुँचकर श्रीरामने चारों ओर देखा। ऋषि-मुनियोंके आश्रम थोड़ी दूर थे। पयस्विनीका फल्गु प्रवाह मन्दाकिनीमें मिल रहा था। मन्दाकिनीके तटपर एक उच्च भूमिपर श्रीराम खड़े हुए—'यहाँ वर्षामें सरिताका जल नहीं आवेगा। वर्षाका जल शीघ्र बह जायगा। पीछे धनुषाकार पयस्विनी रक्षिका रहेगी। पर्णशालाके उपयुक्त स्थान है यह।'

'मैं यहाँ तुलसी-पादप रोपित करूँगी ।' श्रीवैदेहीने घूमकर अपनी वाटिका-का स्थान निश्चित करना प्रारम्भ किया—'नीचे वट वृक्षके चारों ओर वेदिका बना दूँगी आर्यपुत्रके बैठनेके लिए ।'

'मैं कुछ शाखाएँ और तृण ले आता हूँ ।' लक्ष्मणने धनुष, त्रोण तथा पेटिका-को खन्तीके साथ वहीं भूमिपर धर दिया और कुल्हाड़ी उठाया; किन्तु उन्हें कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी । श्रीराम और लक्ष्मणने भी अब तक अनुमान नहीं किया था कि उनके साथ कुछ प्रकट और कुछ बहुत पीछे रहकर इतने अधिक कोल-किरात आगये हैं । निषादराज गुह प्रयागसे लौट नहीं सके हैं । वे समीप आगये । पदोंमें गिरते उन्हें श्रीरामने उठाकर हृदयसे लगाया ।

'मैं आज्ञापालन नहीं कर सका !' गुहके नेत्र निर्झर बन गये थे—'आपको वन-पथमें अरक्षित एकाकी छोड़नेमें गुह समर्थ नहीं था । मुझे क्षमा !'

'मित्र !' श्रीरामका कण्ठ गद्‌गद् होगया था । उनके विशाल दृग वर्षा कर रहे थे—'तुम समीप आगये होते ।'

'आपको सङ्कोच होता और आप बार-बार लौटनेका आग्रह करते ।' गुहने कहा—'मैंने आज्ञोल्लंघनका अपराध किया है ।'

'अब हम यहीं पर्णकुटी बनावेंगे !' श्रीरामने अत्यन्त प्रीति पूर्वक गुहके स्कन्धपर कर रखा—'तुमको शृङ्गबेरपुर तो लौटना ही चाहिए ।'

'यह स्थान सुरक्षित है । सब सुविधायें हैं यहाँ ।' गुहने सन्तुष्ट होकर कहा—'आपकी पर्णकुटी बनवाकर मैं कल लौट जाऊँगा; किन्तु यहाँ वनमें आस-पास ये मेरे अपने स्वजन अपने उटज बनाकर रहेंगे । हम लोग तो वनवासी हैं । कहीं एक स्थानपर सदा रहना हमारे स्वभावमें नहीं है । हमारे जो लोग वनमें रहते हैं, प्रायः स्थान परिवर्तित करते रहते हैं । कोल, भील, किरात हम निषादोंके ही भाई हैं । हम सरिता तटोंपर बस गये और ये अरण्यानी बने रहे । अब ये यहाँ आवास बना लेंगे तो गुह अपने ग्राममें निश्चिन्त रह सकेगा ।'

शुष्क-हरित काँस, मुञ्ज बहुत-सा आगया । उपयुक्त शाखाएँ आगयीं और बन्धनके लिए शाखाओंके वल्कल छीलकर ढेर कर दी गयीं । शतशः कोल-किरात तरुण एक साथ लग गये थे । उनकी ओर निषादराजने प्रसन्न होकर देखा और श्रीरामसे बोले—'आप तीनों तब तक स्नान कर लें । पर्णशाला अभी प्रस्तुत होती है ।'

सचमुच श्रीराम लक्ष्मण जब तक स्नान-सन्ध्या करके मन्दाकिनीके तटसे ऊपर आये, उन कार्यरत तरुणोंने एक विशाल और एक छोटी पर्णशाला प्रस्तुत कर दी थी। सुदृढ़ पर्णशाला थी। तृण-भित्तियाँ पर्याप्त मोटी थीं और उनके चारो ओर बाहर मिट्टीसे मेड़ बना दी गयी थी, जिससे वर्षाका जल भीतर न आ सके। पर्णशालाका भीतरी भाग सुचिक्कन तृण-रचना थी।

'देवि ! हमने परिखा निर्मित कर दी हैं !' गुहने अञ्जलि बाँधकर निरीक्षणमें लगी श्रीमैथिलीसे कहा—'अब आप निर्देश कर दें तो उसके अनुसार तुलसी तथा अन्य सुमन-रोपणके लिए ये लोग गड्ढे बना देंगे।'

'यह कार्य आज नहीं।' श्रीरामने मना कर दिया। स्वभाव मृदुल उन्हें लग रहा था कि उनके लिए ये वनवासी तरुण श्रान्त हो रहे हैं- 'मित्र गुह ! आपके ये स्वजन तो समीप ही रहने वाले हैं। ये हमारी आवश्यकतानुसार सहायता करते रहेंगे। समीपके वनमें प्रचुर पुष्प हैं। केवल अर्चाके लिए थोड़े तुलसी-वीरुध लगाने हैं और वे कल लगेंगे।'

'लक्ष्मण ! यही अब हमारा राजसदन है।' भाईकी ओर देखकर श्रीरामने कहा—'हम यहाँ वास्तुपूजन करके गृहप्रवेश करेंगे।'

क्षत्रिय और वश्यको भी अपना अर्चादि कर्म सम्पन्न करनेके लिए ब्राह्मणकी आवश्यकता तब होती है, जब वह स्वयं शास्त्र-विधि-ज्ञाता नहीं होता। यहाँ तो आपद्काल भी प्राप्त था। पुष्प, जल, दूर्वांकुर, फलसे वास्तुपूजन हुआ। निषादराजने स्वयं क्षेत्रपालकी बलिका वहन किया।

बड़ी पर्णशालामें काठके पायोंपर फटे बाँस बाँधकर बड़ी-सी शैय्या निर्मित कर दी किरात तरुणोंने। वे अपने उटजोंमें ऐसी शैय्या रखने—निर्माण करनेके अभ्यस्त थे। उसपर उन्होंने कुशकी चटाई तत्काल बनाकर डाली और मृदुल तृणोंका आस्तरण किया। किसलय-कुसुमास्तरण नित्य परिवर्तित होने थे।

कुमार लक्ष्मणने अपने उटजमें भूमिपर ही आस्तरण रखना स्वीकार किया। किसी तरुणने व्याघ्र एवं मृगचर्म लाकर रखे— देव ! आप आखेट करेंगे किन्तु उनका चर्म तत्काल कार्य योग्य नहीं होगा। आपके समीप कल प्रातः ही मुनि-मण्डल एकत्र होगा। उन्हें आसन देना आवश्यक होगा।'

क्या क्या आवश्यक होगा, यह उन वनवासियोंको बतलाना नहीं था। वे वन्य जीवनके अभ्यस्त थे। उनमें किसीने कुशासन बना डाले बहुतसे तो किसीने तुम्बे अथवा बाँसकी नलिकाएँ बना दीं। नाना प्रकारके वन्य पात्र, मधु, कन्द, फलादिसे पर्णशाला शीघ्र सम्पन्न हो गयी।

'आर्यपुत्र ! मैं वनकी साम्राज्ञी होगयी हूँ।' श्रीमैथिली अत्यन्त प्रसन्न थीं —'आपकी प्रजाने प्रथम कर दिया है। सबके आतिथ्यकी अनुमति दें।'

उस दिन निषादराजको, कोल-किरातोंको तथा एकत्र वनपशुओंको भी श्रीजनकराज-तनयाके करोंका प्रसाद प्राप्त हुआ।

निषादराज गुहको प्रातःकाल विदा होना था। श्रीरामका वियोग किसे व्याकुल नहीं करता; किन्तु वे आश्वस्त थे कि उनके शतशः शूर अरण्यानी आस पास अपने उटज बनाने लगे हैं।

वनवासियोंका सौभाग्य

अनन्त सौभाग्यका उदय हुआ श्रीरामके निवाससे वहाँके वनवासियोंका। भूमि मङ्गलमयी होगयी। गिरिसे निर्झर और वृक्षोंसे मधु-धार क्षरित होने लगी। सरिताका जल निर्मल हो गया। वनभूमि तृण-कुश प्रचुर हो उठी और लताओंमें पुष्प, तरुओंमें फल लद उठे। पक्षी, पशु, भ्रमर सभी पुष्ट, प्रसन्न होगये। वनके कोल-किरातोंको अपना अत्यन्त वात्सल्यधाम पालक मिला तो मुनिगणोंको अपनी जन्म-जन्मकी साधनाका फल साक्षात् प्राप्त हुआ।

श्रीजनक-नन्दिनी प्रथम प्रभातसे ही व्यस्त रहने लगीं। उन्हें क्षण-क्षणपर लक्ष्मणकी सहायता अपेक्षित होती थी और अपनी स्नेहमयी अम्बाको प्रसन्न देखकर लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न थे। श्रीराम प्रायः बैठे बैठे यह व्यस्तता देखते रहते थे, मन्द मन्द मुस्कराते हुए।

मुनिगण तो विलम्बसे--प्रायः तीसरे प्रहर पधारते थे, किन्तु अतिथियोंका आगमन प्रभातसे ही प्रारम्भ होजाता था। ये प्रथम अतिथि थे वनके कपि, ऋक्ष, गज, केहरी, शशक आदि। ये सवेरे ही अपने उपहार लिये आ पहुँचते थे। कोई कपि या ऋक्ष पूरा मधु-छत्रक लाकर धर देता था। गज पक्व फलोंसे लदी पूरी शाखा लिये आते थे। नन्हीं गिलहरी तक कोई छोटा फल ला रखती थी तो ऋक्ष, कपि, वाराहादि तो सबल थे। वनके दुर्गम भागसे ये कन्द, मूल ले आते थे।

मध्याह्नके पूर्व ही कोल-किरातोंका मण्डल आता था। इनको पुनः सायं-काल भी आना था। नर-नारी सब टोकरियोंमें फल, कन्द, मूल, शाक लिये आते थे। इनसे श्रीजनक-नन्दिनी इनके और पशु-पक्षियोंके द्वारा लाये कन्द, फलादिके नाम पूछतीं तो ये उसका स्वाद, गुण, उपयोग-विधि भी विस्तारसे बतलाते।

'यह कन्द !' अनेक बार कोल-किरात भी किसी कन्द, मूल अथवा औषधि-को देखकर चकित हो जाते थे—'यह तो हमारे लिए भी अलभ्य है।'

'यह जाम्बवी ले आयी आज प्रातः।' श्रीमैथिलीने गजों, रीछों, वाराहों, कपियोंके नामकरण कर दिये थे। एक नन्हीं गिलहरीका नाम उन्होंने जाम्बवी रखा था।

'यह दुर्गम गह्वरमें जलस्रोतके समीप होता है।' कोलवृद्धने कहा—'कपि भी न पहुँच सकें ऐसे स्थानपर।' इसे खा लेनेपर तीन दिन तृषा-पीड़ा नहीं होती।'

'बेचारी जाम्बवी! कितना श्रम किया होगा उसने।' श्रीमैथिलीका वात्सल्य उमड़ पड़ा था—'आवे तो उसे डाँटूंगी, वह इतना कष्ट क्यों करती है।'

'वही इसे पा सकती थी।' वृद्धकोलने कहा।

'तुम इसे खाकर देखो!' श्रीजनक-नन्दिनीके सभी बच्चे हैं यहाँ। वे कोल-किरातोंको ही नहीं, पक्षी, पशु किसीको भी बिना कुछ खिलाये जाने नहीं देतीं और उनके लिए दुर्लभतम फल-कंद भी तब प्रसन्नताका हेतु होता है, जब कोई उसे खाकर प्रसन्न हो।

'इसे?' वृद्ध हिचकता है; किन्तु अब उसे यह प्रसाद लेना ही पड़ेगा। श्रीवैदेहीके उटजमें अनेक ऐसे अलभ्य उपहार हैं। उपहारोंकी राशि वे लाने वालेकी प्रसन्नताके लिए सम्हालती हैं और उसी उत्साहसे वितरित करती हैं।

मुनिगणोंको मध्याह्न सन्ध्याके पश्चात् आना रहता है। तपस्वियोंका आये दिन व्रत ही रहता है। कोई कृच्छ्र कर रहा है। कोई तप्तकृच्छ्र। कोई चौथे दिन एक फलमात्र लेता है, कोई सातवें दिन। श्रीरामका सबको निमन्त्रण है, प्रतिदिन-का निमन्त्रण; किन्तु श्रीवैदेहीको लगता है कि बहुत थोड़े तपस्वी किञ्चित् आहार ग्रहण करते हैं उनके यहाँ।

तृतीय प्रहरके प्रारम्भमें श्रीसीताराम वट-मूलमें बनी वेदिकापर आसीन होते हैं। समीपके तपोवनोंके ऋषि-मुनियोंमें सभी आ जाते हैं उस समय। प्रायः लक्ष्मण प्रश्न करते हैं और श्रीराम उत्तर देते हैं। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मनोनि-यन्त्रणादि सम्बन्धी गूढ़-विवेचन ऐसा किसीको अन्यत्र कहाँ श्रवण-सुलभ होना है।

'वत्स! तुम महर्षि वशिष्ठके मेधावी शिष्य हो।' श्रीरामने प्रथम दिनकी गोष्ठीमें एक वृद्ध ऋषिसे प्रश्न किया तो उन्होंने कहा—'हम सब अरण्यमें रहते हैं। हमारे लिए शास्त्रचर्चा दुर्लभ है। एकान्तमें साधनाभ्यास सम्भव होता है। ज्ञानार्जन सम्भव नहीं होता। हम सब तुमसे श्रवण करने आये हैं। तुम हमारा आतिथ्य करो ज्ञान-दानके द्वारा।'

ऋषि-मुनि कभी कभी, बहुत आग्रह किये जानेपर अत्यन्त संक्षिप्त शब्दोंमें

अपनी साधनाके सम्बन्धमें अपने अनुभव सुनाते हैं। चतुर्थ प्रहरके प्रारम्भमें तपस्वियोंका यह समाज आह्निक कर्म पूरा करने विदा होता है।

सायं-सन्ध्या समाप्त होते ही कोल-किरात आजाते हैं। अनेक बार कोई पशु या पक्षी भी आते हैं। यह समय है श्रीजानकीके सम्मुख अभियोग उपस्थित करनेका। श्रीरामके सम्मुख कदाचित ही कोई अभियोग जाता है। बच्चोंके परस्पर-विवाद सुनने और उनको समझानेका कार्य सदासे माताका रहा है। किसी कोलनारीको पतिके विरुद्ध कुछ कहना है अथवा किसी वृद्ध या वृद्धाको पुत्र अथवा पुत्रवधूके विरुद्ध। अत्यन्त सामान्य अभियोग जबसे श्रीराम चित्रकूट आये हैं, वास्तविक अभियोग स्वतः समाप्त होगये हैं। अब तो अभियोग इतनेमें सिमट गये हैं—'आपके लिए मूल खोदने यह एकाकी निकल जाता है। मुझे साथ चलनेका सङ्केत तक नहीं देता।'

पशुओंके भी अभियोग हैं। वे अपने सङ्केतकी भाषामें उसे व्यक्त करते हैं और उनके अभियोग उपस्थित करनेका समय नहीं है। वे चाहे जब दौड़े आते हैं। मधुछत्रक कपि तोड़ने जा रहा था कि ऋक्षने आकर उसे धमका दिया। अब वह छत्रक लिये ऋक्ष श्रीजनक-नन्दिनीके समीप पहुँचेगा तो कपि उलाहना नहीं देगा ? 'खों खों' करके सङ्केत करता है तो श्रीजानकी हँस पड़ती हैं—'यह तेरा मधुछत्रक ले आया ? चल जाने दे। मैं तुझे पर्याप्त मधु और कन्द दूँगी।'

कपि उस छत्रकका दो बिन्दु मधु भी क्यों ले ? अब इस रुठे बालकको माता ही तो मनावेगी।

कभी भी शशक अथवा उसके जैसा छुद्र पशु उलाहना देने आ पहुँचेगा कि महागज उसे कुचलने ही जारहा था। अब वनकी इन स्नेहमयी अधिदेवताके समीप आकर वह महागजका भय क्यों करे ? गजको स्नेहभरी झिड़की मिलेगी —'तुम इन निर्बलोंको देखकर चला करो ?' वह इन अम्बाके चरणोंके समीप सूँड़ लाकर तनिक झुकेगा और शशक सन्तुष्ट हो जायगा।

मृग, वाराहको केहरीसे अभय प्राप्त हो गया है। वह तो अपनी संगिनीके साथ यहाँ फलोंकी गुठलियाँ चबाने चला आता है। इतना स्वादिष्ट, इतना उत्तम उच्छिष्ट प्रसाद मिले तो वह क्यों पशुओंके पीछे दौड़े और उनके क्षार शोणितका लोभ करे।

पक्षी चाहे जब आकर श्रीलक्ष्मणके कन्धेपर अथवा जनक-नन्दिनीके अङ्क-में आ बैठते हैं। जब तुलसीके वीरुधोंको ये सींचती हैं, उन वीरुधोंके आलबालमें भरे जलको पीने, उसमें स्नान करनेका महापर्व होता है पक्षियोंका। श्रीराम भी सुप्रसन्न देखते हैं यह महोत्सव।

करुणामय, स्वजन वत्सल श्रीरामको अनेक बार पिता-माताका स्मरण आता है। अनेक बार भाई भरत स्मरण आते हैं। श्रीमुख गम्भीर हो जाता है। कमललोचन भर आते हैं; किन्तु तत्काल अपनेको सम्हालना पड़ता है। क्योंकि श्रीजानकी अथवा लक्ष्मणकी दृष्टि पड़ी, उन्होंने श्रीरामका उदास मुख देखा तो हाथका पदार्थ छूट गिरेगा। वे रुदन करने लगेंगे। उनको रोते देखकर पशु-पक्षी, कोल-किरात ही नहीं, वृक्ष-लताएँ तक मानो क्रन्दन करने लगती हैं। श्रीराम वनमें आकर सम्राट् होगये हैं और यहाँके सब प्राणी, वृक्ष-लतादि भी उनकी प्रजा हैं, यह बात तथ्यसे बहुत दूर है। सब प्राणी एक परिवारके होगये हैं। सब श्रीसीतारामके शिशु। अब इन शिशुओंके मध्य परिवारका प्रधान खिन्न हो, व्याकुल हो तो परिवारको कितनी व्यथा होगी?

'आपका राजसदन बहुत सङ्कीर्ण हो गया है।' श्रीजनक-नन्दिनी परिहास करती थीं—'आप अब एक कोषागार बनवाइये। आपकी प्रजाका प्रतिदिनका उपहार अब इसमें आना कठिन हो रहा है।'

'वनकी साम्राज्ञीको अधिक उदारता पूर्वक अतिथि सत्कार करना चाहिए!' श्रीराम भी विनोद करते थे—'उदासीन अरण्यवासी कोषागार बनावेगा तो आप उससे सेवक माँगेंगी और यहाँ तो वह स्वयं ही सेवक बन सकता है।'

'मुझे कोई सेवक-सेविका नहीं चाहिए।' श्रीमैथिली वनमें आकर अयोध्यासे भी अधिक प्रसन्न थीं—'आपकी अनन्त प्रजा हैं और सब सेवापरायण हैं। मेरी सेवाके लिए तो देवर ही पर्याप्त हैं।'

वनका, वनवासियोंका सौभाग्य—श्रीसीतारामकी सेवाका अवसर प्राप्त हुआ था उन्हें और वे अपने ढंगसे, अपनी शक्ति-बुद्धिके अनुसार सेवामें लगे थे—प्रत्येक प्राणी लगा था सेवामें।

वनकी—मुनि आश्रमोंकी गायें चरने निकलतीं तो उनको श्रीरामके आश्रम आना था। कोल-किरातोंके पास भी गोधन था। आश्रमोपलेपनके लिए गोमय

प्रभातमें ही सुलभ हो जाता था और श्रीजानकी उठें, इससे पूर्व किरात कन्याएं उपलेपन सम्पन्न करके वन-धातुओंसे चित्राङ्कन भी कर जाती थीं।'

केवल जल लाना था लक्ष्मणको मन्दाकिनीसे। श्रीजानकी तुलसी-तरुओं-का स्वयं सिञ्चन करके सायंकाल उनके समीप प्रदीप रखती थीं। इसके अति-रिक्त उपहार ग्रहण और अतिथि सत्कार। उच्छिष्ट, छिलके आदि मृग, शशक प्रभृतिका भाग था। वायुदेव एक शुष्क पत्र भी वहाँ रहने नहीं देते थे। श्रीरामके आवाससे वन मङ्गलमय, शोभा सम्पन्न, समृद्ध, परम रम्य होगया था। नित्य नवीन उत्सव चलने लगा था वहाँ।

सुमन्त्र लौटे

अयोध्याके समीप आकर सुमन्त्रको किञ्चित् वाह्य चेतना हुई। उन्होंने इधर उधर देखा—'मैं कहाँ हूँ ? श्रीराम जनक-नन्दिनी और लक्ष्मण के साथ चले गये ?'

किसी प्रकार अपनेको स्थिर किया। लगा कि इस समय उन्हें एकान्त चाहिए। विचार करनेको समय चाहिए। रथ इसी समय सहसा नगरमें नहीं लेजाया जा सकता। रिक्त रथ देखकर पता नहीं कितने लोगोंकी आशा भङ्ग होगी। कोई पूछ सकता है—'महामन्त्री ! तुमने अयोध्यासे कबकी शत्रुता निकाली ? तुम श्रीरामको वनमें छोड़ आये ? वे नहीं लौटे यह तो ठीक; किन्तु तुम तो रह सकते थे उनके साथ। यह रथ भी लौटा लाये तुम और उन्हें पैदल चलनेको वनमें छोड़ आये ?'

कोई पूछे न पूछे, सुमन्त्रका अपना ही हृदय हाहाकार करके पूछ रहा था—'तुम अयोध्या किस लोभसे लौट आये ? भरतके राज्यमें भी महामन्त्री बने रहनेका लोभ तुम्हें नहीं है तो श्रीरामके सम्मुख तुमने प्राण त्याग दिये होते, धन्य होजाते तुम। जिसे तुमपर जीवन भर विश्वास रहा है, जो चक्रवर्ती सम्राट होकर भी तुमको सखा मानता रहा, जिसने अपना सर्वस्व—अपना प्राण तुम्हारे हाथमें दिया, उसी वृद्ध, व्याकुल, तड़पते स्वामीसे जाकर कहोगे कि तुम उनके प्राणोंके आधारको वनमें विदा कर आये ? नागरिक पूछेंगे—वे आशा लगाये होंगे कि सुमन्त्र श्रीरामको लौटा लायेंगे और तुम उन्हें उत्तर दोगे ? क्या उत्तर दोगे ? किस मुखसे उत्तर दोगे ?'

सुमन्त्रको कुछ सूझ नहीं रहा था। उन्होंने—अयोध्याके महामन्त्रीने हाथ जोड़कर निषादोंसे प्रार्थना की—'आप सब अब लौटें। मैं थोड़ी देर रुककर नगरमें चला जाऊँगा। अब आप सब और कष्ट मत करें।'

साथ आये निषादोंको भी लगा कि महामन्त्रीको अकेला छोड़ना उचित है। अकेलेमें सङ्कोच हीन होकर खुलकर थोड़ी देर रो लेनेसे उनका हृदय हलका होगा। श्रीरामसे रहित अयोध्यामें प्रवेश करनेको उन सबका हृदय प्रस्तुत नहीं था। अतः महामन्त्रीको प्रणाम करके वे विदा हो गये। उन्होंने देख लिया कि एक

सघन वृक्षके नीचे, पथसे हटकर सुमन्त्रने रथ रोक दिया है और उसीपर बैठ गये हैं सिरपर हाथ रखकर।

साथ आये निषाद चले गये। सुमन्त्रको स्वयं पता नहीं कि वे रथपर कब तक बैठे रहे। सूर्यास्त हुआ, अन्धकार फैला दिशाओंमें और रथके अश्व स्वयं अभ्यासवश नगर-द्वारकी ओर बढ़ चले। उन्हें रात्रिमें निर्जनमें रथमें जुड़े रहना अटपटा लगा था।

नगरमें रथ आया। लोग तो दूरसे ही सूना रथ देखकर सिर पीट लेते थे। सुमन्त्र प्रायः संज्ञाहीन बैठे थे रथपर। उन्हें न कुछ दीखता था, न कुछ सुनायी पड़ता था। नगर-पथके प्रहरियोंने महामन्त्रीको इस दशामें, रक्तहीन-काय, अत्यन्त व्याकुल देखा तो दोने रथके अश्वोंकी रश्मि पकड़ली। पैदल रथके दोनों ओर चलते रथको ले जाकर महारानी कौसल्याके द्वारपर खड़ा किया। पुकारकर, हिलाकर महामन्त्रीको सावधान किया—'आप श्रीचक्रवर्ती महाराजका दर्शन करें भीतर जाकर।'

सुमन्त्र सचेत हुए। रथसे उतरे। रथ तथा अश्वोंको सेवक स्वयं सम्हाल लेंगे। महामन्त्री अत्यन्त व्याकुल राजभवनमें प्रविष्ट हुए। अन्तःपुरकी सेविकाओंने न पहुँचाया होता तो सुमन्त्र कहीं भी लड़खड़ाकर गिर पड़ते। सदा अपने सम्राटके सम्मुख जयध्वनि करके उपस्थित होने वाले महामन्त्री आज मौन पहुँचे और दूर ही भूमिपर गिरकर, मस्तक भूमिमें रखकर रुदन करने लगे–फूट-फूटकर रोने लगे।

अयोध्यासे बाहर सुमन्त्र तीन रात्रि रहकर लौटे थे। महाराज मूर्च्छित पड़े थे। इन तीन दिनोंमें वे अत्यन्त जर्जर हो गये थे। महारानी कौसल्याने पतिके कानके समीप मुख लेजाकर उच्च स्वरमें कहा—'श्रीरामके पाससे सुमन्त्र लौटे हैं। आप उठें!'

'श्रीराम आये?' महाराज चौंककर उठे। उन्होंने फटी-फटी आँखोंसे सुमन्त्रको देखा—'सुमन्त्र! गुणधाम राम कहाँ हैं? वे क्या वनमें चले गये? मेरी पुत्रवधू क्या पैदल गयी वनमें? वे भूमि शयन करते हैं? सुमन्त्र! बोलो तो सही। तुम मौन क्यों हो? मुझे बतलाओ कि मेरे पुत्र और पुत्रवधूने क्या आहार किया? वे कहाँ सोये? कैसे हैं?'

'महाराज! आपने अपनी पुत्रवधूके लिए जो वस्त्राभरण भेजे थे, सब श्रीरामने लौटा दिया है। उन्होंने मस्तक भूमिमें रखकर आपको, महारानियोंको,

कैकेयीको भी तथा कुलगुरुको प्रणाम कहा है ।' सुमन्त्रने अपना कर्तव्य सम्हाला धैर्य रखकर—'सबके स्वास्थ्यकी कामना की है ।'

'महारानी ! श्रीरामने आपसे कहनेको कहा है' सुमन्त्रने कौसल्याको मस्तक झुकाया—'आप धर्मिष्ठा हैं, देवताके समान महाराजकी पूजा-सेवा करें। मान त्यागकर कैकेयीकी भी सेवा करें । ज्येष्ठाका भाव छोड़कर भरतका सम्मान करें ।'

भरतसे कहनेको कहा है—'सबके साथ न्यायका व्यवहार करें। पिताकी आज्ञाके अनुसार प्रजाका पालन करें। माताओंको समान मानें और मेरी दुखिया माताका ध्यान रखें ।'

'लक्ष्मणने भी कुछ कहा होगा सुमन्त्र !' महाराजने पूछा ।

'कहा है देव !' सुमन्त्रने हाथ जोड़ा—'किन्तु श्रीरामने उसे निवेदन न करनेका अनुरोध किया है ।'

'सुना दो ! मेरे श्रवण शीतल होंगे उसे सुनकर ।' महाराज दीनके समान याचना करने लगे—'दशरथ अब कटु औषधिका ही अधिकारी होगया है ।'

'कुमार लक्ष्मणने लाल-लाल नेत्रोंसे मुझे घूरते हुए पूछा,' सुमन्त्र बतला रहे थे—'महामन्त्री ! दशरथने किस अपराधसे श्रीरामको निर्वासित किया है ?'

'मैं क्या उत्तर देता ? कुमारने लगभग शाप दिया'—सुमन्त्र तनिक रुके; किन्तु महाराजके नेत्रोंमें सुननेका अपार आग्रह था, अतः वही शब्द दुहराने पड़े सुमन्त्रको—'कैकेयीने लोभवश वरदानको निमित्त बनाकर पाप किया है। उसे इसका फल भोगना होगा । ठीक पश्चात्तापके लिए भी उसे दिशाओंका कोई कोना नहीं मिलेगा । मेरी दृष्टिमें दशरथ मेरे पिता नहीं हैं । मेरे भाई, बन्धु, पिता सब मेरे ये अग्रज हैं । इनको वन भेजकर राजा सुखी नहीं रह सकते ।'

'सुखी ? सुख तो श्रीरामके साथ चला गया । अब तो बड़वानल जल रहा है हृदयमें; किन्तु' महाराजने रोते-रोते कहा—'सुमन्त्र ! लक्ष्मण भले दशरथको पिता स्वीकार न करें, दशरथके वे योग्यतम सुपुत्र हैं। मुझे उनके पिता होनेपर गर्व है ।'

'कहना तो कुछ श्रीजनकराज-नन्दिनी भी चाहती थीं; किन्तु कण्ठ भर आया । वे रुदन करती मस्तक झुकाये मौन रह गयीं। केवल दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया उन्होंने ।' सुमन्त्रने देखा कि महाराज पुत्रवधूके सम्बन्धमें पूछेंगे अतः स्वयं सुना दिया ।

'शृङ्गबेरपुरमें निषादराज गुहने उन्हें नौकामें बठाया। गंगातटपर दोनों भाइयोंने वटक्षीरसे केशोंको जटा बना लिया था।' सुमन्त्र क्रन्दन कर उठे—'मैं तटपर खड़ा देखता रहा। वे पार उतरकर पैदल प्रयागकी ओर गये। लक्ष्मण आगे चल रहे थे और श्रीराम पीछे। वधू सीता मध्यमें थीं।'

'महाराज! रथके अश्व रुदन कर रहे थे। वे चलते नहीं थे। गुहके सेवक कृपा करके मुझे नगरके समीप तक पहुँचा गये हैं।' सुमन्त्रने कहा—'यह अभागा सूत आपको समाचार देने जीवित लौट आया है। अन्यथा श्रीरामके वियोगमें सरिताओं तकमें उष्ण जल बह रहा है। सरोवर सूख चुके हैं। वृक्ष-लताओंमें पत्र-कलिकाएँ झुलस गयी हैं। प्रजामें सब हाहाकार कर रहे हैं। हमारे प्रति उदासीन जन ही नहीं, शत्रु तक श्रीराम विरहमें व्याकुल हैं।'

'सुमन्त्र! मैंने जीवनकी सबसे बड़ी भूल की है।' महाराज कातर कण्ठ बोले—'जब कैकेयीने शपथ दिलाकर वरदान माँगा, तब मुझे मन्त्रियोंसे, प्रजा-प्रधानोंसे, विप्रोंसे और कुलगुरुसे सम्मति लेनी चाहिए थी। मोहवश मैंने विपरीत निर्णय लिया। मौन बना रहा मैं। अब यदि मेरे कुछ भी सुकृत शेष हैं तो तुम सब मुझे क्षमा करदो! रामको लौटा लाओ। वे दूर चले गये होंगे। मुझे रथमें बैठाकर उनके समीप ले चलो!'

'राम! हा वत्स राम!' महाराजकी विह्वलता वर्णनातीत है। देवी कौसल्या-का शरीर थर-थर काँप रहा था। उन्होंने महामन्त्रीसे अनुरोध किया—'मुझे शीघ्र रथमें बैठाओ! मेरे पुत्र-पुत्रवधूके समीप पहुँचाओ मुझे।'

'देवि! शोक और मोहका त्याग करें। आपका और महाराजाधिराजका शरीर भी ऐसा नहीं है कि यात्राका कष्ट सम्हाल सके।' सुमन्त्रने हाथ जोड़ा—'श्रीराम वनसे नहीं लौटेंगे, यह निश्चय है। लक्ष्मण उनकी सेवामें रहेंगे ही। वधू सीतामें भी दैन्यका लेश नहीं दीखा, जैसे नगरोद्यानमें वे पतिके साथ घूमती हों, ऐसे वनमें, धूपमें पैदल प्रसन्न जाते मैंने उन्हें देखा है। मैंने देखा है कि वे उत्फुल्ल होकर पशु-पक्षी या पुष्पकी ओर सङ्केत करके उनका नाम-परिचय श्रीरामसे पूछ रही थीं। वे अम्लान थीं। लौटनेकी बात ही वे सोच नहीं सकतीं।'

'केवल आपका यह अधम सूत लौट सकता था।' सुमन्त्रका धैर्य समाप्त हो-गया। वे पृथ्वीपर गिर पड़े—'यह वज्र हृदय, मन्त्रीपदका लोलुप लौट आया है। इसे वनके कष्टोंसे भय लगा। यह अयोध्याके भवनोंमें सुखसे रहने आया है। धिक्कार! धिक्कार है सुमन्त्र तुझे!'

महाराज दशरथका देह-त्याग

'आपका सुयश त्रैलोक्यमें विस्तीर्ण है ।' अत्यन्त दुःखके आवेशमें महारानी कौसल्याने कहा—'महाराज, आपने मेरे पुत्र और पुत्रवधूको क्यों निर्वासित कर दिया ? वह बालिका वनमें कैसे रहेगी ? आपकी आज्ञा स्वीकार करके राम चौदह वर्ष पीछे अयोध्या लौट भी आये तो क्या वे राज्य-कोष स्वीकार कर पावेंगे ?'

'क्या ?' महाराजने चौंककर मस्तक उठाया ।

'अच्छे विप्र पंक्तिके भोजन करलेनेपर पीछे भोजन स्वीकार नहीं करते ।' देवी कौसल्या अपने आवेशमें कहती गयीं—'जब छोटे भाई भरत राजा हो जायँगे, तब पीछे उनके अग्रज राम कैसे उसी सिंहासनपर बैठेंगे ? सिंह दूसरेका उच्छिष्ट कभी ग्रहण करता है ? राम यहाँ आवेंगे लौटकर, यही अब सन्दिग्ध है । आ भी जायँ तो राज्य कदापि स्वीकार नहीं करेंगे । मुझे आप उनके समीप भेज दीजिये ।'

'देवि ! तुम तो शत्रुओंके प्रति भी सदा उदार रही हो, मुझपर क्यों कठोर होगयी हो ?' अत्यन्त दुःख, शोकके कारण महाराज कुछ सोच नहीं सकते थे । अत्यन्त दीन स्वरमें उन्होंने कहा—'मुझपर प्रसन्न हो जाओ । मुझे क्षमा...... ।'

'छिः ! आप अपनी इस चरण-सेविकाको पाप-भागिनी क्यों बनाते हैं महाराज ।' महारानी कौसल्याने पतिके चरण पकड़ लिये—'उस नारीको धिक्कार है, जिससे पतिको क्षमा माँगनी पड़े । मैंने पुत्रके मोहवश शोकाक्रान्त मति होनेसे जो अनुचित कह दिया, उसे आप क्षमा कर दें ।'

'तुम ? तुम जैसी सतीके साथ मैंने अन्याय किया है ।' महाराज कौसल्याजी-के चरण पकड़नेसे और व्याकुल हुए—'मैंने तुम्हारे पुत्रको—अपने सर्व गुण सम्पन्न पुत्रको, वनमें भेज दिया । मेरी पुत्रवधू—त्रिभुवनमें नहीं ऐसी सौकुमार्यकी प्रतिमा-को वनमें जाते देखा और अब उनके अयोध्या लौटनेमें भी सन्देह है ? राम अयोध्या नहीं लौटेंगे अब ?'

'महाराज ! स्वामी ! आप अपनेको सम्हालिये ! धैर्य धारण कीजिये !' महारानी कौसल्याने आर्तनाद करके श्रीचक्रवर्ती महाराजका कर पकड़कर हिलाया । उन्होंने देखा कि सहसा महाराजके रक्तहीन मुखपर कालिमा आने लगी

है। उनके नेत्र बुझते लगते हैं। उच्च स्वरसे बोलीं—'आप ही इस समय सबके—प्रजाके, हम सबके आधार हैं। दुःखके महासागरमें डूबते हमारे महापोत हैं आप। आप स्थिर नहीं होंगे तो अयोध्या नष्ट हो जायगी!'

'अयोध्यामें नष्ट होनेको अभी कुछ शेष है देवि ?' महाराजने एक बार नेत्र खोला। बुझते दीपककी अन्तिम लौ जैसे उठी—'दशरथने दावाग्नि लगा दी अयोध्यामें और यह पुरी भस्म होगयी। अयोध्याका प्राण वनमें गया। आह! परम पितृ भक्त अपने पुत्र श्रवणके अन्ध तपस्वी वृद्ध पिताने मुझे शाप दिया था। उसने चितापर बैठकर कहा था—'तू भी मेरे समान पुत्र वियोगमें ही मरेगा।'

'पुत्र वियोग। गुणैकधाम राम वनमें हैं और मैं अब तक जीवित हूँ ? अब तक ?' महाराजका शरीर छटपटाकर गिरा—'वत्स रामभद्र! श्रीराम! राम!'

नेत्र बन्द होगये। हृदयने गति बन्द कर दी। दीपक बुझ गया। त्रिलोकीको आतङ्कित करने वाला रावण भी जिससे आतङ्कित रहता था. सुरपतिका वह सम्मान्य सखा, भूमण्डलैक चक्रवर्ती, अयोध्याका परमोदार, परम धार्मिक, सत्य प्रतिज्ञ सम्राट संसारसे विदा हो गया।

× × × ×

महाराजको गिरते देखकर ही महारानी कौसल्या और सुमित्रा मूर्च्छित होगयी थीं; अब राजसदनमें क्रन्दनके अतिरिक्त और क्या रह गया था।

'महाराजका शरीरान्त हो गया ?' कैकेयीने सुना तो सहसा उन्हें विश्वास नहीं हुआ। वे व्याकुल होकर उठीं। वे पतिव्रता थीं, पतिका प्रेम प्राप्त था उन्हें और पतिको हृदयसे प्यार करती थीं। इस सन्देहने उन्हें कठोर बना दिया था कि—'राजा सपत्नीके वश होगये हैं। चुपचाप उनको उपेक्षिता बनानेमें लग गये हैं।'

अब तक महारानी कैकेयीने राजाके रुदन-क्रन्दनको सच्चा नहीं माना था। वे यही समझ रही थीं कि यह सब उनको प्रभावित करके वरदान लौटालेनेका कूट प्रयास है। इससे वे अधिकाधिक निष्ठुरा होती गयी थीं। पतिकी मृत्युके समाचारने उनके हृदयको धक्का दिया—'यह क्या होगया ?'

महारानी कैकेयी श्रीरामके वनगमनके समयसे ही उपेक्षिता हो गयी थीं। श्रीचक्रवर्ती महाराज उन्हें परित्यक्ता घोषित करके ज्येष्ठा महारानीके सदन चले गये थे। कोई सेविका उनके सदन नहीं जाती थी। अकेली मन्थरा थी और वह

बराबर रोषाग्निमें घृताहुति देती थी—'भरतको आने दो, सब दौड़ी आवेंगी। सबको देख लेना।'

अब यह वैधव्य ? महारानी कैकेयी पैदल दौड़ी गयीं बड़ी महारानीके सदन; किन्तु किसीने उनको सहानुभूतिसे नहीं देखा। किसी रानीने कह दिया—'महाराज को मृत्युमें भी शान्ति नहीं मिलने देना है ?'

महर्षि वशिष्ठ आगये समाचार पाकर। उन्होंने पहुँचते ही कैकेयीकी ओर देखा—'आप जानती हैं कि महाराज आपका त्याग कर चुके थे। महाराजके शरीरका स्पर्श नहीं कर सकतीं आप। अच्छा होगा कि आप अपने सदनमें ही रहें।'

महारानी कैकेयी ! महाराज दशरथकी परम प्रिया, मानिनी कैकेयीको पतिकी मृत्युपर रुदनका भी अधिकार नहीं रह गया था। उसके नेत्रोंके अश्रु शुष्क होगये थे। वह चुपचाप उस सदनसे कब चली गयी, किसीने इस ओर ध्यान नहीं दिया। सम्पूर्ण राजसदन जिसका भ्रूसङ्केत सदा देखता रहता था, वही महारानी आज सेविकाओंसे भी अधिक उपेक्षिता होगयी। इस उपेक्षाने उसके शोकको सम्हाला। उसे रोष आया। उसके रोषके बल थे उसके पुत्र। वह एक ही सहारा पकड़े सूने सदनमें लौटी—'भरतको आने दो !' क्रूर नियतिका अट्टहास कहाँ कोई सुनपाता है।

महर्षि वशिष्ठने रानियोंको उपदेश करके कुछ शान्त किया। सबके सिन्दूर धुल गये। सौभाग्यचिह्न विदा हुए। सब आभरण हीना, मुक्तकेशा, श्वेतवस्त्रा—राजसदन जैसे पूरा ही शवाच्छादनके नीचे आगया हो।

महर्षि वशिष्ठके लिए बहुत कार्य एक साथ आ गया। इस समय यजमानके अन्तःपुरको, प्रजाको, नगरको—सबको उन्हें सम्हालना था। उन्होंने सुमन्त्रको आदेश दिया—'सुमन्त्र ! शोक करनेके लिए अब तो सम्पूर्ण जीवन पड़ा है; किन्तु सङ्कटके समय धैर्य पूर्वक सावधान रहने वाला भृत्य ही उत्तम भृत्य है। शीघ्र मन्त्रियोंको और प्रजा-प्रधानोंको राजसभामें एकत्र करो। करणीयका तत्काल निर्णय आवश्यक है। महासेनापतिको सतर्क करदो। वे सेनाको किसी भी आकस्मिक आपत्तिके लिए सन्नद्ध रखें ! नगरके प्रतिष्ठित प्रधान पुरुषोंको भी आमन्त्रित करो। आपत्कालीन बैठक बुलाओ राजसभाकी। महारानी कौसल्या तथा सुमित्रा अवनिकाके पीछे उपस्थित रहेंगी !'

अयोध्याकी राजसभाका वह आपत्कालीन अधिवेशन—एक घटीमें ही सब एकत्र होगये थे। प्रथम-प्रश्न—'श्रीचक्रवर्ती महाराजके शरीरका क्या हो ?'

'शरीरकी अन्तिम गति है उसकी आहुति दक्षिणाग्नि में।' किसीने कहा—'इसमें सोचने और विलम्ब करनेका कोई कारण नहीं है। उत्तराधिकारीकी अनुपस्थितिमें पत्नीको यह अधिकार होता है '

'भरतके आगमन तक प्रतीक्षा नहीं की जा सकती ?' देवी सुमित्राने कहलवाया सेविकाके द्वारा।

'की जा सकती है। अवश्य की जायगी।' महर्षि आज सम्मति सुननेको प्रस्तुत नहीं थे। उन्होंने राजसभा परामर्शके लिए आमन्त्रित नहीं की थी। वे केवल आज अपना निर्णय सबको सुनाकर आदेश पालन कराना चाहते थे। ऐसे अवसरपर मतभेद सुनना उपयुक्त नहीं हुआ करता। स्थितप्रज्ञका निर्णय ही सङ्कटके समय पालनीय होता है। महर्षिने निर्णय दिया—'महाराजका शरीर तैलद्रोणी (नौका) में सुरक्षित कर दिया जाय। भरत आकर पिताकी सविधि अन्त्येष्टि करेंगे। श्रीरामके लौटने तक किसी महारानीको पतिके साथ सहमरणकी अनुमति नहीं दी जा सकती।'

सभाके लोग सन्न होगये। सचमुच यदि महारानी दाहकर्म करेंगी तो बड़ी महारानी कौसल्या ही करेंगी और उन परम साध्वीको तब चितारोहणसे कोई कैसे रोक पावेगा ? श्रीराम-माताको सती होते क्या प्रजा देख सकेगी ?

'किसीको तत्काल राज्यासनपर बैठाया जाना चाहिए !' प्रजा-प्रधानोंमें जो अपेक्षाकृत सबसे तरुण थे, उन्होंने प्रस्ताव किया—'प्रधान शासकका पद दो घड़ी भी रिक्त नहीं रखा जा सकता, प्रधान शासकके बिना प्रजाको न्याय कौन देगा ? दस्युओंका नियन्त्रण कौन करेगा ? अराजकता अनर्थोंकी जननी है। प्रजाको सुरक्षा अवश्य मिलनी चाहिए !'

'किसको सिंहासनपर बैठाया जाय ?' महर्षि वशिष्ठने सीधे प्रस्तावककी ओर देखा—'राजपुत्र कोई नगरमें नहीं हैं। महारानी कौसल्या और महारानी सुमित्रा कदापि प्रस्तुत नहीं होंगी। आप कैकेयीको राज्यासन देनेके पक्षमें हैं ?'

'नहीं ! नहीं !' एक साथ सबने पुकारा।

'कोई विप्र यह पद लेगा ही नहीं।' महर्षिने फिर प्रश्न किया—'आप स्वयं यह सेवा स्वीकार करेंगे ? दूसरा कोई प्रस्तुत है प्रजावर्गमें से ?'

'महाराज इक्ष्वाकुके सिंहासनपर दूसरा बैठनेका साहस नहीं कर सकता। प्रजा-प्रधान खड़े होगये—'हम केवल इक्ष्वाकुवंशीयको शासक स्वीकार करेंगे। वह भी श्रीराम के............।'

'आपको भय किससे है?' महर्षिने बीचमें ही कहा—'इस समय क्या श्रीरामका प्रेम ही शासक नहीं है? कहाँ विवाद है कि न्याय चाहिए? श्रीचक्रवर्ती महाराजके शासनमें कहीं दस्यु थे कि आज उठ खड़े होंगे? श्रीरामके इस राज्यमें कोई अराजक होनेको उद्यत है?'

'सुमन्त्र! भरतके समीप अभी तीव्रगामी वाहनपर दूत भेजो।' महर्षिने दो क्षण प्रतीक्षा की। पूरी राजसभा निस्तब्ध उनका निर्णय सुनना चाहती थी। उन्होंने सबसे कहा—'आप सब यह समाचार अपने तक रखेंगे कि महाराजका शरीर नहीं है। अयोध्याकी प्रजाको इस समय एक व्यक्तिके समान काम करना है। कैकेय वह सब उपहार भेजे जायँ जो सदा भेजे जाते थे। वहाँ भरतसे केवल इतना कहना है कि मेरी इच्छा है कि वे आकर शीघ्र अपनी माताका दर्शन करें।'

राजसभाका अधिवेशन समाप्त होगया। केवल महामन्त्री सुमन्त्रको कार्य भार दिया गया था। वे आवश्यक व्यवस्थामें लग गये।

———

भरतकी दुश्चिन्ता

'आर्य ! आपका श्रीमुख आज म्लान देखता हूँ ।' कुमार शत्रुघ्नने प्रातःकाल अग्रजका पदवन्दन करनेके पश्चात् कहा ।

'कुमार ! कोई कारण मैं भी समझ नहीं पाता हूँ; किन्तु मेरा मन प्रसन्न नहीं है ।' श्रीभरतने भाईका अभिनन्दन करके बतलाया—'रात्रिमें मैंने पिछले प्रहरमें उत्थानसे पूर्व दुःस्वप्न देखा है । मेरी वाम भुजा वाम नेत्र स्फुरित हो-रहे हैं ।'

'दुःस्वप्न तो मैंने भी देखा है ।' शत्रुघ्नने कहा—'मैंने देखा कि मुझे कोई बड़ा भयङ्कर वन्य महागज पकड़ लेना चाहता है । मैं निद्रामें ही कह रहा हूँ—'युद्धके अतिरिक्त गज-वध अधर्म है ।' मैं भाग रहा हूँ; किन्तु भाग नहीं पा रहा हूँ । मेरे भी वाम अङ्ग फड़क रहे हैं !'

'भैया, मैंने पिताजीको स्वप्नमें काला वस्त्र पहिनकर तैलसे भरे सरोवरमें डूबते देखा है ।' भरतने व्याकुल होकर कहा—'मैंने व्याकुल होकर अग्रजको तथा लक्ष्मणको पुकारा । कोई अदृश्य स्वर अट्टहास करता बोला— वे दोनों अब क्या अयोध्यामें बैठे है !'

'अयोध्यामें क्या हुआ ?' सशङ्क शत्रुघ्न बोले—'स्वप्नोंका फल तो अनिष्ट सूचित करता है ।'

'कुमार ! अघ और अरिष्ट अपने अग्रजके स्मरणसे निःशेष होजाते हैं । वे स्वयं अयोध्यामें हैं ।' भरतने चिन्ता व्यक्त की—'भली प्रकार इसे समझता हूँ कि आर्य श्रीरामके अयोध्या रहते किसी आशङ्काको स्थान नहीं है । अमङ्गल उनकी छायाका भी स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं; किन्तु मन भी कुछ होता है । अनेक बार मन आगत भयकी भयङ्कर छायाके पूर्वाभाससे आक्रान्त होजाता है । मेरा मन आज अशान्त होरहा है । कुछ-न-कुछ आसन्न भय अवश्य है ।'

'मातुलको सूचित कर दूं ?' कुमारने अनुमति चाही ।

'उन्हें चिन्तित करनेसे लाभ ?' भरतने भाईको रोका—'उनको सूचित

करने योग्य हमारे समीप क्या है ? केवल स्वप्न सुनाकर स्वजनोंको सशङ्क करना शिष्टता नहीं है। उत्तम पुरुष अपनी व्यथाको सुनाकर किसीको भी व्यथित नहीं करना चाहते।'

'मातामह कृतविद्य हैं। वे स्वप्नके अनिष्टको शान्त करनेका विधान कर सकते हैं।' शत्रुघ्नका तर्क सत्य सिद्ध होना था—'मातुलसे आप कहें या न कहें, आपका म्लान मुख देखकर वे स्वयं अनुमान कर लेंगे। हम दोनों जानते हैं कि उनके अनुमान कदाचित ही कभी किञ्चित् तथ्यसे दूर रहते हैं।'

'हम स्वयं भगवान् आशुतोषका स्मरण करके उनकी अर्चा करेंगे।' भरतने भाईको सहमत कर लिया। वैसे भी कुमार शत्रुघ्नको सदा अपने इन अग्रजका अनुवर्ती ही रहना आया है। अग्रजने कहा और उन्होंने उसे वेद-वाक्यकी भाँति मानलिया। भरतने समझाया—'वे सर्व समर्थ भवानीनाथ समस्त अशुभ अरिष्टों-के निवारक हैं। उनका स्मरण-अर्चन सुनिश्चित अनिष्टको भी सानुकूल बना-देता है। आर्तके सदाके आश्रय चन्द्रमौलि धूर्जटिका ध्यान अशुभोंको ध्वस्त कर-देगा।'

दोनों भाइयोंने नित्यकृत्य सम्पन्न करके पार्थिव-पूजन किया। दोनोंका एक सङ्कल्प, एक ही प्रार्थना—'हमारे वृद्ध पिता सकुशल रहें! हमारी स्नेहमयी माताएँ सुप्रसन्न रहें!'

'तपस्विनी, महायशस्विनी माता कौसल्या आनन्दपूर्वक रहें!' भरतको अपनी इन अम्बाकी चिन्ता हुई—'वे सदा कठिन व्रतोंमें लगी रहती हैं। उनका कृशकाय..............भगवान् गङ्गाधर मङ्गल करें।'

'हमारे दोनों भाई स्वस्थ, सुप्रसन्न रहें!' भरत-शत्रुघ्न दोनोंका मन कैकय आकर कभी पूरा प्रसन्न नहीं हो सका। दोनोंको प्रतिक्षण लगता था—उनका कुछ खो गया है। वे अपूर्ण हो गये है। भरत भाईसे एकान्त पाते ही कहते थे—'कमल लोचन श्रीरामकी चरण-सन्निधिमें ही जीवकी पूर्णता है। उन सद्घन, चिद्घन, आनन्दघनसे दूर होते ही प्राणी आनन्द, ज्ञानसे ही नहीं, सत्तासे भी दूर होने लगता है। वह केवल स्वप्नपुरुष रह जाता है।

कैकय नरेश महाराज अश्वपति और उनके युवराज युधाजितजी इन अयोध्यासे आये कुमारोंको प्राणके समान प्यार करते थे। असीम स्नेह था

युधाजितका अपने भागिनेयोंपर। जबसे ये कैकय आये थे, युधाजित केवल शयन एवं आह्निक कृत्यके लिए इनसे पृथक होते थे। महाराज अश्वपतिने इनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न ही मुख्य मान लिया था; किन्तु पिता-पुत्र दोनों समझ गये थे कि भरत-शत्रुघ्नको श्रीरामसे पृथक करके कोई सुख, कोई सुविधा, कोई आयोजन उल्लसित नहीं कर पाता। दोनों भाई अतिशय शिष्ट, शालीन हैं, अतः आयोजकोंकी प्रसन्नताके लिए सुप्रसन्न होनेका अभिनय करते रहते हैं। हार्दिक उत्फुल्लता इनमें कैकयमें कभी नहीं आयी।

'भरत ! आज विशेष चिन्तित देखता हूँ तुम्हें ?' मिलते ही कुमार युधाजितने सशङ्क स्वरमें पूछा—'मुझसे, पिताजीसे अथवा राजसदनमें किसीसे कोई अवज्ञा, कोई उपेक्षा होगयी है ? कोई असुविधा हुई है तुम दोनोंको ? किसीने कुछ कहा ?'

'मातुल ! ऐसा कुछ नहीं है।' भरतने शिथिल स्वरमें कहा—'मातामह और आपका असीम वात्सल्य हमें पल-पलपर सम्हालता ही रहता है; किन्तु आज दुःस्वप्न देखा मैंने और कुमार शत्रुघ्नने भी। मनपर उसका प्रभाव पड़ा है। कण्ठ शुष्क हो रहा है। हृदय दैन्य भावाक्रान्त है। मैं स्वयं अपनी व्याकुलताका कारण समझ नहीं पाता हूँ।'

'अभी कुलगुरु आवेंगे।' राजकुमार युधाजितने पहिले सेवक भेजा अपने कुलगुरुके समीप और तब दोनों भाइयोंको आश्वासन देने लगे—'तुम दोनों जानते हो कि वे तपोधन वेदज्ञ तथा स्वप्न-शास्त्रके मर्मज्ञ हैं। वे अरिष्टकी सम्यक् शान्तिका विधान करेंगे।'

कैकय नरेशके कुलगुरु पधारे। उन्होंने अयोध्याके राजकुमारोंका स्वप्न सुना तो गम्भीर होगये। स्वप्नके फलको सुनानेके स्थानपर उन्होंने अरिष्ट शान्तिके अनेक अनुष्ठान प्रारम्भ करनेका आदेश किया। वे जप, पाठ, यज्ञ, लक्षार्चनादि भरत-शत्रुघ्नके द्वारा विप्रोंका वरण कराके प्रारम्भ कर दिये गये।

———

अयोध्यासे चर आये

'आप दोनों चक्रवर्ती महाराजके कुमार हैं। शौर्य, प्रतिभा, सङ्कटके समय स्थिरता, धैर्य, साहसमें इक्ष्वाकुवंशके कुमारोंकी समता संसारके दूसरे किसी क्षत्रियकुलमें पायी नहीं गयी।' कैकय नरेशके कुलगुरुने अनुष्ठानोंको प्रारम्भ करनेके पश्चात् भरत-शत्रुघ्नको समीप बैठा लिया और स्नेहपूर्वक समझाने लगे—'स्वप्न स्वयं कुछ घटित नहीं करते। वे केवल घटित अथवा आसन्न भविष्य-के सूचक होते हैं। उनकी शुभ अथवा अशुभ सूचनाके अनुसार मनुष्य शीघ्र सम्मुख आनेवाली स्थितिका सामना करनेके लिए अपनेको प्रस्तुत कर ले, यही स्वप्न-शास्त्रके ज्ञानकी सार्थकता है।'

'वत्स ! जीवनमें प्रिय-अप्रिय दोनों आते हैं। सदा प्रिय ही प्राप्त होगा, इसकी आशा कोई सामान्यजन भी नहीं करता, तुम तो सृष्टिकर्ताके साक्षात् पुत्र ब्रह्मर्षि वशिष्ठके शिष्य हो।' उन परमतेजस्वी महर्षिकी वाणीने सबको सशङ्क कर दिया। स्पष्ट होगया कि किसी दारुण अनिष्टका उन्होंने दर्शन कर लिया है। वे कहते गये—'सत्र अनुष्ठान अघटितमें यत्किञ्चित् अनुकूल परिवर्तनके लिए किये जाते हैं। घटितमें कोई परिवर्तन अनुष्ठान, आराधना कर नहीं सकते; किन्तु ये निष्फल भी नहीं हैं। इनकी उपयोगिता है आगत विषम स्थितिमें धैर्य एवं धीको सम्यक् सुस्थिर, उचित निर्णय सक्षम रखनेमें।'

'परम भट्टारक महाराजकी जय हो !' सहसा द्वारपालने प्रवेश करके सूचना दी—'अयोध्यासे सन्देश-वाहक आये हैं। वे तत्काल आपके दर्शनका आग्रह कर रहे हैं। लगता है कि बहुत श्रान्त हैं; किन्तु उन्होंने राजकीय अतिथिगृहमें पथ-श्रम-शमनका अनुरोध भी अस्वीकार कर दिया है।

'आदरपूर्वक ले आओ !' महाराज अश्वपतिने अनुमति दे दी।

अयोध्याके महामन्त्री सुमन्त्र सामान्य प्रमाद कैसे कर सकते थे। इतनी दूरकी यात्रामें एकाकी दूत नहीं भेजा जा सकता। मार्गमें अस्वास्थ्य अथवा अन्य कोई बाधा उसकी यात्राको विलम्बित अथवा समाप्त कर दे सकती है। दो चर आये थे एक साथ और वे सकुशल पहुँच गये थे। राजसभामें पहुँचकर उन्होंने

महाराजको, युवराजको, कुलगुरुको विधिवत् प्रणाम किया । अयोध्यासे जो उपहार ले आये थे, वह महाराजके सम्मुख रख दिया ।

'आयुष्मान् भरत एवं शत्रुघ्नके लिए रघुकुल-गुरु महर्षि वशिष्ठका आदेश है, सन्देश-वाहक कोई पत्र नहीं ले आये थे । फलत: पत्रके मोड़नेके ढंग, उसपर लिपटे सूत्रादिसे अनुमान करनेका अवसर ही नहीं था । मौलिक सन्देश और वह भी सन्देश नहीं, आदेश —'दोनों राजकुमार अयोध्या आकर शीघ्र अपने पिता और अपनी माता कैकेयीका दर्शन करें ।'

'क्या हुआ मेरी पुत्रीको ?' महाराज अश्वपतिने चौंककर सन्देशवाहकोंकी ओर देखा ।

'कुछ नहीं हुआ है । वे स्वस्थ हैं ।' सन्देश-वाहकोंने हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया । उनकी भङ्गीसे स्पष्ट होगया कि उनको अधिक कुछ कहनेकी आज्ञा नहीं है ।

'कैकेयीको कुछ हुआ है । कुछ है उसके सम्बन्धमें ।' वहाँ सबके मनमें यही आशङ्का उठी—'वह स्वस्थ है, दूत केवल इतना कहते हैं । वह प्रसन्न है, सकुशल है, ऐसा कोई आश्वासन नहीं है । वह रुग्ण नहीं है; किन्तु······?'

'मातामह ! अब आप अनुमति और आशीर्वाद दें ।' भरत हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए ।

'वत्स ! तुम्हारे मातुल साथ जायँगे !' महाराज अश्वपतिने अपने पुत्रकी ओर देखा, 'हम भी उत्सुक हैं यह जाननेको कि मेरी पुत्रीको क्या हुआ है । सन्देश-वाहक श्रान्त हैं । इन्हें स्नान-आहारादिका अवसर मिलना चाहिए और हमें भी इतना समय तो मिलना चाहिए कि हम अपनी पुत्री तथा जामाताको कुछ भेज सकें तुम्हारे साथ । तुम दोनोंको बहुत लम्बी यात्रा करनी है । आहार कर लो अपने मातुलके साथ । तब तक मैं मार्गकी व्यवस्था करता हूँ ।'

'देव ! मार्गमें विश्राम एवं अश्व-परिवर्तनकी व्यवस्था हम करते आये हैं ।' सन्देश-वाहकोंने राजसभासे विश्रामस्थानमें जाते जाते सूचित कर दिया । यह महामन्त्री सुमन्त्रकी व्यवस्था थी । चक्रवर्ती सम्राटके सन्देश-वाहक जहाँ जिस राज्यसे, नगरसे निकलेंगे, वहाँके अधिपति अपना सौभाग्य मानेंगे उनका सत्कार करना । मार्गमें सन्देश-वाहकोंको भी रात्रि-विश्राम करना पड़ा था । अश्व-परि-

वर्तन किये थे उन्होंने। पान्थशालाओंके प्रबन्धकोंको वे निर्देश देते आये थे। उन्हें ज्ञात था कि सन्देश मिलते ही भरत-शत्रुघ्न प्रस्थान करेंगे। अतः अयोध्याके राजकुमार कब कहाँ पहुँचेंगे, उनके लिए कितने तीव्रगामी अश्व आवश्यक होंगे, आहार-विश्रामकी क्या व्यवस्था आवश्यक होगी, यह सब वे पान्थशालाओंके प्रबन्धकोंको निर्दिष्ट करते आये थे। उन्होंने सर्वत्र मना किया था—'अपने अधिपतिको सूचित मत करें। राजकुमारोंको कुलगुरुने बुलाया है। वे त्वरामें होंगे। कोई स्वागत या आतिथ्य स्वीकार करनेकी स्थितिमें वे नहीं होंगे। उनके चले जानेपर आप हमारी ओरसे अपने अधिपतिसे क्षमा माँग लें!'

महाराज अश्वपति जानते थे कि अयोध्याके कुलगुरुके सन्देश-वाहक तथा सम्राटके महामन्त्रीका आज्ञापत्र लानेवाले चरोंके आदेशका प्रत्येक स्थानपर पालन होगा; किन्तु प्रीति अन्यकी व्यवस्थापर अवलम्बित कहाँ रहती है। कैकय नरेशने अपने महामन्त्रीको आवश्यक सामग्रीके साथ तत्काल भेजा— 'आप कुमारोंके विश्राम-स्थानपर पहुँचते ही आगे प्रस्थान कर दें। अयोध्याकी सीमासे पूर्व लौट आना है आपको।'

महामन्त्रीके साथ अश्व, रथ, सामग्री ही नहीं चली, पर्याप्त सेना भी साथ ले ली उन्होंने। राजकुमारोंको अरक्षित यात्रा नहीं करनी चाहिए। यह अश्वारोहिणी सेना राजकुमारोंसे कुछ दूर रहते, उनके लिए अज्ञात रहते, उनकी रक्षा करते चलनेवाली थी। राजकुमार इसकी उपस्थिति जानकर किसी संकोचमें न पड़ें, इस सम्बन्धमें कैकय नरेशने अपने महामन्त्रीको सावधान कर दिया था।

लगभग मध्याह्नमें ही भरत-शत्रुघ्नने कैकय-युवराज कुमार युधाजितके साथ प्रस्थान किया। सुन्दर, सुदृढ़ रथ और उनमें अलंकृत तीव्रगामी बलवान अश्व जुते हुए। विश्वकी सर्वश्रेष्ठ अश्वसम्पत्ति कैकय राज्यकी अपनी थी। महाराज अश्वपतिने अपने दौहित्रोंके साथ अयोध्याके लिए जो उपहार भेजे, उसमें श्रेष्ठतम अश्वोंकी संख्या पर्याप्त अधिक थी।

'मातुल! हम यथासम्भव शीघ्र पहुँचना चाहते हैं।' कुमार भरतने प्रस्थानके समय ही अनुरोध किया। फलतः उपहार तथा अयोध्याके सन्देश-वाहकोंको भी पीछे आना था। एक ही तीव्रगामी रथमें अयोध्याके दोनों राजकुमार युधाजितके साथ बैठे थे। इस रथका वेगमें साथ दे पाना दूसरे रथोंके लिए सम्भव नहीं था।'

प्रातःकृत्य, मध्याह्न आहार, सायंकृत्यके अतिरिक्त केवल रात्रिमें तृतीय प्रहरका विश्राम। कुमार भरतको तो मध्याह्नका एकाहार भी उतावलीमें करना था। इन्हीं अवसरोंपर अश्व-परिवर्तन भी होता रहता था। मार्गमें सुदामा एवं ह्लादिनी सरिताओंको, हिमगिरिकी गहनघाटीको पार करके शतद्रू (सतलज) को पार करते भरतने कैकयसे चलनेके सातवें दिन अयोध्याकी सीमामें प्रवेश किया।[1]

---

[1]आजके नहीं, त्रेताके अश्व थे। आज भी बलवान, उत्तम वेगवान अश्वोंसे जुड़ा रथ यदि पूरे वेगमें चलाया जाय तो प्रति घंटे ३५ से ४० मील अवश्य चलेगा। प्रातः-मध्याह्न-सायंकृत्य करने थे। रात्रि तृतीय प्रहरमें विश्राम करना था। अतः प्रायः पाँच घण्टेपर अश्व-परिवर्तित होजाते थे। प्रतिदिन लगभग १६-१७ घण्टे यात्रा चलती थी। इसका अर्थ है कि लगभग ६०० मील प्रतिदिनकी यात्रा। सात दिनमें लगभग ४००० मील। इसमें नदियोंके पार होनेका समय, मार्गका घुमाव, सब मिला दें तब भी कैकयको पञ्जाबमें मानना सर्वथा असंगत है। जैसा कि आधुनिक अन्वेषक मानते हैं।' वर्तमान काकेशिया कैकय देश था, यह मानना ही उपयुक्त लगता है इस यात्रा विवरणसे।

उजड़ी अयोध्या

अत्यन्त आतुर थे अयोध्याके राजकुमार अपनी राजधानी पहुँचनेके लिए। उन्हें रथके वेगसे सन्तोष ही नहीं होता था। उन्हें न स्नानकी सुधि थी, न आहार या विश्राम की, वे संक्षिप्त आह्निक करके कुमार युधाजितसे पर्याप्त पहिले प्रस्तुत हो जाते थे। मार्गके प्रदेशों, वनों, सरिताओं, स्वागत, सत्कार किसीको जैसे वे देख ही नहीं पाते थे। 'अयोध्या—शीघ्र अयोध्या पहुँचो।' एक ही धुन थी उन्हें।

कुमार युधाजित अपने भागिनेयोंकी मन:स्थिति देखकर स्वयं बहुत त्वरा करते थे। अनेक आवश्यकजनोंसे मार्गमें मिलना भी उन्होंने स्थगित कर दिया। सारथि और अश्व ही नहीं, पूरा रथ परिवर्तित करते गये वे विश्राम-स्थानोंपर। यात्रा—केवल तीव्रगति यात्राकी ही व्यवस्था लक्ष्य बन चुकी थी।

अग्रचारी महामन्त्री तथा साथके अज्ञात रहते चलने वाले अश्वारोही अयोध्याकी सीमा तक साथ देनेमें असमर्थ हो गये। वे पीछे छूट गये; किन्तु कुमार युधाजितने यात्राकी गति घटायी नहीं। वे परम नीतिज्ञ, अप्रतिमयोधा अपने भागिनेयोंको सन्तुष्ट रखना चाहते थे। उन्हें कहाँ पता था कि नियति उन्हें इस गतिसे किस कठोर स्थितिके समीप ले जा रही है।

'अयोध्या—शीघ्र अयोध्या।' भरतकी यह उत्कट अभीप्सा भी अन्ततः सफल हुई। अयोध्याकी सीमामें रथने प्रवेश किया। दूसरे उन रथोंके समान जिन्हें मार्गमें छोड़ दिया गया था, अन्तिम रथ भी विषम मार्गपर पूरे वेगसे चलनेके कारण जर्जर हो चुका था। अश्व लगभग डेढ़ मुहूर्तकी यात्रामें स्वेदसे लथपथ हो चुके थे। उनके मुखोंसे फेन गिरने लगा था। सारथी, रथारोही तथा रथके प्रत्येक अंशपर धूलिकी सघनता स्पष्ट हो चुकी थी जब अयोध्याकी सीमामें रथने प्रवेश किया।

'हम कहाँ आगये? यह हमारी राज्यसीमा है?' भरतने लगभग चीत्कार किया। सारथिने अश्वोंका वेग शिथिल किया। कुमार युधाजित भी फटे नेत्रोंसे देखते रह गये—'क्या होगया अयोध्यामें?'

नन्दनकाननको अपनी शोभासे लज्जित करने वाले अयोध्याके समीपके

वन-उपवन उद्यान जैसे दावानलसे झुलस गये थे। प्रबल तुषार पड़नेके पश्चात् जो अवस्था कृषिकी होती है, कुछ वैसी ही अवस्था। वृक्षोंके पत्र सूखकर काले पड़ गये थे। पुष्प-कलिकाएँ मुरझायी थीं। फलोंके सूखे कुड़मल—कहीं हरीतिमाका नाम नहीं। केवल कङ्काल खड़े थे वृक्षों, वीरुधों, लताओंके और भूमि जैसे शुष्क तृणोंसे कण्टकाकीर्ण होगयी थी। मयूर, कपोत, शुक, भ्रमरके दर्शन नहीं हुए। गृद्ध, चील चीत्कार कर रहे थे। सरोवर, वापियाँ सूखी पड़ी थीं। उनकी तली विदीर्ण हो रही थी और उनमें शूकर कमलमूलका उच्छेद कर रहे थे।

पथमें कहीं गोसमूह मिला भी तो हतश्री, अश्रुमुख, कृशकाय मिला। गर्दभ और महिष दौड़ते मिले। वनोंमें शृगाली फेत्कार कर रही थीं और ग्रामोंके समीप श्वानोंका समुदाय ऊपर मस्तक उठाए सामूहिक रुदन करता मिला।

रथ जैसे जैसे आगे बढ़ता गया, राजकुमारोंका हृदय बैठता गया। किसी ग्रामदेव, ग्रामकालिकाके स्थानपर न ध्वज दृष्टि पड़ा, न सिन्दूरका कोई बिन्दु। उनपर दो पुष्प अर्पित हुआ भी नहीं मिला। सरयूके समीप पहुँचकर भी किसी ऋषि-उटजसे उठता न यज्ञधूम दीखा, न वेद-ध्वनि श्रवण पड़ी। श्रीरामके वन गमनके दिनसे अयोध्याके उत्सव समाप्त होगये थे। ऋषि-मुनि और सब द्विजाति केवल संक्षिप्त सन्ध्या कर लेते थे। गार्हस्पत्याग्निको बनाए रखनेमात्रके लिए समिधाहुतिमात्र प्राप्त होती थी। देवमन्दिरोंमें दर्शक नहीं आते थे। देव-पूजन पञ्चोपचार तक सीमित होगया था।

पुण्य सलिला सरयूमें आचमन करनेका भी साहस भरतको नहीं हुआ। अगाध-तोया, प्रतिक्षण पूजिता, नीराजन प्रदीप-प्रवाहा सरयू कहाँ गयी ? न कोई स्नान करता मिला न संध्या करता। उरु पर्यन्त जला, आविला, कच्छप बहुला सरयूका सलिल तापसे उबलता दीख रहा था। राजकुमारोंने मस्तक झुकाकर प्रणाम कर लिया।

अयोध्याके राजपथपर पताकाओंकी छाया आतप पहुँचने नहीं देती थी। अयोध्याका गगन गवाक्षोंसे उठते धूमसे सदा मेघाच्छन्न प्रतीत होता था। आज अयोध्याके नगर-द्वारपर भी ध्वज नहीं था। नगर-द्वार उन्मुक्त पड़ा था। द्वार रक्षक श्रान्त बैठे थे। उन्होंने उठकर केवल मस्तक झुकाया।

'मातुल ! क्या हुआ है हमारी राजधानीको ?' व्याकुल भरतने युधाजितकी ओर देखा। उन्हें आशा थी कि उनके लक्षणज्ञ मातुल कुछ कहेंगे; किन्तु युधाजित

ने मस्तकको झुकाकर दक्षिण करपर रख लिया था। भागिनेयके शब्द उनके श्रवणों तक नहीं पहुँचे।

किसी देवमन्दिर तकसे वाद्यध्वनि, धूप-धूम्र नहीं उठता था। पथ ही नहीं, चतुष्पथाके चतुरष्क तक असंस्कृत, अस्वच्छ, अपूजित प्राप्त हुए। गृह-द्वारोंपर न प्रदीप, न मङ्गल कलश। कहीं ध्वजा थी भी तो शीर्ण, रंग उड़ी।

जिस अयोध्यामें दैनिक उद्यान-भ्रमणसे लौटते राजकुमारोंपर गवाक्षोंसे होती लाजा, दूर्वांकुर, पुष्पोंकी वर्षा पथपर पाँवड़े बिछा देती है, उसी अयोध्यामें दीर्घकालके प्रवाससे लौटे राजकुमारसे किसीने कुशल तक नहीं पूछा। पथ-प्रहरी केवल मस्तक झुकाते थे। नागरिक मिले भी तो मूक, मस्तक झुका ऐसे निकल गये जैसे भरतका मुख देखना उन्हें अपराध लगता हो।

नागरिक—सुरोंके सौन्दर्यको तुच्छ सिद्ध कर देनेवाले नागरिक मलिन वसन, कृशकाय और—एक साथ सबपर वार्धक्य उतर आया? तरुणों तकके श्मश्रु-केश श्वेत देखकर तो भरत-शत्रुघ्नका हृदय जैसे विदीर्ण हुआ जा रहा था।

'वत्स भरत! मैं इसी अवस्थामें महाराज तथा भगिनीका दर्शन करूँ, यह उचित नहीं होगा।' कुमार युधाजितके सङ्केतसे रथ राजकीय अतिथिशालाके सम्मुख रुका। आपाद मस्तक धूलि सने, पथ-श्रम श्रान्त कैकय राजकुमारको स्नान, वस्त्र परिवर्तनका समय मिलना चाहिए था। उपहार-सामग्री पीछे आते वाहनों-पर थी। रिक्तहस्त वे जाना नहीं चाहते थे। नीतिज्ञ राजकुमार यह भी चाहते थे कि अयोध्याकी इस अवस्थाका हेतु जानकर तब राजसदनमें उपस्थित हों, जिससे अनवसर कोई चेष्टा अनजानमें न हो जाय।

भरतने मातुलको केवल देख लिया। कुछ कहनेकी स्थितिमें कोई नहीं था। उजड़ी अयोध्यानगरकी यह विपन्न दशा! भरतको पितृदर्शनकी त्वरा थी; किन्तु रथपर से ही उन्होंने देख लिया कि राजसभा सूनी पड़ी है। द्वारपर केवल प्रहरी खड़े हैं। रथ कैकयीके सदनकी ओर मुड़ पड़ा, क्योंकि श्रीचक्रवर्ती महाराज राजसभामें न हों तो उनके तथा भाइयोंके भी उसी सदनमें होनेकी सम्भावना हो सकती थी।

———

आर्त भरत

'आये—आगये अयोध्याके अधीश्वर !' मन्थराने ही कैकेयीको दौड़कर समाचार दिया। वह प्रतीक्षा करती रही थी भरतके आगमनकी उतावली पूर्वक। बार-बार राजभवनके ऊपरी भागपर जाकर देखती रही थी। कैकेयीकी जो उपेक्षा लोगोंने—सेविकावर्ग तकने कर रखी थी, उससे मन्थरा क्रुद्ध थी। भरतसे उसे बहुत आशा थी। वह समझे बैठी थी कि भरत उसका सत्कार करेंगे। वह भरतके द्वारा अनेकोंको कठोर दण्ड दिलानेकी योजना मनमें बनाए बैठी थी। भरतके रथकी ध्वजा दीखी—रथ कैकेयीके सदनकी ओर आता दीखा तो वह भवनके ऊपरसे दौड़ी आयी थी।

कैकेयीकी मनोदशा भी कुछ मन्थरासे भिन्न नहीं थी। मन्थरा तो समाचार देकर अपना शृङ्गार करने भागी। सदा आभूषण लोलुपा यह कुब्जा दासी भरतके सम्मुख ऐसे ही कैसे चली जाय। लेकिन कैकेयीने नीराजन सजाया और स्वयं पुत्रका स्वागत करने द्वारपर आयी। उसने भरत-शत्रुघ्नका नीराजन किया। दोनोंको तिलक किया। दोनोंने उसकी चरण-वन्दना की तो भरतको उठाकर उसने हृदयसे लगाया और भवनमें ले आयी।

'वत्स ! तुम्हारा कमलमुख इतना उदास क्यों है ?' कैकेयीने भरतसे पूछा। अब तक उसने शत्रुघ्नकी ओर ध्यान ही नहीं दिया था। शत्रुघ्न उसके पीछे-पीछे आये थे। कैकेयीके मनसे उसके पुत्र भरत अब सम्राट थे। शत्रुघ्नको उसकी तथा भरतकी सेवा करनी ही चाहिए। वह भरतसे ही कह रही थी—'तुम तो ऐसे हो-रहे हो जैसे धूलिमें स्नान करके आये हो। शीघ्र स्नान करो। मेरे पितृ गृहमें सब कुशल तो हैं ?'

'वहाँ सब सानन्द हैं। मातुल साथ आये हैं। वे अतिथिशालासे स्नान करके आवेंगे।' भरत अपनी व्यथामें यह देख ही नहीं सके थे अब तक कि कैकेयीके करोंमें चूड़ियाँ नहीं हैं। उसके भालपर सौभाग्य बिन्दु नहीं है, वह श्वेत वस्त्रा है। भरतका हृदय व्याकुल था। उन्होंने पूछा—'पिताजी कहाँ हैं ? वे राजसभामें नहीं थे और यहाँ भी उन्हें देखता नहीं हूँ। हमें इतनी शीघ्रतामें क्यों बुलवाया उन्होंने?'

'वत्स ! तुम्हारे यशस्वी वृद्ध पिता परलोकवासी हो गये !' कैकेयीके स्वरमें शोक नहीं था। पुत्रको वह आश्वासन देना चाहती थी—'तुम्हें उनकी ····· ।'

'पिताजी ! हाय पिताजी !' भरत-शत्रुघ्न दोनों रुदन करते भूमिपर गिरे—'आप मुझे मेरे अग्रजके करोंमें सौंपे बिना परलोक चले गये ? मैं सोचता था कि अग्रज श्रीरामका राज्याभिषेक करके आप बड़े-बड़े यज्ञ करेंगे !'

'पुत्र यह शोक करनेका समय नहीं है।' कैकेयीने समझानेकी चेष्टा की—'तुम्हें कर्तव्यपालन करना है। दान-धर्म करना है।'

'पिताजीका देहान्त कैसे हुआ ? क्या होगया था उन्हें ?' भरतके श्रवण कैकेयीका उपदेश सुन नहीं रहे थे—'मरते समय क्या कहा था उन्होंने और अम्ब, मैं जिनका दास हूँ, जो अग्रज मेरे भाई, पिता, बन्धु, सर्वस्व हैं, वे श्रीराम कहाँ हैं ? वही अब मेरे पिता हैं। उनके श्रीचरण ही मेरे सर्वस्व हैं।'

'हा सीताराम ! हा लक्ष्मण ! कहते तुम्हारे पिताने देहत्याग किया था।' कैकेयीने धीरेसे कहा।

'तो श्रीराम, अम्बा सीता और भाई लक्ष्मण भी उस समय अयोध्यामें नहीं थे ?' अब भरतने मस्तक उठाकर कैकेयीकी ओर देखा—'वे कहाँ गये थे ? अब कहाँ हैं ?'

'महाराजने रामको चौदह वर्षके लिए उदासीन तापसवृत्तिसे रहते हुए वनमें रहनेकी आज्ञा दे दी।' कैकेयीने शान्तस्वरमें कहा—'सीता और लक्ष्मण भी रामके साथ चले गये।'

'किस भूलसे, किस अपराधपर पिताने आर्य श्रीरामको वन भेजा ?' भरतके स्वरमें रोष आगया। पिताकी मृत्युका शोक पता नही कहाँ गया। उन्हें पितापर क्रोध आया—'अग्रजने परस्वापहरण किया था ? परस्त्रीपर कुदृष्टि डाली थी ? किसी ब्राह्मणकी, गौकी हत्या होगयी थी उनसे ?'

'नहीं भरत ! यह कुछ रामसे नहीं हुआ। हो ही नहीं सकता था। राम पर-स्त्रीकी ओर नेत्र ही नहीं उठाते। अपना ही स्वत्व उन्होंने कभी नहीं सम्हाला, पर-स्वका अपहरण उनसे कैसे होगा। किसीकी हिंसा, किसीका अपराध रामसे स्वप्नमें भी सम्भव नहीं।' कैकेयीको मुक्त कण्ठसे रामकी निर्दोष प्रकृति स्वीकार करनी पड़ी। उसने स्पष्ट कहा—'तुम जानते ही हो कि महाराजने मुझे पहिले दो

बरदान देनेका वचन दिया था। मैंने एक वरदानमें तुम्हारे लिए राज्य और दूसरेमें रामके लिए चौदह वर्षका वनवास महाराजसे माँगा था।

'यह क्यों नहीं कहती कि बिना माँगे पतिकी हत्या माँगी थी मैंने ?' भरतके नेत्र अंगार उगलने लगे 'भरतको ही क्यों छोड़ दिया ? इसके वधका वरदान माँगती। तू मानवी तो नहीं है, दानवी, दैत्या, पिशाचिनी कौन है ? चराचरके प्राण प्रिय श्रीराम तुझे अप्रिय लगे ?'

'मुझे चाहे जो कहो ! किन्तु, अब तुम अयोध्याके अधिपति हो।' कैकेयीने साहस करके कहा—'पिताकी अन्त्येष्टि करना है तुम्हें।'

'निर्लज्जे ! तुझे राजमाता बनना है ?' भरतने श्रवण बन्द कर लिये सुनते ही और कठोर स्वरमें बोले—'मेरी माँ कौसल्या रही हैं, हैं। उन तपस्विनीने सदा तुझ कुटिलासे बहिनके समान स्नेह किया। सुन कैकेयी ! तू अम्बा कहने योग्य नहीं है। तू मेरी माता नहीं है। मैं तुझे सफल काम नहीं होने दूँगा। भरतकी तू कोई नहीं है। तुझे जीवन भर रोना पड़ेगा। मरनेपर भी तुझ पति-घातिनीको नरक प्राप्त होगा। मेरे इस वंशमें सदाकी रीति अग्रजको राज्य देनेकी है, वह अक्षुण्ण रहेगी। मैं वनमें जाकर अपने स्वामी, अपने अग्रजको चरण पकड़कर लौटा लाऊँगा।'

'मूर्धाभिषिक्त नरेशको सूतक नहीं लगता।' कैकेयीके भवनमें भरतके आनेका समाचार पाकर कुछ मन्त्री आगये वहाँ। उनमें एकने कहा—'आपकी माताके वरदानने ही आपको अभिषिक्त कर दिया है।'

'मैं कोई अभिषेक नहीं जानता।' लाल लाल नेत्रोंसे मन्त्रियोंको घूरा भरतने—'कैकेयी मेरी कोई नहीं है। मैं इससे इस जीवनमें नहीं बोलूँगा।'

'तात ! पिताकी गति ही हम सबकी गति होने वाली है। आर्य श्रीराम ही दुःखमें रह सकते हैं।' शत्रुघ्नने रोते रोते मूर्च्छित भरतको उठाया—'समझमें नहीं आता, मेरे सहोदर अग्रजके यहाँ रहते यह सब सम्भव कैसे हुआ। लक्ष्मणका स्थिर तेज कहाँ सोया था ? उन्होंने पिताको बन्दी करके आर्य श्रीरामको सिंहासनपर क्यों नहीं बैठा दिया ?'

'वे ऐसा करनेको उद्यत थे; किन्तु,' मन्त्रियोंने बतलाया—'श्रीरामने सबको अपनी शपथ देकर रोक दिया। पिताकी और विमाताकी साङ्केतिक अवज्ञा भी उन कमल लोचनको असह्य थी।'

'ऐसे सद्‌गुणधामको इसने निर्वासित किया ?' शत्रुघ्नने कैकेयीकी ओर देखकर दाँत पीसे। क्रोधसे उनका शरीर काँप रहा था। इसी समय आभूषणोंसे लदी, शृङ्गार किये, अपनी सखियोंके साथ मुस्कराती मन्थरा आयी।

'यही सब अनर्थोंकी मूल है।' एक मन्त्रीने सङ्केत कर दिया। शत्रुघ्नने पूरी शक्तिसे एक लात उसके कूबड़पर मारी। कुब्जा मुखके बल गिरी। उसके कुछ निकले अगले दाँत टूट गये। सिरसे, मुखसे रक्त गिराती वह उठकर भागी, क्योंकि उसने शत्रुघ्नको तलवार खींचते देख लिया था।

'कुमार ! यह अगण्य तुच्छ दासी—यह कर क्या सकती थी ?' क्रुद्ध भरतने दाँत पीसकर कैकेयीकी ओर देखा—'मैं इस कुटिला कैकेयीका वध कर देता; किन्तु ऐसा करूँ तो मेरे अग्रज श्रीराम मुझे कभी क्षमा नहीं करेंगे।'

'बचाओ ! मेरी रक्षा करो महारानी ! मैं आपकी शरण हूँ।' मन्थरा जानती थी कि उसकी प्राण-रक्षा केवल देवी कौसल्या कर सकती हैं। वह भागती उनके भवन पहुँची और उनके चरणोंपर गिर पड़ी—'शत्रुघ्न आज अवश्य मेरा वध कर देंगे।'

'शत्रुघ्न आ गये ? आगये भरत ?' माता कौसल्या उत्सुक होकर उठ खड़ी हुई। मन्थराको उन्होंने निर्भय रहनेको कहा। सुमित्रासे बोलीं—'भरतकी ही तो क्रन्दनध्वनि सुनायी पड़ती है।'

'वत्स भरत ! बेटा शत्रुघ्न !' देवी कौसल्या और सुमित्रा अपने भवनसे कैकेयीके भवन जानेको उठी ही थीं कि भरत-शत्रुघ्नने भवनमें प्रवेश किया। दोनों माताके चरणपर गिरे। देवी कौसल्याने दोनोंको अङ्कमें समेट लिया।

'वत्स भरत ! तुम्हारी माताने महाराजसे तुम्हारे लिए राज्य माँग लिया है। अब तुम अयोध्या-नरेश हो।' देवी कौसल्याके स्वरमें व्यंग नहीं था, असीम व्यथा थी—'रामको कैकेयीने वन भेज दिया। महाराज रहे नहीं जिनकी सेवाके लिए राम अनुरोध करके मुझे यहाँ छोड़ गये थे। तुम योग्य हो, पिताकी अन्त्येष्टि कर लेना। मुझे अब राज्य तथा राजसदनसे प्रयोजन नहीं है। कैकेयीको यह अवसर नहीं मिलना चाहिए कि वह मुझे राजसदनसे निष्कासित कर दे। सुमित्राके साथ मैं अपने पुत्रके पास ही जाना चाहती हूँ। तुम्हारे लौटनेकी प्रतीक्षा कर रही थी। अब अपनी इस विमाताके वन जानेकी व्यवस्था कर दो !'

'विमाता ? विमाता कौन ?' भरतने चीत्कार किया—'भरतने तो सदा आपको ही माँ कहा है। भ्रमवश मातृगन्धिनी कैकेयीको अब तक मैं अम्बा कहता रहा; किन्तु वह भरतकी कोई नहीं है। इस दारुण विपत्तिमें आप भी अपने भरतका त्याग कर रही हो माँ ?'

'भरत ! वत्स भरत !' देवी कौसल्याने मूर्च्छित भरतको हृदयसे लगाया। वे अत्यन्त कातर हो उठीं।

'माँ ! तुम्हारे इन श्रीचरणोंकी शपथ ! कैकेयीके कुकृत्यकी मुझे कोई गन्ध नहीं थी।' सावधान होते ही भरतने माँके चरण पकड़े—'मेरे सर्वस्व श्रीराम हैं। यदि उनके वनगमनमें मेरी स्वप्न-सहमति भी हो तो लोकजीवन सूर्यको नष्ट कर-देनेका, संसारकी समस्त गौओं तथा ब्राह्मणोंकी हत्याका पाप मुझे लगे, गोष्ठ-दाह, शिशु-हत्या, कृषि-दाह,नारी-हत्यादि जितने महापाप, पाप, उपपाप हैं, सब भरतको लगें यदि भरतने श्रीरामके वनगमनका वृत्त आजसे पूर्व जाना भी हो। संयमिनीके स्वामी भरतको सदा-सदाके लिए महारौरवमें फेंक दें, यदि······ ····।'

देवी कौसल्याने भरतको गोदमें खींचकर उनके मुखपर अपना हाथ रख दिया—'वत्स ! शपथ ग्रहण करके मेरे प्राणोंको क्यों अधिक उत्पीड़ित करते हो। अब मुझे और संतप्त मत करो। मैं जानती हूँ कि तुम स्वप्नमें भी रामके प्रतिकूल नहीं हो सकते। श्रीराम अपने पिताको सत्यप्रतिज्ञ रखनेपर दृढ़ थे, अतः वनमें चले गये। इसमें किसीका कोई दोष नहीं है। दोष है केवल मेरे इस फूटे कपालका।'

'माँ !' भरतने मस्तकपर हाथ पटकती कौसल्याका कर पकड़ा।

'वत्स ! श्रीरामने सब आभरण और वस्त्र उतार दिये। उन परम सुकुमारने वल्कल धारण किया। लक्ष्मणने उनका अनुसरण किया।' माता क्रन्दन कर उठीं—'इन नेत्रोंके सम्मुख ही यह सब हुआ। मेरी कुसुमकलिका पुत्रवधू पैदल पतिके पीछे राजपथपर निकली; किन्तु कौसल्याके पापी प्राण शरीरसे नहीं निकले।'

'मत कहो—मत कहो माँ ! अन्यथा भरत यहीं तुम्हारे सामने मस्तक पटककर अभी मर जायेगा।' भरतने फिर माताके चरणोंमें सिर रखा—'अग्रज ही अयोध्याके अधीश्वर हैं। भरत उनका सेवक है, सदा सेवक रहेगा। भरत जाकर उनके चरण पकड़ेगा तो वे इस दासको क्या क्षमा नहीं करेंगे ?'

———

चक्रवर्तीजीकी अन्त्येष्टि

'आर्य पुरुष अनवसर शोक नहीं करते वत्स !' कुलगुरु प्रातःकाल राजसदन आगये। सायंकाल भरत-शत्रुघ्न अयोध्या पहुँचे थे। पिताकी मृत्युका समाचार पानेके अनन्तर सन्ध्यादिका प्रश्न ही नहीं उठता था। सम्पूर्ण रात्रि रुदन-शोकमें व्यतीत हुई थी। दोनोंने अब तक स्नान भी नहीं किया था। महर्षि वशिष्ठ संक्षिप्त प्रातःकृत्य करके आगये। 'उपस्थित कर्तव्यकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। दूसरी बातोंपर विचार करनेका अवसर अभी नहीं है। तुम्हारे यशस्वी पुण्यात्मा पिताका शरीर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।'

'मैं आज्ञापालन करूँगा प्रभु !' भरतने दोनों हाथोंसे नेत्र पोंछ लिये। वे उठ खड़े हुए।

'माँ ! आपका यह अनधिकारी अधम पुत्र आपसे भिक्षा माँगता है। आप इसे वचन दो !' सहसा भरतने देवी कौसल्याके चरण पकड़ लिये।

'कौसल्या तो अब कङ्गालिनी है वत्स !' महारानी राजमाता फूटकर रो पड़ीं—'क्या रह गया है अब इस भाग्यहीनाके समीप जो तुम्हें देगी ?'

'कौन कहता है कि अयोध्याकी परमाधीश्वरी कङ्गालिनी हैं ?' भरत क्रन्दन करने लगे—'आप मुझे वचन दो माँ ! यद्यपि मैं इसका पात्र नहीं हूँ; किन्तु यदि आप दोनों मुझे वचन नहीं देंगी तो भरत पिताकी अन्त्येष्टि करनेके स्थानपर यहीं सिर पटककर आपके चरणोंमें अभी प्राण त्याग करेगा। भले अग्रज चौदह वर्ष पीछे लौटें और लौटकर ही पिताके साथ इस अनुजकी भी अन्त्येष्टि करें।'

'देवि ! भरत उचित आग्रह कर रहे हैं।' महर्षि वशिष्ठने बात स्पष्ट कर दी—'आप दोनों वचन दें कि पतिके साथ चितारोहणका आग्रह आप नहीं करेंगी।'

'वत्स ! इस आश्वासनकी आवश्यकता नहीं है।' कौसल्याजीने उठाकर भरतको हृदयसे लगाया—'श्रीरामका मुख देखे बिना मैं मर नहीं सकती हूँ। मैं उन पद्मपलाशलोचनके प्रत्यागमनकी प्रतीक्षा करूँगी। सुमित्राको भी मेरे साथ अब यह प्रतीक्षा करनी है।'

जैसे बहुत बड़ा सङ्कट टल गया हो, इस कृतज्ञतासे भरतने दोनों माताओं-की चरण-वन्दना की। भाईके साथ वे उसी समय कर्म-तत्पर होगये।

श्रीचक्रवर्ती महाराजका शरीर तैलद्रोणीमें एक वायुहीन कक्षमें रखा गया था। अयोध्यासे कैकय तक चर जानेमें आठ दिन लगे थे। भरत सात दिनमें कैकय से अयोध्या पहुँचे थे। पूरे पन्द्रह दिन पश्चात् जब स्वर्गीय महाराजका शरीर तैलद्रोणीसे निकाला गया, ऐसा लगता था जैसे महाराज श्रान्त होकर सो रहे हों। उनके शरीर, मुख, नेत्रादि सब अङ्ग प्रसुप्त पुरुषके समान स्वस्थ थे। मानो वे अभी अभी नेत्र खोलने वाले हों।

महर्षि वशिष्ठने आदेश दिया—'श्रीचक्रवर्ती महाराजका अन्तिम संस्कार आहिताग्निके समान होगा।'

राजसदन क्रन्दनसे गूँज रहा था। जब स्नान कराके वैदिकविधि सम्पन्न होनेके पश्चात् महाराजका विमान निकला, पूरा नगर क्रन्दनसे गूँजने लगा। अयोध्यामें कोई पुरुष नहीं रह गया जो उस विमानके पीछे न चल रहा हो।

'महाराज धर्मज्ञ शिरोमणि थे।' महर्षि वशिष्ठने कहा—'भरत! विश्वमें ऐसे धन्य पुरुष कदाचित ही होते हैं, जिन्हें पिता बनाकर स्वयं परात्पर पुरुष गौरवान्वित हों। महाराजके विमानको स्कन्धपर लेनेका सौभाग्य सुरेन्द्रके लिए भी दुर्लभ है। अतः किसी उत्सुक द्विजातिको वारित मत करो।'

राजभवनसे सरयूके तट तक मनुष्योंकी भीड़ भरी थी। महाराजके विमानको एकसे दूसरे स्कन्धपर होते ही पहुँचना था। दो पद भी किसीको चलने-का अवसर नहीं था। भरत-शत्रुघ्नको पिताके शरीरके साथ चलते जाना था।

स्वर्गके स्वामी सुरेन्द्र जिन्हें अमरावतीके द्वार तक आकर स्वागत करके ले जाते थे और अपने सिंहासनपर दाहिने बैठाकर स्वयं वाम भागमें बैठते थे, सम्पूर्ण भूमण्डलके मानी महीपति जिनके पादपीठका किरीटसे स्पर्श प्राप्त कर लेना अपना गौरव मानते थे, जिन्हें परात्पर पुरुष श्रीरामने अपना पिता बनाया था, उन चक्रवर्ती महाराज श्रीदशरथके लिए आज सरयू तटपर चिता बनायी जा रही थी। चन्दनकी चिता—घृत एवं दिव्य सुगन्धित पदार्थोंकी राशि। यह सब आयो-जन इसलिए कि यह भी यज्ञ है। वैदिक धर्म यज्ञधर्म है और उस धर्मका अनुयायी यह अन्तिम यज्ञ करता है।

सबकी यही गति है। धन्य हैं वे जिनके शरीरको किसीभी तीर्थमें इस प्रकार आहुति बननेका सौभाग्य प्राप्त होता है। यह यज्ञ स्वयं नहीं किया जा सकता; किन्तु पुत्रके रूपमें पिता ही तो पुनर्जन्म ग्रहण करता है। पुत्रके द्वारा अपने शरीरकी आहुति दक्षिणाग्निमें दी गयी इस अन्तिम आहुतिसे जीवन-यज्ञकी पूर्णाहुति सम्पन्न होती है।

शुद्ध चन्दनकी चिता। महाराजके शरीरको पुनः स्नान कराया गया सरयू जलमें और सविधि चितारोहण कराया गया। सरयूतटपर मध्याह्नमें वह चिता धू-धू करके जलने लगी।

स्नान करके, पिताको तिलोदक देकर भरत मौन लौटे। महर्षि वशिष्ठके आदेशानुसार दशगात्रकी प्रत्येक विधि सम्पन्न की उन्होंने। अव्यग्र, अशिथिल, सम्पूर्ण विधियाँ पूर्णतः सम्पन्न की गयीं। नगरके सभी द्विजोंने—राज्यके सभी द्विजोंने, शूद्रों, सेवकों तथा वन्य जातियों तकने एकादशाहके दिन सम्पूर्ण श्मश्रु-केश मुण्डित कराये। इस मुण्डनके पश्चात् भरत शुद्ध हुए।

'हाय पिता ! आर्यके करोंकी अन्त्येष्टि नहीं प्राप्त हुई आपको।' भरतकी रात्रियाँ इस दारुण व्यथामें व्यतीत हुई थीं। किन्तु उन्होंने किसी उत्तर क्रियामें किञ्चित भी शिथिलता नहीं प्रदर्शित की। त्रयोदशाहके कर्म—ब्राह्मणों एवं ज्ञातिजनोंको भोजन करानेका कर्म भी तेरहवें दिन मध्याह्न तक सम्पन्न होगया।

भ्रातृ भक्त भरत

'अच्छा है, आप अभी अयोध्यामें ही हैं।' त्रयोदशाहके कृत्य सम्पन्न हो-जानेपर दिनके तृतीय प्रहरके उत्तरार्धमें महर्षि वशिष्ठने राजसभा आमन्त्रित कर ली। प्रजा-प्रधान, मन्त्रीगण, विशिष्ट नागरिक बुलाये गये थे। कुलगुरुके अनुरोधके अनुसार देवी कौसल्या और सुमित्राने भी यवनिकाके पीछे आसन ग्रहण किया था। भरत-शत्रुघ्न गुरुका आदेश सुनकर आगये थे। कैकय नरेशके युवराज भी पधारे थे। उनकी ओर देखकर महर्षि वशिष्ठने कहा—'आप भली प्रकार देख सकेंगे कि इक्ष्वाकुवंशमें किस प्रकारका ऐकमत्य रहता आया है।'

कुमार युधाजितने अतिथिशालामें प्रवेशके क्षणसे अनुभव कर लिया था कि उन्हें सेवक तक शङ्काकी दृष्टिसे देखते हैं। उनकी उपेक्षा नहीं की जाती; किन्तु किसीके व्यवहारमें उनके प्रति स्नेह या सम्मान नहीं है। अयोध्या वे पहिली बार तो नहीं आये हैं। यही सेवक, यही राजकर्मचारी; किन्तु आज जो परिस्थिति कैकेयीके कारण अयोध्यामें उत्पन्न होगयी है, उसमें कैकय नरेशके युवराजपर सब सन्देह करें, यह स्वाभाविक है। राजनीतिके प्रकाण्ड पण्डित युधाजितको यह तथ्य समझना नहीं था।

कैकयसे जो उपहार वे लाये थे, उनकी चर्चा भी अनवसर थी। बहिनसे मिलनेका प्रयत्न लोगोंके सन्देहको ही पुष्ट करता। श्रीचक्रवर्ती महाराज-की अन्तिम क्रियामें प्रत्येक अवसरपर वे सम्मिलित थे; पर उनको सभीने उपे-क्षणीय मान लिया था। किसीने पूछा ही नहीं उनसे कुछ। महामन्त्री सुमन्त्र अतिथिशाला आकर प्रतिदिन उनकी व्यवस्था देख जाते थे। यह औपचारिकता भी हो सकती थी और उनकी गति-विधिपर दृष्टि रखनेकी सतर्कता भी।

'मुझे गौरव है कि मेरे भागिनेयों में कोई भेद उत्पन्न नहीं कर सकता।' युधाजितने सहजभावसे ही कहा।

'कुमार युधाजित!' भरतके तीव्र स्वरने केवल युधाजितको ही नहीं,

सबको—महर्षि वशिष्ठ तकको चौंका दिया। भरत जैसा विनम्र, सङ्कोची, शीलवान इस प्रकार मातुलको नाम लेकर सम्बोधित करेगा, इसकी आशा किसे हो सकती थी। सबकी दृष्टि भरतकी ओर और भरत सीधे युधाजितको देख रहे थे—'अयोध्यामें आपका कोई भागिनेय नहीं है। एक थे जो आपकी भगिनीको माता कहते थे। उन्हें आपकी बहिनने निर्वासित कर दिया। स्वर्गीय महाराज घोषित कर गये हैं कि कैकेयी और उसके सम्बन्धियोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। महाराजका कोई पुत्र—अयोध्यामें उपस्थित कोई पुत्र उसे अपनी माता कहनेको प्रस्तुत नहीं।'

'अयोध्या लौटकर मैं समझ सका कि महाराज अश्वपति तथा उनके पुत्र क्यों भरतको कैकय बुलाकर राजनीतिकी शिक्षा देनेको इतने उत्सुक थे।' भरत आवेश पूर्वक बोल रहे थे— आप राजनीतिके परम विद्वान हैं। समझ गये होंगे कि रघुवंशमे भेद पड़नेकी आशा करने वाला अज्ञ होगा। आप अपनी बहिनको और उसके भवनमें स्थित समस्त वैभवको साथ ले जा सकते हैं; किन्तु कल प्रातः सूर्योदयके समय यदि आप हमारी सीमामें कहीं पाये जाते हैं तो महासेनापति भूल जायँगे कि स्वर्गीय महाराजसे कभी आपका कोई सम्बन्ध रहा है। आपको स्मरण दिलानेकी आवश्यकता नहीं है कि अयोध्याका कारागार कितना सुदृढ़ है।'

महर्षि वशिष्ठ नहीं चाहते थे कि कुमार युधाजितका ऐसा अपमान हो। किन्तु भरत आवेशमें थे। जिसे अभी अभी अभिषिक्त करनेका प्रस्ताव उपस्थित होने वाला था, उसके प्रथम निर्णयका विरोध भी नहीं किया जा सकता था। अतः सब स्तब्ध मौन रह गये।

'कुमार भरत जानते हैं कि महाराज अश्वपति अयोध्याके चारों राजकुमारोंका सत्कार करना चाहते थे। मैं चारोंको लेने आया था। श्रीचक्रवर्ती महाराजने ही श्रीराम-लक्ष्मणको भेजना स्वीकार नहीं किया।' कुमार युधाजित नेत्रोंमें अश्रु भरे गद्‌गद स्वर बोले—'मैं आज समझ सका कि कभी कोई विद्या भी अयश, अपमान, कष्टका कारण होजाती है। महाराज अश्वपतिका अपराध है यह कि उन्होंने सुरगुरु वृहस्पतिके द्वारा प्रवर्तित राजनीतिशास्त्रका अध्ययन किया और अपने इस हतभाग्य पुत्रको भी उसे पढ़ाया। आज हमपर इसी कारण सन्देह किया जाता है। अन्यथा कैकेयीने जो कुकाण्ड किया, उसमें हमारी सांकेतिक अभिसन्धि भी नहीं है। मैं इस विषयमें कोई भी शपथ लेनेको प्रस्तुत हूँ।'

'कुमार भरत ! कैकेयीके सम्बन्धमें निर्णय करना आपके अपने परिवारकी समस्या है। युधाजित केवल यह कह सकता है कि कैकेयीके लिए अयोध्याके राजसदनमें स्थान नहीं है, तो कैकयमें भी कोई स्थान नहीं है।' राजसभामें कोई बोल नहीं रहा था। कुमार युधाजितने चारों ओर देखा और अन्तमें कहा—'लेकिन अयोध्यामें हमारा कोई भागिनेय नहीं है, यह मुझे स्वीकार नहीं है। कैकय नरेश महाराज अश्वपतिने अपनी कन्या अयोध्याके अधिपतिको देकर अयोध्याके साथ एक सम्बन्ध प्राप्त किया था। कैकेयी आज जीवित न भी रहे तो वह सम्बन्ध समाप्त नहीं होता। मैं आज अभी प्रस्थान कर रहा हूँ; किन्तु घोषणा कर जाता हूँ कि कैकय सदा अयोध्याका अनुगत रहा है, रहेगा। मैं पुनः लौटूँगा; किन्तु तब जब युधाजितको सादर मातुल कहकर सम्बोधित करने वाले यहाँ लौट चुके होंगे और अपने उन अग्रजके साथ उनके सब अनुज यही सम्बोधन करेंगे।'

युधाजित राजसभाको मस्तक झुकाकर अश्रुमोचन करते उठ गये। उन्होंने उसी समय अयोध्यासे प्रस्थान कर दिया। आजकी राजसभाका यह आरम्भ ही इस अप्रिय काण्डसे हुआ।

'वत्स भरत ! मैं नहीं चाहता था कि कैकयके कूटनीति विशारद युवराज हमारे अपने अन्तरङ्ग निर्णयके समय उपस्थित रहें।' महर्षि वशिष्ठने अब भरतको सम्बोधित किया—'अब हमें आजकी उपस्थित समस्याका समाधान निकालना है।'

'श्रीचक्रवर्ती महाराज परलोक पधारे। अब इस समाचारको गुप्त नहीं रखा जा सकता और न सिंहासनको रिक्त रखा जा सकता।' भरत मौन बने सुनते रहे। महर्षि ही बोल रहे थे—'पिताके वचनोंकी रक्षा करनेके लिए सत्यविक्रम श्रीराम सानुज वन चले गये। उन्हीं महाराज श्रीदशरथके उन्हीं वचनोंका पूर्वार्ध है कि तुम्हें राज्य प्राप्त हो। अपने अग्रजके समान तुम्हें भी पिताका आदेश स्वीकार करना चाहिए। मेरी सम्मति है कि आपत्तिकालमें मुहूर्त नहीं देखा जाता। आज इसी सभामें तुम्हारा अभिषेक होना चाहिए। श्रीराम जब वनवासकी अवधि समाप्त करके लौटेंगे, तुम उनको राज्य लौटा दे सकते हो।'

'वत्स ! दूसरा कोई उपाय नहीं है।' देवी कौसल्याका स्वर सुनायी पड़ा-

—'इस सङ्कटके समय समस्त प्रजा तुम्हारी सहायता, संरक्षकता चाहती है। तुम स्वर्गीय महाराजके सुयोग्य पुत्र हो। कुलगुरुका आदेश स्वीकार करो।'

'प्रजाको पालक अवश्य मिलना चाहिए।' मन्त्रियों तथा प्रजा-प्रतिनिधियों-का एक साथ समर्थन मिला—'श्रीरामके लौटने तक कुमार भरतको यह दायित्व वहन करना चाहिए। इस समय आप ही हमारे राजा हैं। आप इस पदको स्वीकार करें, इसमें कोई आपको दोष नहीं देगा। अभिषेककी सामग्री प्रस्तुत है।'

'आप सब मुझे क्षमा करें! मैंने आप सबसे बिना अनुमति लिये कुछ निर्णय कर लिया है। उस निर्णयको क्रियान्वित करनेके लिए कुछ पद उठा लिये हैं।' भरतने हाथ जोड़कर साश्रुलोचन सबकी ओर देखा—'राजकुलमें उत्पन्न होनेके कारण ही किसीको अपने सम्बन्धमें भी कोई निर्णय करनेकी स्वाधीनता नहीं रह जाती, ऐसा विधान बहुत निष्ठुर होगा। ऐसा विधान भरतके लिए मत बनाइए। अन्यथा यह कैकेयीकी कुक्षिसे उत्पन्न अयोग्य कुमार अपनेको विद्रोही घोषित करने-को विवश होगा।'

'गुरुदेव और माँका असीम वात्सल्य भरतकी अयोग्यता, अनधिकार नहीं देखता; किन्तु भरत कितना भी अधम हो, जानता है कि वह कहाँ बैठने योग्य है।' भरतके अश्रुसे भीगे शब्दोंमें वज्रकी दृढ़ता थी—'अपने धर्मात्मा अग्रज श्रीरामके चरणोंके अतिरिक्त भरतके लिए त्रिभुवनमें कहीं बैठने योग्य स्थान नहीं है।'

'मैंने निश्चय कर लिया है कि कल प्रातः अयोध्यासे श्रीरामके समीप जाने-को प्रस्थान करूँगा। चरण पकड़कर मैं अपने उन स्वामीसे लौटनेकी प्रार्थना करूँगा।' भरतने स्पष्ट कहा—'अयोध्याके अधीश्वर अब श्रीराम हैं और वही रहेंगे। भरत उनका सेवक है। मैं अग्रजके समान शत्रुघ्नके साथ वल्कल धारण करके जटा बनाकर कल पैदल यात्रा करूँगा और यदि मेरे अभाग्यवश श्रीरामने लौटना स्वीकार नहीं किया तो लक्ष्मणके समान हम दोनों भी उनके लौटने तक वनमें ही रहेंगे।'

'मैंने आप सबसे अनुमति लिये बिना अग्रचारी सेवकोंका दल भेज दिया है।' भरतकी घोषणासे स्तब्ध मन्त्री, प्रजा-प्रतिनिधि, कुलगुरु, माताएँ कुछ स्थिर कर सकें, इसका भी अवकाश नहीं था। भरतने सूचना दी—'उस अग्रचारी दलमें कण्टकतरु-लता स्वच्छ करने वाले हैं। मार्ग-निर्माता हैं। आवश्यक स्थानोंपर

सरिताओंके ऊपर शीघ्र सेतु-निर्माण करने वाले हैं। कूप, सरोवर आदिके निर्माता हैं, जहाँ उनकी आवश्यकता हो।'

'मेरी इच्छा है कि कुलगुरु, पुरोहित-ब्राह्मणवर्ग, प्रजा-प्रतिनिधिगण और सेना साथ चले। अभिषेककी सामग्री साथ ले लें। वनमें ही श्रीरामका राज्याभिषेक हो। वे अयोध्याके अधिपतिके रूपमें लौटें।' भरतने स्पष्ट किया कि अग्रचर दल क्यों भेजा है उन्होंने। 'आप चाहें तो पतिघातिनी राक्षसी कैकेयीको छोड़ द; किन्तु अन्य माताएँ साथ चलें। मार्ग निर्माता दल पर्याप्त आहार सामग्री रुकनेके स्थानोंपर व्यवस्थित रखता जायगा, यह उसे समझा दिया गया है।'

'यदि श्रीराम नहीं लौटते हैं, मैं मातृगन्धिनी कैकेयीको विफल मनोरथ करके चौदह वर्ष वनमें ही रहूँगा।' भरतने सबको पुनः सावधान किया— 'अयोध्याकी रक्षाकी चिन्ता व्यर्थ है। समस्त संसारकी रक्षामें समर्थ रघुकुलगुरुके रहते दूसरा कोई क्यों चिन्ता करे ? आप सबमें कोई चले या न चले, भरत अपने अनुजके साथ कल अवश्य प्रातः प्रस्थान कर देगा।'

'वत्स ! ऐसा कोई भाग्यहीन नहीं है जो श्रीरामके समीप पहुँचनेका ऐसा सुयोग त्याग दे।' महर्षि वशिष्ठने उठकर भरतको हृदयसे लगा लिया—'श्रीरामके अनुजके ही उपयुक्त है तुम्हारा निर्णय। निश्चय तुम अयोध्याकी रक्षाके सम्बन्धमें निश्चिन्त रह सकते हो। जब यजमान असमर्थ हो, सङ्कटापन्न हो, रक्षाका दायित्व पुरोहितपर आ जाता है। अबसे रामके लौटने तक अयोध्याकी ओर कुदृष्टि उठानेवालेको वशिष्ठकी होमधेनु नन्दिनी क्षमा नहीं करेगी।'

'वत्स ! सबको प्रभातमें तुम्हारे साथ प्रस्थान करना है।' महर्षि वशिष्ठने भरतसे सस्नेह कहा—'तुम सबको पैदल ले जानेकी बात नहीं सोचोगे। वाहनोंकी उचित व्यवस्था महामन्त्री कर देंगे। सभीको लेजानेसे उन्हें कष्ट होगा और अन्तःपुरमें वधुओंके समीप भी किन्हींको रहना चाहिए। महारानियोंमें किसीको निषेध मत करना।'

स्पष्ट था कि कैकेयी चलना चाहे तो कुलगुरु नहीं चाहते कि उसे रोक दिया जाय। भरतने मस्तक झुकाकर आज्ञा स्वीकार कर ली। कुमार शत्रुघ्न तथा महामन्त्रीको लेकर वे नगरके सभी नागरिकोंके गृह, पशु-कोषादिकी रक्षाव्यवस्थामें लग गये। पर्याप्त पुररक्षक, सेवक नियुक्त करने थे। किसी गृहकी

कुलवधूको, किसीके पशुको असुविधा नहीं होनी चाहिए। कोई अतिथि आ ही जाय तो उसे अयोध्यासे अनभ्यर्चित नहीं लौटना चाहिए। इससे निवृत्त होकर भरतने श्रीरामके लेने जानेके मङ्गल कृत्य प्रारम्भ कर दिये।

'अयोध्याके अधिपति वनमें हैं। सेवकोंकी स्तुति एवं अभ्यर्थनाकी कोई परम्परा अयोध्यामें नहीं है।' ब्रह्ममुहूर्तके प्रारम्भमें उठी वाद्य ध्वनि एवं वन्दी-गणोंको भरतने कठोर स्वरमें निषेध कर दिया—'किसीको भूलना नहीं चाहिए कि भरत अयोध्याके सम्राटका सेवक मात्र है।'

चित्रकूटकी ओर

अयोध्यामें सबकी ही रात्रि जागरण करते व्यतीत हुई थी। प्रभातमें श्रीरामके समीप चलना है, इस निर्णयने नागरिकोंको नवजीवन प्रदान किया था। कदाचित त्रिकालज्ञ ऋषिवर्ग ही था जो आशङ्का करता था—केवल सम्भावना कर सकता था कि श्रीराम नहीं लौटेंगे। सर्वेश्वरेश्वर तो किसीकी सर्वज्ञताकी सीमामें नहीं है। दूसरे सब उत्साहमें थे। सब यात्राकी प्रस्तुतिमें लगे थे।

'जीजी ! रामभद्रको हमारी स्मृति दिला देना।' बहुतोंको नहीं जाना था। किसी न किसीको माध्यम बनाना था उन्हें। इसकी कोई आवश्यकता भले न हो, भले सर्वज्ञ शाश्वत विभु हमारे अन्तरमें ही अन्तर्यामी होकर नित्य विराजमान हों, प्राणी कब समझता है कि उसका स्मरण ही उस सर्वेशका स्मरण है। अन्यथा वह ज्ञानघन किसीको भूल कैसे सकता है।

केवल राजसदनकी बात नहीं थी, नगरकी भी कोई और स्त्री साथ नहीं जा रही थी। स्त्रियोंको साथ ले जाना सुविधाजनक नहीं था। सभीको श्रीरामके चरणों तक अपनी स्मृति भेजनी थी और यह कार्य प्रति, भाईपर छोड़ा नहीं जा सकता था। पूरी रात्रि देवी सुमित्राका सदन अयोध्याकी नारियोंसे भरा रहा।

'वत्से !' सुमित्राजीने स्वयं उर्मिलाको हृदयसे लगाया।

'मातः ! आपकी यह पुत्री परिस्थिति समझने योग्य है।' सुमित्राजीको कुछ नहीं कहना पड़ा। उनकी अनुपम तेजस्विनी पुत्रवधूने उनके चरणोंमें मस्तक रखा—'आपके कुमारने मुझे यहाँ छोड़ा है। इस सदनमें पितृगृहसे उनके चरणोंके पीछे चलकर यह उनकी सेविका आयी है। वे ही साथ ले जायँ तो उर्मिला इस भवनके द्वारके बाहर पद रख सकती है। इसे तो यहीं उनकी प्रतीक्षा करनी है।'

'मातः ! वे अग्रजके पीछे अयोध्याको छोड़कर जा सकते थे; किन्तु इस दासीपर तो बिना कहे भी कुछ दायित्व डाल गये वे।'—उर्मिलाने बिना तनिक

भी सिसके कहा—'मैं यहाँ उनकी ही तो सेवामें संलग्न हूँ। जब तक सेविका सेवामें लगी है, अपने सेव्यके चरणोंसे दूर कहाँ है। मेरी और भी बहिनें हैं, अयोध्याकी समस्त प्रजा उनके अग्रजकी है और प्रजाकी व्यवस्थाका भार तो आपके पुत्रपर ही आता है। यहाँके गृहोंमें जो वधुएँ—मेरी बहिनें हैं, आपके वनमें जानेपर उनको भी तो एक चाहिए जिसके समीप वे दो क्षण बैठ सकें।'

'वत्से ! तू इस वंशकी अधिदेवता है।' सुमित्राने पुत्रवधूको हृदयसे लगा लिया।

'कीर्ति ! मैं स्वामीसे तुझे साथ ले जानेकी प्रार्थना करूँ ?' देवी माण्डवीने श्रुतिकीर्तिसे सस्नेह पूछा।

'हाय जीजी ! मैं तो लज्जासे ही मर जाऊँगी।' नन्हीं बालिकाके समान वह बहिनके कण्ठसे लिपट गयी। 'सबकी सेवामें व्यस्त रहेंगे आपके देवर और मैं उनके कर्तव्यमें बाधा बनूंगी। आप जानती हैं कि शैशवसे मैं बड़ी जीजीके सम्मुख बोल नहीं पाती हूँ। लेकिन ज्येष्ठ आपको ले जावें।'

'देवरसे ऐसा कुछ कहनेकी धृष्टता करेगी तो मैं तुझे कभी क्षमा नहीं करूँगी।' माण्डवीने चौंककर कठोर दृष्टिसे बहिनकी ओर देखा।

'जीजी ! इस भवनमें आकर मैंने सीख लिया है कि सबसे श्रेष्ठ कर्तव्य मौन रहना है।' श्रुतिकीर्तिने गम्भीर होकर कहा—'यहाँ स्वत्व सोचनेका दण्ड प्राप्त होता है। वह दण्ड बेचारी छोटी माता भोग रही हैं। उन्होंने वरदान मांगनेको मुख खोलनेकी भूल क्या की, अब जीवन भर किसीके सम्मुख बोलने योग्य नहीं रह गयीं। यहाँ तो स्वत्वको ठोकर मारकर सेवा-परायणा रहना ही सौभाग्य है।'

'मेरे मूक देवरके संगने तुझे भी गूँगी बना दिया ?' माण्डवीने हृदयसे लगाया छोटी बहिनको।

'आप आशीर्वाद दो कि मैं उनके योग्य दासी बनसकूँ।' श्रुतिकीर्ति रो पड़ी—'मैं कहाँ किसीकी सेवा कर पाती हूँ। आप ही कब अवकाश देती हैं मुझे।'

'तेरा उपालम्भ स्मरण रखूँगी।' माण्डवीने स्नेह पूर्वक कहा—'एक सेवा अभी कर दे। मध्यमा अम्बा इस व्यस्ततामें भी अपनी इस पुत्रवधूको नहीं भूलेंगी। उनके श्रीचरणोंमें मेरा प्रणाम करके कहना कि माण्डवी अव्यग्र बैठी है। उसके

आराध्य कोई निर्णय करें, माता यदि अवसर आवे तो उन्हें आश्वस्त करदें अपनी इस पुत्रीकी ओरसे। यह इस राजभवनमें माताके स्नेहसे ही सुरक्षिता है। अन्य कोई अपेक्षा यह कभी नहीं करेगी।'

श्रुतिकीर्तिके सन्देशने सुमित्राजीको विभोर कर दिया। उन्होंने भाव क्षुब्ध स्वरमें कहा—'तुम सब बहिनोंने अयोध्याके राजसदनको धन्य किया है। तुममें सबकी सब महनीया हैं। अपनी इस बहिनकी सेवा तुझे देकर मैं निश्चिन्त हूँ। भरत तो अब चौदह वर्ष अपने अन्त:पुरमें जाने वाले नहीं हैं।'

'मातः, ज्येष्ठ लौटेंगे नहीं ?' श्रुतिकीर्तिने काँपकर पूछा।

'कौन लौटेगा, कौन नहीं लौटेगा—कुछ कहा नहीं जा सकता।' देवी सुमित्रा गम्भीर होगयीं—'रामको मैं जानती हूँ। पता नहीं किन प्राणोंकी पुकार उन्हें वन ले गयी है। किनका समुद्धार करने वे सुरसेव्य कानन गये हैं। अपना कार्य सम्पन्न किये बिना वे लौटेंगे इसकी कोई सम्भावना नहीं और लक्ष्मण रामकी छाया है। लेकिन मुझे लगता है कि शत्रुघ्न लौट आवेगा। तू उर्मिलाके साथ अयोध्याकी कुल-वधुओंको आश्वासन बनकर रह !'

अयोध्याकी कुलवधुओंका तो अब भवन बन गया था यह राजसदन। सब पुरुषोंके चले जानेपर वे अपने भवनोंमें क्या करने बैठी रहेंगी। उन्हें तो राजवधुओं-की सन्निधिमें ही अब रहना था।

पुरुषोंमें खिन्न थे वे रक्षक जिन्हें दायित्व प्राप्त हुआ था नगर या भवन रक्षाका। पर्याप्त सेवक भरत छोड़े जा रहे थे और कर्तव्य सदासे मनकी रुचिकी उपेक्षा करता रहा है।

भरतने रात्रिके अन्तमें स्नान करनेसे पूर्व रक्षकों, सेवकोंको स्वयं सावधान किया—'समस्त प्रजा, नगर, पशु श्रीरामके हैं। इनमें किसीकी भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। जब उच्च अधिकारी उपस्थित नहीं होते,सेवकका दायित्व द्विगुण होजाता है। कोई किञ्चित भी प्रमाद नहीं करेगा, यह मैं विश्वास करता हूँ।'

'हम अपनी शक्ति, बुद्धिका पूरा उपयोग करेंगे।' सबने आश्वासन दिया—'सब सतर्क रहेंगे।'

ब्राह्ममुहूर्तके प्रारम्भकी प्रतीक्षा ही सब कर रहे थे। स्नान-सन्ध्या संक्षिप्त करनी थी। सूर्यको अर्घ्य, तर्पण आगे किया जा सकता था। सबसे पहिले राजभवनसे कैकेयीजी निकलीं और शिविकामें बैठकर उसे ले चलनेका उन्होंने आदेश दिया।

'देव!' शिविका-वाहकोंने कुमार शत्रुघ्नकी ओर देखा जिनका सङ्केत अयोध्याके महामन्त्री भी सम्मान्य मानते थे, आज उन महारानीका स्पष्ट आदेश भी सामान्य शिविका-वाहकोंको अपर्याप्त प्रतीत हुआ।

'आर्य! उनको ले चलना है?' शत्रुघ्नने अग्रजसे पूछा।

'यदि वह चलती है तो रोकना उचित नहीं होगा।' भरतने देख लिया था कैकेयीको शिविकामें बैठते; किन्तु उपेक्षा करके वहाँसे हट गये थे। अब उन्होंने अनुजको अनुमति दी—'उसकी उपयोगिता है। उसीने पितासे वरदान माँगा था। अग्रज उसके अनुरोधकी अपेक्षा कर सकते हैं।'

कैकेयीने सुन लिया भरतका आदेश। स्वयं भी वे अपनी यही उपयोगिता समझकर चल रही हैं और अब उनका चित्त कहाँ ऐसा रहा है कि किसीके अपमानको ग्रहण करें। सबसे आगे जब कैकेयीकी शिविका चली, सहस्रों रथ, शतशः गजदल, अपार अश्वारोही एवं पदाति सैनिकोंकी चतुरंगिणी शस्त्र सन्नद्ध विजयवाहिनी पीछे चल पड़ी। नागरिकोंके, विप्रोंके, मन्त्रिगणोंके रथ मध्यमें थे और सबसे पीछे, सैनिकोंसे सुरक्षित दो शिविकाएँ थीं—देवी कौसल्या एवं सुमित्राकी शिविका। उसके पीछे भरत-शत्रुघ्न पैदल राजभवनसे निकले।

'नन्दिनी! तुम कामधेनुकी पुत्री हो। वशिष्ठ और इसके शिष्योंने श्रद्धा पूर्वक तुम्हारी सेवामें कभी प्रमाद नहीं किया है। मेरे सौ पुत्र मारे गये, तब भी मैंने तुमसे कभी प्रार्थना नहीं की। आज वशिष्ठ तुमसे प्रार्थना करता है।' भरत-शत्रुघ्नने जब कुलगुरुसे रथपर विराजमान होनेकी प्रार्थना की, महर्षि रक्त-श्वेत-कर्बुरा, श्वेत तिलक मस्तका अपनी होम धेनुके सम्मुख दण्डवत करके हाथ जोड़कर खड़े होगये—'तुम सर्व समर्था हो। अयोध्या नगर, राज्य, प्रजा-कोष एवं गृहोंकी रक्षाका दायित्व तुमपर है देवि! जब तक श्रीराम वनसे लौट नहीं आते, यह रक्षाका भार तुम स्वीकार करलो।'

'वत्स भरत! अब तुम निश्चिन्त रह सकते हो।' नन्दिनीने हुंकार की और दो पद आगे आकर उसने महर्षिके करोंको सूँघ लिया। महर्षिने गौको पुनः दण्डवत

प्रणिपात करके भरतसे कहा—'देवता, दैत्य, दानव, राक्षस, यक्षादि सब मिलकर भी नन्दिनीकी शक्तिके सम्मुख तुच्छ ही रहते हैं। अब वह मूर्ख होगा और अपना विनाश आमन्त्रित करेगा जो अयोध्याको घर्षित करनेका स्वप्न देखेगा। मैंने विश्वामित्रके विरुद्ध नन्दिनीकी हुंकारसे लक्ष-लक्ष दिव्य सैनिक प्रकट होते देखा है। श्रीरामके लौटने तक अयोध्या अयोध्या हो चुकी।'

दोनों भाइयोंने नन्दिनीकी परिक्रमा करके प्रणिपात किया। गौने दोनोंका मस्तक सूंघा।

महर्षि वशिष्ठके रथारूढ़ होकर शंखध्वनि करनेपर विप्रोंके स्वस्ति पाठके साथ भरतका यह सम्पूर्ण दल चित्रकूटकी ओर चला।

निषादराजका शौर्य

अयोध्याका अग्रचर दल छोटा नहीं था। एक छोटी सेना ही थी। यह दल भरतके अयोध्यासे प्रस्थानसे पूर्व ही श्रृङ्गबेरपुर पहुँच गया। यहाँ तक बहुत कम काम करना पड़ा था। तमसा तथा एक दो छोटी नदी-नाले मिले थे। पथ प्राय: यात्राके योग्य था। जिन नदियोंको रथ पार कर सकते थे, उनपर सेतु-निर्माण अनावश्यक था।

'राजकुमार भरत ससैन्य आ रहे हैं।' इस अग्रचर दलने ही निषादराज गुहको सन्देश दिया। निषादराज अयोध्याके राजकुमारोंके आखेट-मित्र रहे हैं। अग्रचर दलको श्रृङ्गबेरपुरमें कुछ करना नहीं था। निषादराज स्वयं व्यवस्था करेंगे. यह आशा थी उन्हें। गङ्गा-यमुनापर सेतु-निर्माण इस शीघ्रतामें सम्भव नहीं था। निषादराजने सुना कि भरत ससैन्य चित्रकूट जारहे हैं तो गम्भीर होगये। अग्रचर दलको उन्होंने चुपचाप गङ्गापार हो जाने दिया। इस दलसे उलझना व्यर्थ था। विरोध ही करना हो तो प्रतिपक्षको विभक्त करनेमें बुद्धिमानी थी।

'भरत क्यों चित्रकूट जा रहे हैं?' निषादराज गुहके पास कोई सेना या मन्त्रिमण्डल तो था नहीं। वे तो निषादोंके प्रधान थे। उन्हें अधिकांश निर्णय स्वयं करने थे। उन्होंने अग्रचर दलके गङ्गापार होते ही अपने निषाद प्रमुखोंको. वृद्धोंको बुला लिया। उनकी मन्त्रणा सभा थी यह—'भरत अपने अग्रज श्रीरामसे मिलने जा रहे हैं तो चतुरंगिणी सेना क्यों?'

'श्रीरामको केवल चौदह वर्षका वनवास मिला है। अवधि पूरी होनेपर वे अयोध्या लौटेंगे। प्रजा उन सद्गुणगणैकधामके आजानेपर भरतको राजा स्वीकार करेगी? आप ही स्वीकार कर लेंगे?' एक तरुणने कहा—'अभी राज्य भरतको सहज मिल गया है। महाराज दशरथ परलोकवासी होगये। स्वर्गीय महाराजने कुबेरके कोषसे बड़ा कोष छोड़ा है अयोध्यामें, यह कौन नहीं जानता। भरत सेनाको, मन्त्रियोंको, प्रजा-प्रधानोंको प्रचुर पुरस्कार देकर अपने पक्षमें करलेनेमें क्यों प्रमाद करें? राम वनमें अनुजके साथ हैं। इस समय अचानक आक्रमण करके भरत उन्हें बन्दी भी बना सकें तो सम्राटका सिंहासन उनके लिए निष्कण्टक हो जायगा।'

'कैकेयीके ही पुत्र हैं भरत !' दूसरेने कहा—'वे ऐसा निर्णय करें तो किसीको आश्चर्य क्यों ?'

'श्रीरामको जीत लेनेकी आशा करते हैं भरत ?' निषादराजके मुखसे निकला—'अकेले लक्ष्मण धनुष चढ़ाकर खड़े हों तो देव-दैत्य मिलकर भी विजयी होंगे ?'

'यह आपकी—हम सबकी श्रद्धा है; किन्तु सब ऐसा ही सोचें, समझें, यह तो आवश्यक नहीं है।' एक वृद्धने कहा—'मनुष्यकी दुर्बलता ही यह है कि वह दुराशा करता है। दुस्साहस करके अपना सर्वस्व नष्ट कर लेता है।'

'आप सबकी बात ठीक है; किन्तु हम अपनी आस्थापर बैठे तो नहीं रहेंगे। निषादराजने कहा—'कल भरत ससैन्य आ धमकेंगे यहाँ। उन्हें यहींसे गङ्गा पार करना है।'

'यहाँसे गङ्गापार करना है? हम गङ्गापार उतारेंगे उन्हें और उनकी सेनाको ?' एक क्रुद्ध तरुण हुंकार उठी—'हमारे जीवित रहते यह कभी नहीं होगा।'

'सूर्यवंश विभूषण महाराज अङ्गका रक्त है हमारी नाड़ियोंमें।' अब निषादराज खड़े होगये—'आदिराज पृथुके अग्रज थे हमारे आदि पुरुष। क्या हुआ कि उन्हें वेन-शरीरका कल्मष-समुद्भव मानकर उनके वंशको ऋषियोंने क्षत्रिय नहीं स्वीकार किया; किन्तु उन आदि निषादके वंशधर निषाद तथा इस वंशकी वनोंमें बसने वाली उपशाखा किरात, भील, कोलमें से किसीको कापुरुष, भीरु कहनेका साहस किसीने कभी किया है ? मृत्युसे दो हाथ करना हमारे रक्तमें सदा रहा है। निषाद या इस वंशकी उपशाखाकां मरणसे डरकर कोई कभी नहीं भागा। निषाद तो गङ्गापुत्र है—मरणसे डरेगा वह ?'

'मरणसे तो निषादका नन्हा शिशु भी नहीं डरता।' तरुणोंमें तेज आगया—'आप आदेश क्यों नहीं करते। हम निषादोंमें कहाँ लम्बी मन्त्रणाकी परम्परा है। हमें क्या करना है, यह आदेश कीजिये।'

'स्पष्ट रहना चाहिए कि अयोध्याकी विजयवाहिनीसे उलझकर विजयकी आशा व्यर्थ है।' निषादराजने कहा—'लेकिन हम अपने जीवित रहते भरतके एक भी सैनिकको गङ्गापार नहीं होने देंगे।'

'हम मरेंगे—मरणका महापर्व मनावेंगे कल। गङ्गातटपर कल निषाद वह मरण महापर्व मनावेंगे कि विश्व युगों तक उसे विस्मृत नहीं कर सकेगा।' निषादराजने असन्दिग्ध स्वरमें घोषणा की—'भरत विजयी भले हो जायँ, शृङ्गवेरपुरमें उन्हें कोई निषाद बालक जीवित नहीं मिलेगा और न कोई तरणी मिलेगी सुरसरि संतरणके लिए।'

'भरतको और उनके शूरोंको भी पता लगेगा कि क्रुद्ध निषाद कितनोंपर भारी पड़ता है।' निषादराज कहते गये—'भले हम दिव्यास्त्र नहीं जानते, पर मरणको प्रस्तुत मृग भी वाराहको आहत करके मरता है। भरतकी सेनाके गज, अश्व, रथ, सैनिकोंकी भी समाधि बनेगी इस गङ्गातटपर। वे सुरसरि पार भी कर सके तो गिने चुने शूर रह जायँगे उनके साथ। अपने रामके प्रतिपक्षका संख्या-बल कल हमें मरनेसे पूर्व अवश्य तोड़ देना है।'

'वह टूटकर रहेगा।' क्रुद्ध निषादोंने सङ्कल्प किया। उनमें मतभेदकी कल्पना ही नहीं होती। मन्त्रणा सभा युद्ध समिति बन गयी और युद्धकी पद्धति तथा स्थानोंका निश्चय निषादोंने शीघ्र कर लिया। रात्रिके अन्धकारमें पाँचसौ नौकाएँ उन जलीय द्वीपोंमें जा खड़ी हुईं जो छिछले जलके कारण प्रवाहमें एक हो रहे थे। उन नौकाओंमें धनुष-वाण, भल्लसे सन्नद्ध निषाद तरुण थे। उन्होंने उसी समय अपने वाण तथा भल्ल विषमें बुझाए थे। युद्धघोष होते ही उन्हें अपनी नौकाओंकी तली ध्वस्त कर देनी थी और उन नौकाओंकी आड़को ही अपना आक्रमण दुर्ग बनाना था।

'युद्धघोष करो!' बालक एवं अतिशय वृद्ध सुरक्षित भेज दिये गये। निषाद-तरुणियों तकने गोफण एवं पाषाण सम्हाल लिये। निषादराजने स्वयं सबका निरीक्षण कर लिया और तब आदेश दिया।

'रुको!' भेरी और शृङ्ग बजनेके ठीक क्षणमें निषादराजके वाम ओर किसीने छींक दिया। निषाद शकुन विश्वासी ही नहीं होते इनके शकुन शास्त्रज्ञ अच्छे ज्योतिषियोंसे अधिक विश्वसनीय होते हैं। गुहने युद्धघोष रोका और अपने एक वृद्धसे शकुन-फल पूछा।

'शकुन तो कहता है कि युद्ध होगा ही नहीं।' वृद्धने कहा—'भरतसे मिलना उचित लगता है।'

'सचमुच अनुमानके आधारपर निर्णय कर लेना अज्ञता होगी।' निषादराजने भी अपनी भूलका अनुभव किया—'अन्ततः इतनी बड़ी सेना जा रही है तो यात्राका उद्देश्य सबसे छिपाया कैसे जा सकता है। उन लोगोंसे मिलकर ज्ञात तो करना चाहिए कि वे क्यों चित्रकूट जा रहे हैं।'

'आप सब मेरे लौटनेकी प्रतीक्षा करें।' निषादराजने अपने लोगोंको समझाया—'मैं भरतसे मिलकर देखता हूँ। आप मेरे संकेतकी प्रतीक्षा करें।'

निषादराजको किसीसे पूछना नहीं पड़ा। कोई परीक्षा नहीं लेनी पड़ी। वे निषादोंके राजा थे। अपने अनुरूप भेंट लेकर आगे गये। उनकी भेंट—भारी मोटी मछलियाँ, कुछ कन्द, फल। थोड़े हरिण और कुछ मधु स्वर पक्षी।

पिताके नामके साथ गुहने जाति बताकर जब अपना नाम लिया दण्डवत करते समय, महर्षि वशिष्ठने रथ रोक लिया, पीछे आते भरत-शत्रुघ्नको समीप बुलाकर कहा—'ये शृङ्गबेरपुरके अधिपति राम-सखा गुह अभिवादन कर रहे हैं।'

भरतने दौड़कर हृदयसे लगा लिया। वल्कल वसन, जटा मुकुट, शोकक्रुश भरतको देखकर निषादराजके लिए कुछ पूछना शेष नहीं रहा। लेकिन उन्होंने फिर भी पूछा—'आप इतनी विशाल सेना क्यों ले जा रहे हैं ? श्रीराम मेरे स्वामी हैं, सखा हैं, सर्वस्व हैं। अतः उनकी सुरक्षाके लिए मैं सतर्क रहूँ तो आप मुझे दोष नहीं दे सकते। आप मुझे अपने साथ चित्रकूट तक चलनेकी अनुमति देंगे ?'

निषादराजके आज्ञा पालक वनमें कम नहीं थे। वे अकेले भी साथ चलें तो बहुत कुछ कर सकते थे; किन्तु भरत सुनते ही रो पड़े—'मित्र ! मेरा दुर्भाग्य कि तुम-सा बालसखा भी मुझपर सन्देह करता है। मैं स्वयं प्रार्थना करने वाला था कि भरतके मार्गदर्शक बनकर साथ चलनेकी कृपा करो। तुम साथ रहोगे तो सम्भव है श्रीराम तुम्हारा ही अनुरोध मानकर लौट चलें।'

'आप धन्य हैं।' गुहका कण्ठ भी भर आया—'प्राप्त राज्यको त्यागकर अग्रजको मनाने जानेका यह आपका सुयश संसारके लोभ कलुषित हृदयको सदा प्रशस्त प्रकाश देता रहेगा।'

साथरी-दर्शन

अनेक समय कुछ कहना आवश्यक नहीं होता। निषादराज गुहका कर पकड़े जिस वेशमें, जिस प्रकार भरत आ रहे थे, उसे देखकर निषादोंको किसी संकेतकी आवश्यकता नहीं थी। उनकी गङ्गाकी धारामें गयी नौकाएँ लौटा ली गयीं। सबोंने शस्त्र-विसर्जित किये और स्वागतमें लग गये। भरत-शत्रुघ्नने स्वयं घूम-घूमकर देखा कि कौन कहाँ उतरा है। किसे किस प्रकारकी सुविधा अपेक्षित है। सभीको वृक्षोंके नीचे या वस्त्र शिविरमें उतरना था। निषादोंने स्थान स्वच्छ किये। शिविर लगानेमें सहायता की। लोगोंके सुरसरि तक पहुँचनेके सुगम स्थान दिखलाये। बिछानेके योग्य तृण (पुआल आदि) लाकर दिये।

निषादराजने शाक, कन्द, मूल तथा दुग्धकी व्यवस्था की लोगोंके लिए।

गजोंके लिए वट-पाकरकी डालियाँ मँगा दीं। अश्वोंके लिए प्रचुर चारेकी व्यवस्था कर दी।

'सखे! यहाँ मेरे अग्रजने तथा लक्ष्मणने क्या किया?' सबकी व्यवस्था देखकर, सबको सम्हालकर भाईके साथ भरत निषादराजके समीप आगये—'भगवती जनक-नन्दिनीके साथ अग्रज कैसे रहे यहाँ? तुमने उनका कैसे आतिथ्य किया?'

'कुमार! यह अधम निषाद उनका या आपका क्या आतिथ्य करने योग्य है?' गुहने भावक्षुब्ध कण्ठ कहा—'लेकिन आपके अग्रज अपने चरणाश्रित अधम-जनोंका भी सम्मान रखते हैं। तीन दिनके उपोषित आये थे। यहाँ इस वर्णवाह्य-का आग्रह वे टाल नहीं सके। भाई तथा भगवती मैथिलीके साथ इसके द्वारा अर्पित कन्द, मूल, फल स्वीकार किये उन्होंने।'

'प्रातः ही श्रीरामने मुझसे वट-दुग्ध मँगवाया।' गुह रुदन करने लगे—'अपनी घुँघराली कोमल, सघन स्निग्ध अलकोंको दोनों भाइयोंने उस क्षीरसे चिपकाकर जटा बना लिया।'

'वे अयोध्याके अधीश्वर परम सुकुमार अब जटा धारण करते हैं? कैसे वल्कल पहिनते होंगे वे?' भरत ध्यान मग्न होकर मूर्च्छित होगये। अत्यन्त आर्त होकर गिर पड़े। शत्रुघ्नने उन्हें सम्हाला।

'निषादराज ! तुमने अपने परमप्रिय अतिथिका सत्कार कैसे किया ?' दो घड़ीमें भरत सचेत हो सके। सचेत होते ही पूछने लगे--'श्रीरामने कैसे, कहाँ रात्रि शयन किया !'

'निषादका क्या सत्कार कुमार ? मैं जो कर सकता था, वह तो सब उन्होंने अस्वीकार कर दिया। मेरे उटजमें जाना स्वीकार ही नहीं किया उन्होंने।' गुह भी रुदन करते कह रहे थे—'लक्ष्मण गङ्गाजल ले आये। उन्होंने ही श्रीसीतारामके चरण-प्रक्षालित किये। तीनों मौन हो रहे थे। मैंने सिरीषके नीचे पत्र-तल्प बनाया। उसे लक्ष्मणने पुनः सज्जित किया। उसीपर मध्यमें धनुष तथा त्रोण रखकर सीतारामने रात्रि शयन किया। अब तो वही गुहकी सेव्य है।'

'मुझे भी उसके दर्शन करा दो मित्र !' भरतने गुहका कर पकड़कर अत्यन्त दीनताके साथ आग्रह किया।

'आइये !' निषादराज अब बोल नहीं पा रहे थे। वेउठकर एक ओर चल पड़े। शिंशुपाके उस सघन वृक्षकी ओरसे दूर ही निषादोंने अयोध्याके लोगोंको आवास दिया था। वे सतर्क थे कि कोई उधर न आवे। गुहने वहाँ सशस्त्र प्रहरी नियुक्त कर रखे थे। स्वयं गुह साथ न होते,उनके प्रहरी शिंशुपाके समीप भी भरतको आने नहीं देते। पत्र-तल्प ज्यों-का-त्यों नहीं था। अवश्य नीचे बिछाए कुश यथावत थे, अतः तल्पका आकार यथावत था। अत्यन्त कोमल किसलय दिनके आतपसे सूख-कर काले पड़ गये थे। शुष्क होगयी थीं पुष्पोंकी पंखड़ियाँ ; किन्तु तल्प यथावत थी। मध्यमें धनुष-त्रोण रखनेका स्थान थोड़ा दबा था। उसके दोनों ओर दो व्यक्ति लेटे थे—ऐसा स्पष्ट था कि दोनों एक ही करवट सम्भवतः एक दूसरेकी ओर मुख किये रात्रिभर पड़े रहे थे।

वायुवेगसे तल्प बिखर न जाय, इसलिए निषादोंने चारों ओर तल्पसे सटा-कर थोड़ी ऊँची काष्ठ–परिखा बना दी थी। कोई भी देखते ही समझ सकता था कि तल्पकी अर्चा होती है। उसके किनारे एक ओर थोड़े नवीन पुष्प चढ़े थे। उस-पर केशरके बिन्दु थे। वहाँ सायंकाल ही प्रदीप रखा गया था और धूप जल रही थी।

निषादराज गुहके साथ ही भरत-शत्रुघ्नने पृथ्वीमें पड़कर प्रणिपात किया। भरत बहुत व्याकुल होगये –'श्रीजनकराज-नन्दिनीके साथ मेरे त्रिभुवन वन्दनीय अग्रज रात्रिमें इस तृण-शैय्यापर सोते रहें ?'

कठिनाईसे शत्रुघ्नने बड़े भाईको सम्हाला। दोनों भाई वहाँ समीपकी रज सादर उठाकर मस्तकपर लगा रहे थे। दोनोंने प्रदक्षिणा की उस पत्र-तल्पकी।

'निषादराज ! आप भरतको वे दो-चार स्वर्ण-कण उठा लेनेकी अनुमति देंगे ?' भरतकी दृष्टि पत्र-तल्पके एक-एक तृण, पत्र, पुष्पदलको तृषितके समान देख रही थी। तल्पपर जिधर श्रीजनक-नन्दिनीने शयन किया था, उनके वस्त्रोंमें लगे स्वर्णतारक टूट गिरे थे। भरतने अत्यन्त कङ्गालके समान हाथ जोड़कर याचना की।

किसी अन्यको गुह उस तल्पका एक तृण स्पर्श नहीं करने देते। उनके प्रहरी पक्षी तकको समीप नहीं आने देते ; किन्तु अपने हृदय सखाके इन अनुजको रोक सकते थे ? इनके श्रीचरण तो श्रीरामके समान अब गुहके सेव्य थे। मस्तक झुका दिया गुहने। भरतने झुककर सम्हालकर वे स्वर्णतारक उठाये। उन्हें अपनी जटामें सावधानी पूर्वक छिपाया। मानो कोई अत्यन्त अलभ्य महामणि छिपा रहे हों।

अपने अश्रुजलसे ही दोनों भाइयोंने उस तल्पको अर्घ्य अर्पित किया। देर तक दोनों उसे प्यासे नेत्रोंसे देखते रहे—देखते रहे और क्रन्दन करते रहे।

'सखे ! उस इंगुदीके नीचे इसी प्रकार सुरक्षित दूसरा तल्प देखता हूँ। भरतने सावधान होकर इधर उधर देखा। थोड़ी दूर एक अन्य स्थानकी ओर भी संकेत किया—'वहाँ भी आपने काष्ठ- परिखा बनवायी है, जहाँ मध्यमें कोई तल्प नहीं है।'

'कुमार ! मैंने वह पत्र-तल्प लक्ष्मणके लिए बनायी थी।' निषादराजने बतलाया—'भले वह अस्पृश्य ही रही, मेरे लिए तो अपने उपदेष्टाका स्थान है।'

'वह अस्पृश्य रही ?' भरत-शत्रुघ्न उसके समीप चले गये। उसपर भी पुष्पार्पण हुआ था। वहाँ भी धूप-धूम्र उठ रहा था। वहाँ भी प्रदीप प्रज्वलित था। निषादराजने वहाँ भी प्रणिपात किया।

'श्रीसीतारामने जब पत्र-तल्पपर शयन किया, मैंने चारों ओर प्रहरी नियुक्त कर दिये। मैं स्वयं धनुषपर बाण चढ़ाये रात्रि-जागरण करने वाला था।' गुहने गद्गद स्वर सुनाया—'मैंने कुमार लक्ष्मणसे प्रार्थना की कि वे इस पत्र-तल्पपर विश्राम करें।'

'तात ! तुम्हारी सुरक्षा व्यवस्थापर मुझे सन्देह नहीं है; किन्तु उन सुमित्रा-नन्दनने उस तीसरे स्थानपर वीरासनसे बैठे, धनुष चढ़ाये हुए ही कहा था —'मेरे आराध्य, मेरे एकमात्र आश्रय अग्रज एवं अम्बा तृणोंपर शयन कर रहे हैं, यह देखते हुए मुझे निद्रा आ सकेगी मित्र ?'

'वे वहाँ सम्पूर्ण रात्रि—श्रीसीतारामके उठनेसे पूर्व तक स्थिर एक आसन-पर बैठे रहे।' गुहने श्रद्धा सहित प्रणाम किया—'यह अधम निषाद भी बैठ गया उनके समीप। वे तो जगद्गुरु हैं। उन करुणामयने इसपर कृपा की। गुहका जीवन धन्य होगया। वह रात्रि गुहकी उद्धारक रात्रि—वे इस अज्ञ, अनधिकारी-को श्रीरामका स्वरूप, उन करुणा-वरुणालयका प्रीति-रीतिका उपदेश करते रहे। निषादकी स्थूल बुद्धि उपदेशका ग्रहण भले न कर सके, उनके श्रीचरणोंके चिह्न इसके सर्वस्व होगये हैं।'

गुहके साथ जाकर उस तीसरे स्थानके समीप शत्रुघ्नने तो साष्टाङ्ग प्रणाम किया ही, भरतने भी किया—'लक्ष्मण ! तुम अनुज होकर भी भरतके सम्मान्य हो, श्रद्धेय हो। तुमने ही श्रीरामका स्नेह-सम्पादन करना सीखा।'

'भरत-शत्रुघ्न कहाँ हैं ?' माता कौसल्याने ही प्रथम स्मरण किया। वे अपने इन दोनों पुत्रोंकी दशा देखकर इनके सम्बन्धमें बहुत चिन्तित रहने लगी थीं।

'दोनों भाई निषादराजके साथ श्रीरामकी शयन-साथरीका दर्शन करने गये हैं।' पूछताछ होनेपर निषादोंसे समाचार प्राप्त हुआ। सभी व्याकुल उसी ओर चल पड़े। निषादोंको अनुरोध करके सबने मार्गदर्शक बना लिया था।

'ये तृणोंमें उलझे भगवती मैथिलीके कौशेय वस्त्रोंके सूत्रांश !' भरत पुनः श्रीसीतारामकी साथरीके समीप आगये थे। निषादराजको भी आश्चर्य था कि इस साथरीके प्रति परम श्रद्धा रखते हुए जो कुछ वे दिनके प्रकाशमें नहीं देख सके थे, भरतकी दृष्टि सायंकालीन धुँधलकेमें भी उसे सहज देख लेती है। श्रीराम वल्कलधारी थे। वे जिधर सोये थे, उधर कोई चिह्न पाए जानेकी आशा नहीं थी; किन्तु जिधर श्रीवैदेहीने शयन किया था, भरत वहीं समीप घुटनोंके बल बैठे क्रन्दन कर रहे थे तल्पको घूर-घूरकर देखते हुए—'यह पत्र उनके शरीरसे विशेष-ढंगसे दबकर मुड़ गया है। यह पुष्पदल दुहरा होगया है, 'हाय ! वे यहाँ तृणोंपर सोने योग्य थीं ? मैं भाग्यहीन—मेरे कारण ही यह सब हुआ। धन्य हैं लक्ष्मण ! वे इन्दीवर सुन्दर श्रीरामकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त कर सके।'

'आजसे भरत भी वल्कल ही पहिनेगा और बिना तृण-तल्पके भूमि-शयन करेगा।' भरतने वहीं प्रतिज्ञा की—'कन्द-मूलके अतिरिक्त और कोई आहार अब अग्राह्य है। शत्रुघ्नके साथ मैं वनमें रहूँगा। अग्रजको लक्ष्मण और भगवती सीताके साथ अयोध्या लौटना है।'

भरत वहाँ रात्रि भर रुदन करते, किन्तु बहुत भीड़ होगयी। अयोध्याके सभी लोग वहीं आगये। सब साथरी-परिक्रमा करते थे। विप्र समूह भी प्रणिपात करता था। लोगोंने साथरीका स्तवन प्रारम्भ कर दिया। निषादराज सशङ्क हो-गये। उन्होंने भरतसे प्रार्थना की—'आप दोनों भाई अब सबके साथ विश्राम-स्थान पधारें।'

भरतने समझा। साथरीकी सुरक्षा इतने लोगोंमें सन्देहास्पद होगयी है, किसी क्षण कोई एक पुष्प या पत्र लेनेको कर बढ़ा सकता है और तब……? भरतने सबको साग्रह लौटाया।

प्रयागके पथपर

'आह्निक हम गङ्गापार करेंगे ; किन्तु सखा निषादराजको अधिक रात्रिका जागरण करना पड़ा है ।' भरतने भाईसे ब्रह्ममुहूर्तमें उठकर धीरेसे कहा ।

'आप अभी गङ्गापार कर सकते हैं ।' निषादराज गुह उठ खड़े हुए—'मैं इतना अधम नहीं हूँ कि मेरे यहाँ इतने सम्मान्य अतिथि पधारें और मैं रात्रि-शयन करूँ ।'

जो नौकाएँ कल शस्त्र-सज्ज भरतसे संग्राम करनेको प्रस्तुत थीं, आज भरतको सुरसरि पार करानेमें उनका सदुपयोग होना था । गुहने रात्रि शयनसे पूर्व ही उन्हें प्रस्तुत रखनेको कह दिया था । ५०० नौकाएँ तटपर लगी थीं । उनके केवट नौकापर ही सोये थे ।

कुलगुरु तथा ब्राह्मण एक नौकापर जब बैठ गये, भरतने दोनों माताओंको एक नवीन नौकापर बैठाया । उस तीव्रगामिनी छोटी नौकापर सुमन्त्रके साथ विश्वस्त रक्षक बैठे । कैकेयी स्वयं नागरिकोंमें वृद्धों तथा साथ चलने वाली सेविकाओंके साथ बैठ गयी ।

गजोंको तैरकर गङ्गा पार करना था । अश्व तथा रथोंको विशेष नौकाओं के द्वारा गङ्गा पार उतारा गया । जब सब सेवकों तककी व्यवस्था होगयी, भाई एवं गुहके साथ भरत नौकापर बैठे । लगभग एक ही खेवेमें पूरी सेना पार उतर गयी । उतरते ही लोग अपने आह्निक कृत्यमें लग गये ।

संक्षिप्त प्रातःकृत्य करके भरतने लोगोंको आगे भेजना प्रारम्भ कर दिया । महर्षि वशिष्ठके साथ विप्रोंके रथोंको आगे चलना था । गज सेना उसके पीछे चल पड़ी । रथारोहियोंके पीछे माताओंकी शिविकाएँ थीं और उनके पार्श्व तथा पृष्ठ देशकी रक्षा करते अश्वारोही चल रहे थे ।

'आप दोनों रथारूढ़ हों ।' सुमन्त्रने आग्रह किया था ।

'आप माताओंके साथ चलें ।' भरतने उन्हें आगे भेजा—'हमारे साथ दो अश्व छोड़ दे सकते हैं ।'

सुमन्त्र आगे गये। मन्त्रीगण सभी आगे गये। पदातिदलको भी भरतने आगे भेजा। केवल निषादराज गुहने आगे जाना स्वीकार नहीं किया। भरतने उन्हें मार्ग दिखलानेके बहाने सबसे आगे जानेको कहा था; किन्तु उनका उत्तर था—'आपका अग्रचर दल मार्ग निर्मित करता गया है। किसीको मार्गदर्शक बननेकी आवश्यकता नहीं है।'

भरतने रात्रिमें ही केशोंको जटा बना लिया था। वल्कल वे अयोध्यासे ही पहिनकर निकले थे। कुशल यह थी कि उन्होंने शत्रुघ्नको अपना अनुकरण करनेसे रोक दिया था—'कुमार! तुम साधारण रूपमें नहीं रहोगे तो माताओंको बहुत व्यथा होगी। सेवाके महत्वको समझकर तुम वस्त्र मत बदलो।'

'स्वामी! आप दोनों और निषादराज भी अश्व स्वीकार करें।' सेवक अधिक आग्रह भी नहीं कर सकते थे। तीन सुसज्ज अश्व पीछे रह गये थे। जब सम्पूर्ण दल आगे निकल गया, भाईके साथ भरत पैदल चल पड़े। गुहको तो इनका अनुगमन करना था।

'तुम साथ चल सकते हो।' अश्वोंको लेकर चलने वाले सेवकोंसे भरतने कह दिया—'जब भरत पैरोंसे चलनेमें असमर्थ हो जायगा, अश्व स्वीकार कर लेगा। मेरे स्वामी इस मार्गपर पैदल गये हैं। उनके सेवकको वाहन क्यों स्वीकार करना चाहिए।'

कठिन आग्रह था यह; क्यों कि श्रीराम स्थान-स्थानपर बैठते, विश्राम करते गये थे। भरतको आज ही प्रयाग पहुँचनेकी त्वरा थी। उनके अग्रचर दलने जहाँ तक सम्भव हुआ था, सीधा पथ स्वच्छ कर दिया था। कृषकोंकी कृषि कट चुकी थी, अतः ग्रामोंसे दूर रहते सीधा पथ बनानेमें बाधा नहीं पड़ी थी।

श्रीराम पगडण्डीसे ग्रामोंके समीप होकर गये थे; किन्तु विशाल सेनाको ग्रामोंके समीप ले जानेसे भय था कि ग्रामवासियोंको कष्ट होगा। इतने गज, रथ, अश्वोंका समूह देखकर ग्रामीणजन भयभीत, चकित रह जाते थे। वे समीप आनेका साहस ही नहीं कर पाते थे।

'यह किसकी सेना है? कहाँ किस राज्यको आक्रान्त करने जा रही है?' दूरसे देखते ग्रामवासियोंमें पहिला प्रश्न यही उठता था। सभी लोग—गज, अश्व,

रथ, पैदल सब तीव्र गतिसे जा रहे थे। कोई रुकने, इधर-उधर देखनेका नाम नहीं लेता था। ग्रामीणजन यही समझते थे कि ये लोग किसी आक्रमणकी त्वरामें हैं।

'ये दोनों राजकुमार ?' सबसे पीछे पैदल चलते भरत-शत्रुघ्नको देखकर लोग चौंकते थे—'ये राम-लक्ष्मण ही तो लगते हैं। निषादराज गुह भी हैं इनके साथ; किन्तु ये वनसे लौट कब गये थे ? इतनी शीघ्रतामें कहाँ जा रहे हैं। इस बार लक्ष्मणने अग्रजके साथ रहकर भी वैसा वेश नहीं धारण किया और श्रीजनक-नन्दिनी कहाँ हैं ?'

'ये राम-लक्ष्मण नहीं हो सकते।' सन्देह उठनेके और भी कारण थे–'इनका मुख अत्यन्त व्यथा-म्लान है। लेकिन तब ये हैं कौन ? कहाँ ले जा रहे हैं इतनी विशाल वाहिनी ?'

'ये श्रीरामके अनुज हैं भरत-शत्रुघ्न।' उत्सुकता होती है तो उपाय मिल जाता है। तरुणोंने भाग-दौड़करके सेनाके साथ चलने वाले सेवकोंसे पूछताछ कर ली—'ये वनमें अपने अग्रजके पास जा रहे हैं। श्रीरामको मनाकर लौटा लाने निकले हैं भरत।'

'धन्य भरत ! संसारमें तुम्हारे समान अनुज सबको प्राप्त हो।' ग्राम्यजनों-का एक ही उद्गार—'अयोध्याका निष्कण्टक राज्य ठुकराकर भाईको लौटाने जाते हैं भरत ? धन्य भरत !'

'राम ! राम ! सीताराम !' भरत-शत्रुघ्नको कहाँ अवकाश था कि वे कुछ सुनें या किसी ओर देखें। नाम जप करते दोनों भाई अत्यन्त तीव्र गतिसे—लगभग दौड़ते जा रहे थे। शरीर धूलि सना, कमलमुख किञ्चित धूसर, म्लान और उसपर स्वेद विन्दु ! अरुण चरणतलोंमें छाले झलमला आये थे किन्तु जिसे शरीर-की ही सुधि नहीं, उसे ये छाले कैसे रोक सकते थे।

गगन मेघाच्छन्न होगया था। सघन मेघोंसे नन्हे सीकर बराबर झर रहे थे। वायु पथ-धूलि आगेकी ओर ले जा रहा था और उसका वेग गतिमें सहायक हो-रहा था। वृक्षोंसे, लताओंसे झरते किसलय एवं कुसुमोंने प्रायः पूरे पथको आच्छादित कर दिया था। प्रकृतिने भरतके लिए ये पाँवड़े बिछा दिये थे।

कोकिलका स्वागत-गान, मयूर-केकाकी जयध्वनि, पपीहेका कोमल सम्बो-

धन, भ्रमरोंका यशोगान, सब चल रहा था—अनुक्षण अनुपद चल रहा था। मार्ग इतना सुखद इतना सानुकूल श्रीरामको भी प्राप्त नहीं हुआ था जैसा भरतके लिए हो-गया था ; किन्तु भरतको यह सब देखनेका अवकाश नहीं था। राम-श्रीसीताराम-की रट मुखपर। वे हृदयधन वनमें थे—चित्रकूट थे। भरत चित्रकूट पहुँचना चाहते थे और उन्हें लगता था कि वे बहुत मन्द पदोंसे चल रहे हैं। चित्रकूट—शीघ्र चित्रकूट !

इस आतुर गतिमें आहार, जलपान, विश्रामका अवकाश नहीं था। उसी दिन दिनके तृतीय प्रहर भरत प्रयाग पहुँच गये।

मुनि भरद्वाजका आतिथ्य

अनादिपावन क्षेत्र तीर्थराज प्रयाग पहुँचकर सभीको गङ्गा-यमुनाकी मिलन स्थलीपर स्नान करना था। तीर्थ-पुरोहितोंको भरतने हाथ जोड़कर कह दिया—'हमारे सम्राट वनमें हैं। आप आशीर्वाद दें कि वे अयोध्या लौटें। जब तक वे अपना अभिषेक स्वीकार नहीं कर लेते, इस सेवककी स्थिति स्वयं अनिश्चित है। इस समय तो भरत कङ्गाल है।'

माताओंने, नागरिकोंने प्रचुर दान-सङ्कल्प किया। केवल रूपमालिनी[1] कैकेयीने कोई दान-सङ्कल्प नहीं किया। वह अपनेको सबसे दूर-दूर रख रही थी, चतुर तीर्थ-पुरोहितसे उसकी स्थिति छिपी नहीं थी और उनकी भी वितृष्णा ही थी कैकेयीके प्रति। वे स्वयं कैकेयीका दान लेनेको प्रस्तुत नहीं थे।

तीर्थ स्नान, अक्षयवट दर्शन करके भरत विह्वल होरहे थे। उनकी प्रार्थना सर्वत्र एक ही थी—'संसार भरतको लोलुप, अधम, कुटिल कुछ कहे; किन्तु श्रीसीतारामके चरणोंमें मेरा राग अनुक्षण बढ़ता रहे!'

तीर्थ अर्थात् पवित्र करनेकी शक्ति रखने वाला स्थान या पदार्थ। ये स्थान या पदार्थ पावनकारी शक्ति प्राप्त करते हैं महात्माओंसे—भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न हुए सन्तों—भक्तोंसे। वास्तविक तीर्थ हैं सन्त। तीर्थयात्राकी सफलता ही सन्त-दर्शन है। अक्षयवट-दर्शन करके भरतने महर्षि भरद्वाजके दर्शनकी इच्छा की।

सेनाकी भीड़ लेकर, स्वजन-परिवारके साथ न भगवद्धाम पहुँचा जा सकता, न सन्तके समीप। सन्तके समीप पूरा परिकर लेकर पहुँचनेपर सन्तकी कृपा, उनका उन्मुक्त आदेश-उपदेश पाना प्रायः कठिन होता है; क्योंकि परिवार-सम्बन्ध

---

[1] कैकेयीका यही नाम था। आज भी राजस्थानमें—अन्यत्र भी अनेक प्रदेशोंमें पतिगृहमें वधूका नाम लेनेकी प्रथा नहीं है। उन्हें उनके पितृ स्थान या पितृ गोत्रसे पुकारा जाता है। महाराज दशरथकी तीनों महारानियोंको वे जिन राज्योंकी कन्याएं थीं, उन राज्योंके नामसे पुकारा गया। दक्षिण कोशलकी कन्या कौसल्या, सौमित्र (विदर्भ) की कन्या सुमित्रा तथा कैकयकी कन्या कैकेयी। सुमित्राजीका नाम गुणावती तथा कैकेयीजीका नाम रूपमालिनी था।

शरीरोंके होते हैं। जीव स्वयंमें एकाकी है। अतः सबके अधिकार—मानसिक रुचि, क्षमता एक जैसी नहीं होती और जब अनेक रुचि—अधिकारके लोग एक साथ होंगे तो उपदेष्टा सबको सामान्य उपदेश ही तो कर सकेगा। किसी एकके अधिकारानुरूप निर्देश कैसे कर सकता है।

भरतको यद्यपि महर्षि भरद्वाजके प्रपन्न नहीं होना था, वे तो अपने अग्रजके परम प्रपन्न थे ; किन्तु महर्षिके आश्रमकी शान्ति, वहाँका एकान्त भंग होता समूहको लेकर जानेसे। अतः सेनाको, माताओंको आवास देकर, उनकी व्यवस्था तीर्थ-पुरोहितके सम्हाल लेनेपर भाईके साथ वे महर्षिका दर्शन करने चले। कुलगुरुने कह दिया था—'वत्स ! तुम हो आओ। मेरे अभी जानेसे उन्हें सङ्कोच होगा। मैं सुयोग देखकर मिल लूंगा।'

देवगुरु वृहस्पतिके पुत्र महर्षि भरद्वाज और स्वयं सुरगुरु वृहस्पति महर्षि अंगिराके पुत्र ब्रह्माजीके पौत्र हैं। महर्षि वशिष्ठ ब्रह्माजीके पुत्र हैं। अतः उनको अर्घ्य देकर भरद्वाजजी उनका अर्चन ही करेंगे।

'वत्स ! हमने तो सुना था कि तुम अयोध्याके अधिपति होगये हो, तुम्हारा यह जटा-वल्कलधारी वेश ?' भरतने आश्रम द्वारपर पहुँचकर एक अन्तेवासीके द्वारा समाचार दिया था। महर्षि स्वयं द्वार तक आये। दण्डवत करते भरत-शत्रुघ्नको उठाकर हृदयसे लगाया उन्होंने और आश्रममें ले गये। वहाँ आसनपर बैठ जानेके पश्चात् पूछा।

'देव ! अयोध्याके जो अधीश्वर हैं, भरतके दुर्भाग्यसे वनमें जा बसे हैं।' भरतने महर्षिके चरण पकड़े और रुदन करने लगे—'मुझे तो कैकेयीके अपराधका दण्ड-विधान करनेका भी अधिकार नहीं है। यह अधिकार भी उन्हींको है। आप आशीर्वाद दें कि वे भरतपर सानुकूल हों।'

'लेकिन भरत ! तब तुम ससैन्य श्रीरामके पीछे क्यों जारहे हो ?' महर्षिने विना किसी दुर्भावके पूछा ; लेकिन भरत इस प्रश्नसे ही छटपटा उठे।

'आप-से सर्वज्ञ भी यदि इस अधमपर सन्देह करते हैं तो भरत कहींका नहीं रहा।' क्रन्दन करके मस्तक महर्षिके चरणोंपर रखा भरतने—'यह दण्ड तो इसको आप मत दीजिये।'

'वत्स ! विषाद मत करो। मैं जानता हूँ कि तुम निष्पाप हो। श्रीरामके पदोंमें तुम्हारी परम प्रीति है। मैंने सन्देहके कारण नहीं, प्रयोजन जाननेको ही प्रश्न किया था। श्रीराम वनमें हैं। इतनी बड़ी सेना वहाँ असुविधा नहीं उत्पन्न करेगी ?' भरद्वाजने उठाकर भरतको हृदयसे लगाया—'तुम्हारा दर्शन करके तो भरद्वाज परिपूर्ण हुआ। इसके समस्त साधनोंका फल-परिपाक उस दिन इसे प्राप्त होगया, जिस दिन श्रीसीताराम इसके आश्रम पधारे। जिस दिन उन आनन्द-कन्द परिपूर्णका साक्षात्कार प्राप्त हुआ, और भरत ! अब तुम्हारा दर्शन करके तो वह पूर्णता परिपूर्ण होगयी। भरद्वाजका प्रयाग निवास आज सर्वाङ्ग सफल हुआ।'

'तुम्हारे कुलगुरु मेरे पूज्य हैं। उनकी नन्दिनीकी समता नहीं है; किन्तु एक होमधेनु भरद्वाजके समीप भी है। वह कामदुधा, कामवर्षिणी न होती—भरद्वाज सहस्रों ऋषि-मुनि साधकोंको अपने आश्रममें आश्रय दे पाता ?' महर्षिने अत्यन्त आग्रह पूर्वक कहा—'अतः वत्स भरत ! तुम विना किसी सङ्कोचके अपने पूरे समाजको यहाँ ले आओ। आज मुझे सबके आतिथ्यका अवसर दो। सब श्रीरामके हैं, भरद्वाज सबका सत्कार करके पवित्र हो। अब सूर्यास्त समीप है। श्रीराम चित्रकूट हैं। तुम कल प्रातः प्रस्थान करना।'

भरतको अत्यन्त सङ्कोचके साथ यह अनुरोध स्वीकार करना पड़ा। वे जब भाईके साथ सबको लेने गये, महर्षि भरद्वाज अपनी अग्निशालामें जा बैठे। उन्हें अपनी कामधेनुकी शक्तिसे ही सन्तोष नहीं हुआ। आचमन करके उन्होंने सिद्धियों-का, लोकपालों, गन्धर्वों, अप्सराओंका तथा देवशिल्पी विश्वकर्माके साथ देवराज इन्द्रका आह्वान किया। सबके प्रकट होनेपर प्रार्थना की—'आज रात्रिभरके लिए अमरावतीका वैभव भरतके सत्कारमें सार्थक होने दें।'

'हम अपनी पूरी शक्तिसे प्रयत्न करेंगे।' सुरेन्द्रने आश्वासन दिया। सिद्धियों, गन्धर्वों, अप्सराओंने कहा—'अमरावतीके लिए भी जो स्वप्न ही रहे, वह वैभव, सुख यहाँ आज मूर्त होगा।'

महर्षि वशिष्ठको भरद्वाजने आनेपर अर्घ्य दिया। उनकी अर्चा की। महर्षि तथा विप्रवर्गको उद्वेग हो ऐसी कोई व्यवस्था अभीष्ट नहीं थी। उनके लिए जैसे जनलोक—ऋषिलोक आविर्भूत होगया। माताओंके भी अनुकूल व्यवस्था व्यक्त हुई। शेष सबके लिए—पशुओं तकके लिए भी समस्त स्वर्गीय भोग, पृथक-पृथक सदन प्रकट होगये।

'रामका मङ्गल हो ! भरतका मङ्गल हो !' दुर्बल मन कुछ सेवकादि भी थे। वे नाचने, गाने, भोजनादि भोगोंमें मत्त होगये तो क्या आश्चर्य। मत्त तो होगये प्रायः सभी सामान्य नागरिक। अयोध्या विस्मृत होगयी। वन जाना है, यह भूल गया। वे वहीं रह जानेकी कामना करने लगे। उन्हें सद्बुद्धि, सावधानी तो तब प्राप्त हुई जब प्रातः वे सब भवन तथा वैभव अदृश्य होगये। उन्होंने अपनेको आश्रममें पाया।

'रात्रि सुखसे व्यतीत हुई ?' महर्षि भरद्वाजने प्रातः भरतसे पूछा।

'आपके अनुग्रहसे सब तृप्त होगये। सबकी श्रान्ति दूर होगयी।' भाईके साथ भरत, ऋषिगण और माताएँ रात्रिमें भोगोंसे तटस्थ ही रही थीं। श्रीरामके स्मरणमें ये लगे रहे थे। माताओंने भी प्रणाम किया। भरतने कहा—'अब आप चित्रकूट जानेकी अनुमति और आशीर्वाद दें।'

'वत्स भरत ! अपनी जननीको दोष मत देना।' विदा करते समय महर्षिने कहा—'रामके वन जानेसे जगतका बहुत बड़ा मङ्गल तथा देवताओंका हित होने वाला है। देवि कैकेयी उसमें निमित्त बनीं ; अतः वन्दनीया हैं।'

वन-पथ

अग्रचर दलको आदेश था—'किसी भी जनपदके लोगोंको कष्ट न हो, इस प्रकारका मार्ग निर्धारण करना। ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंके समीप मार्ग-निर्माण नहीं करना है। वहाँ वनमें मुनियोंके लिए फल, कन्द, कुश, समिधाएँ सुलभ रहनी चाहिए। अतः प्रयागके पश्चात् यमुना-पार जहाँसे आश्रम मिलने प्रारम्भ हों–तुम लोगोंको वहीं रुककर प्रतीक्षा करना चाहिए। आगे तुम्हारा कार्य आश्रमोंके तपस्वियोंको उद्विग्न कर सकता है।'

एक भय और था इस आदेशके पीछे। अग्रचर दलका कार्य श्रीरामको भरतके आगमनकी सूचना दे सकता था। कोई भी ऋषि-मुनि श्रीरामके समीप जाकर बतला सकते थे। भरतका कहना था—'मेरे स्वामी सङ्कोचीनाथ हैं। वे मेरे आनेका समाचार पाकर कहीं दूसरे वनमें चले जा सकते हैं। वे सोच सकते हैं कि अयोध्यासे आये लोग उनको लौटानेका आग्रह करके सङ्कोचमें डालेंगे।'

निषादराज गुह रात्रिमें भरद्वाजजीके आश्रममें नहीं रहे थे। वे पूरी रात्रि प्रयागके यमुनातटकी निषाद-पल्लीमें व्यस्त रहे थे। उन्होंने यमुना तथा गङ्गाके भी दूर-दूरके घाटोंकी सब नौकाएँ सन्देश भेजकर वहीं एकत्र करली थीं।

महर्षि भरद्वाजके आश्रमसे ब्रह्ममुहूर्तमें विदा होकर भरत चले, तब महर्षि त्रिवेणी-तट तक साथ ही आये। सबने त्रिवेणी-स्नान करके वहीं सन्ध्या तर्पण किया। वहाँ भरद्वाजजीसे विदा होकर यमुना किनारे कुछ दूर पश्चिम जाना था। यमुना तटपर ही निषादराज मिले। उन्होंने इतनी नौकाएँ एकत्र कर ली थीं कि भरतका पूरा समाज एक ही खेवेमें यमुना पार होगया।

'सखे! इस पथमें बहुत कम ग्राम मिल रहे हैं।' सबसे पहिले शत्रुघ्नका ध्यान इस ओर गया—'बहुत दूर चलनेपर थोड़ेसे झोंपड़ोंका समूह मिलता है और वह भी निर्जन। आर्यने अग्रचर दलको अरण्यवासीजनोंको उद्विग्न न करने-का आदेश दिया था।'

'हम निषादोंने सरिताओंके तटपर स्थिर निवास बना लिया, किन्तु, निषादराज गुहने कहा—'हमारी उप शाखाके कोल-किरात, भील अरण्यवासी बने

रहे। इन वन्यजातिके लोगोंको भूमिका मोह नहीं बाँधता। जब तक जहाँ जल, फल, कन्द, तृणादिकी सुविधा रहे, रहते हैं, और किञ्चित् भी कारण हो नेपर तृण कुटीरोंको त्यागकर अन्यत्र जा बसनेमें उन्हें विलम्ब नहीं होता।'

'इस ओरके उन सरल अरण्यवासियोंको उटज त्यागका कोई निमित्त अभी उपलब्ध हुआ?' यह सूनी झोंपड़ियोंको देखकर स्पष्ट लगता था कि उन्हें उनके निवासी निकटके दिनोंमें ही छोड़ गये हैं। वे उटज टूटे नहीं थे। उनमें कोई वन-पशु वास करते नहीं मिले। अनेकोंमें चूल्हे तक सुरक्षित दीखते थे। अवश्य ही उनमें किसीका भी द्वार टटियासे रुद्ध नहीं था।

'निमित्त तो आपके अग्रज गुण धाम श्रीराम ही थे। वे इधरसे ही वन गये थे।' निषाराजने कहा—'उनके समीप निवासका सौभाग्य प्राप्त होता हो तो सुरेन्द्र अपना अमरधाम त्यागकर अरण्यवासी होनेको उत्सुक हो उठेंगे। इन वन-वासियोंके समीप ऐसा क्या था जो रामके समीप जा बसनेसे उन्हें रोकता? श्रीराम भी उन लोगोंको अपने समीपके काननमें जाकर उटज बनानेसे रोकते तो क्या कहकर रोकते?'

जब तक चित्रकूट समीप नहीं आगया, कोई अरण्यवासियोंका ग्राम ऐसा नहीं मिला जिसमें उसके निवासी भी रहते हों। सूने झोंपड़ोंके समूह और वे भी पर्याप्त दूरीपर मिलते गये। अग्रचर दलने ऐसे झोंपड़ोंके समीप ही भरतके समाज-के विश्रामकी व्यवस्था की थी; क्योंकि जलकी सुविधा वनमें प्राय: ऐसे स्थलोंपर ही थी।

लताएँ पुष्प गुच्छोंसे लदी झूम रही थीं। फलोंसे—पक्व फलोंसे वृक्ष झुके थे और उनके नीचेकी भूमि गिरे फलोंसे ढक रही थी; किन्तु भ्रमर, पक्षी तथा वन-पशुओंका नाम नहीं था। कोई कपि या एक गिलहरी तक तो नहीं दीखती थी। निर्जन—प्राणिहीन पड़ा था सम्पूर्ण वन-पथ।

'कुमार! जो भी चल सकते थे, जिन्हें भी प्रकृतिने चलनेकी शक्ति दी थी, सब श्रीरामके साथ लगे चले गये।' निषादराजने कहा—'केवल ये विचारे अचर विवश होकर रह गये हैं और अब ये अपनी छाया, पुष्प, पत्र, फल आदिसे आप सबका स्वागत करके कृतार्थ होना चाहते हैं।'

जब तक ग्राम पास-पास मिलते थे—तब तक तो यह भी होता था कि मध्य-

के किसी ग्रामके समीप श्रीसीतारामके विश्रामका कोई चिह्न न मिले ; किन्तु जैसे जैसे ग्रामोंकी दूरी बढ़ती गयी, प्रत्येक ग्रामके समीप ये विश्राम-स्थान प्राप्त होने लगे। इनका प्राप्त होना इतना सुनिश्चित होगया कि ग्राम दीखते ही उसके समीप जो भी सघन वृक्ष दीखता था, भरतके दलके लोग सीधे उसकी ओर दौड़ पड़ते थे।

इन ग्रामोंके—अब उजड़े झोंपड़ोंके समीप ही जल सुलभ था, अतः श्रीसीतारामने इनके समीप विश्राम किया था। सघन वृक्षोंके नीचे पत्र बिछे मिलते थे। उनपर कुसुमास्तरण दीखता था। भले वे पत्र और पुष्प अब सूख गये थे, उनका अंश वायुसे बिखर गया था ; किन्तु वे अपनी कथा कहनेको पर्याप्त थे। वहाँ पर्णपुटक मिलते थे। वे पर्णपुटक जिनमें ग्रामवासियोंने सम्भवतः श्रीसीतारामको जल, फल, कन्द आदि अर्पित किये थे।

वन्य थे ये ग्राम। इनके निवासियोंने श्रीसीताराम-लक्ष्मणके आतिथ्यका सौभाग्य पाया और अपने निवासियोंके द्वारा परित्यक्त होजानेपर भी इनके समीप भरतके समाजका आतिथ्य करनेको बहुत कुछ था। जल, शीतल छाया, पत्र, पुष्प, फल, कन्द, मूल तथा अनेक स्थानोंपर मक्खियोंसे त्यक्त मधु छत्रक अतिथियोंको आमन्त्रित कर रहे थे।

भाईके साथ भरत और उनका पूरा समाज इन ग्रामोंका आतिथ्य अनजाने स्वीकार करनेको विवश था। श्रीसीतारामके विश्राम-स्थानोंकी प्रदक्षिणा सबको करनी थी। सबको वहाँकी रज मस्तकसे लगानी थी। पशुओंके लिए तृण तथा मनुष्योंके लिए जल-फलादि सुलभ थे वहाँ। वह भाग्यवान मानता अपनेको जिसे ऐसे स्थानोंमें पड़ा कोई पर्णपुटक प्राप्त होजाता था।

भरतका दल शीघ्रता पूर्वक जारहा था। जहाँ श्रीरामके रात्रि-शयनके चिह्न—शयन साथरी भी मिली, वहाँ प्रणाम—दण्डवत प्रणाम, प्रदक्षिणा ही करना शक्य था। उन सब स्थानोंपर रात्रि-विश्राम भरतको नहीं करना था। भरतने केवल एक रात्रि-विश्राम किया मार्गमें और उनके अग्रचर दलने महर्षि वाल्मीकिके आश्रमसे पर्याप्त दूरीसे पथ-निर्माण किया था।

मार्गमें शत्रुघ्न सभीके आहार, जलपान तथा विश्रामकी व्यवस्थाका निरी-

क्षण करते चल रहे थे। अश्वों, गजों तथा सेवकोंको भी कोई असुविधा न हो, इसका उन्होंने भरपूर ध्यान रखा।

भरत-शत्रुघ्न और निषादराज गुह सबसे पीछे पैदल चलते रहे। वाहन स्वीकार करनेका सबका आग्रह व्यर्थ रहा। कुमार शत्रुघ्न प्रत्येक विश्राम स्थान-पर दूसरोंकी व्यवस्थामें व्यस्त होजाते थे। कुमारने कहीं भी अपने लिए विश्राम-की आवश्यकता ही नहीं मानी।

चित्रकूटमें चिन्ता

'आर्यपुत्र ! आज मैंने अत्यन्त अशुभ स्वप्न देखा है ।' श्रीवैदेहीने प्रातःकाल श्रीरामके सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर समीप बैठते ही कहा—'मैंने देखा कि जैसे भरत आये हैं । उन्होंने भी आपके समान जटाएँ बना ली हैं । वल्कल पहिने हैं । अत्यन्त म्लान वदन हैं । उनके साथ अयोध्याका पूरा समाज है ; किन्तु माताएँ श्वेतवस्त्रा, सौमंगल्य रहिता दीखीं । मैं उन्हें देखकर रो पड़ी । निद्रा भङ्ग हुई तो देखा, आर्यपुत्र स्नान करने जा रहे हैं ।'

'यह स्वप्न तो अच्छा नहीं है ।' श्रीराम गम्भीर होगये—'अवश्य कोई अशुभ समाचार आज मिलने वाला है ।'

अभी दिनका प्रथम प्रहर ही था । सन्ध्यादि करके श्रीराम भाई एवं भार्याके साथ वटवृक्षके नीचे वेदिकापर बैठ गये थे । समीपके ऋषि-मुनि अपना दैनिक कृत्य सम्पन्न करके आजाते हैं । मध्याह्न सन्ध्याका समय होने तक उनके साथ अध्यात्म चर्चा चलती है । उनमें से कोई आवे, इससे पूर्व ही श्रीराम वेदीपर पहुँच जाते हैं । आगतोंका स्वागत करनेको प्रस्तुत रहना चाहिए ।

चित्रकूटमें रहते अभी पूरे चालीस दिन भी नहीं हुए हैं । इस अवधिमें श्री रामने जनक-नन्दिनीको समीपके वन दिखला दिये हैं । वहाँ के शिखरोंसे परिचित-करा दिया है । श्रीविदेह-नन्दिनीने यहाँके पक्षियोंसे, मृगोंसे, दूसरे पशुओंसे मैत्री करली है । उन्होंने स्वामीसे पूछ-पूछकर वृक्षों, लताओंके बहुतसे नाम जान लिये हैं । पशु-पक्षियोंका नामकरण किया है । नाम लेकर पुकारते ही वृक्षपर बैठा पक्षी उनके करपर अथवा स्कन्धपर आ बैठता है तो प्रसन्न होकर वे स्वामीकी ओर सस्मित देखती हैं ।

'तू सवेरे ही क्षुधातुर होगया है?' मृग-शावक जब उनके वस्त्रका छोर मुखमें लेकर खींचने लगता है, वे जगन्माता स्नेहार्द्र उसके सिरपर हाथ फेरती उठ पड़ती हैं उसे तृण अथवा कोई मृदुल कन्द देने ।

शशक बहुत धृष्ट होगये हैं । श्रीवैदेही बैठी हों तो उनके अङ्कमें ही वे आ-बैठते हैं और तब गिलहरियाँ उनसे झगड़ने लगती हैं कि अम्बाकी क्रोड़ी उनके लिए सुरक्षित रहनी चाहिए ।

आनेको वाराह आते हैं, गवय आते हैं, ऋक्ष आते हैं। और केशरी भी आता है। गजोंका समूह आता है। कपि तो सदा आश्रमके वृक्षोंपर ही कूदते रहते हैं। किसीको प्रसाद चाहिए और कोई वनसे उपहार लिये आता है।

पशुओंके लिए क्या समय-असमय। पशु-पक्षी कहाँ समझते हैं कि उन्हें कब आना चाहिए। वे तो मुनि-मण्डलके मध्य भी आजाते हैं। बालकको माताके समीप पहुँचनेके लिए क्या समय पूछना पड़ता है ?

चतुर्थ प्रहरमें श्रीमैथिली लक्ष्मणको पुकार लेती हैं। उन्होंने जो तुलसी-वीरुध, पुष्प-पादप, लताएँ लगायी हैं—लक्ष्मणने भी लगायी हैं, उनके सिञ्चनका समय होता है यह। किसीमें नूतन पत्र या पुष्पकलिका दीख जाय तो श्रीवैदेही प्रसन्न होकर स्वामीको पुकारती हैं—'मेरी मल्लिका पुष्पवती होने वाली है ! देवरके इस तुलसी वीरुधमें मञ्जरी आरही है। मैं इससे आपका प्रातः शृङ्गार करूँगी।'

श्रीराम प्रसन्न होते हैं। सीता और लक्ष्मणकी प्रसन्नतामें योगदान करते हैं। समय-समयपर दोनोंको वन-भ्रमण करने ले जाते हैं। निर्झर, स्रोत, मुनियोंके आश्रम, नवीन तरु दिखलाते हैं। कभी पुराणोंकी कथा सुनाते हैं। कभी पक्षियों, पशुओं, कपियोंको पुकारकर बुलाते हैं और उनके साथ क्रीड़ा करके भाई तथा पत्नीको प्रसन्न करते हैं।

आजके दिनका आरम्भ ही उदासीसे हुआ। श्रीजानकीके स्वप्नको सुनकर मन हतोत्साह होगया। इसी समय लगभग सभी ओरसे पक्षी कोलाहल करते पहुँचे। दो क्षण पीछे ही मृग, वाराह, गज, केशरी भी दौड़ते आ पहुँचे। सब व्याकुल, सब भयभीत, सब मानो 'शरण ! शरण!' पुकारते हों—इस प्रकार आये और श्रीरामके समीप एकत्र होने लगे। वृक्षोंपर कपि, पक्षी और भूमिपर पशुओंका ठट्ठ लग गया। सब बार-बार पीछे देखते थे, पुकारते थे।

'लक्ष्मण ! क्या हुआ है वनमें ? ये पशु-पक्षी इतने भयातुर क्यों हैं ?' दृष्टि उठायी यह कहकर तो एक दिशामें धूलि उठती जान पड़ी—'यह धूलि ? यह महर्षि अत्रिके आश्रमके समीपका प्रदेश ऋषि-मुनियोंकी आश्रय स्थली है। इस आखेट-वर्जित प्रदेशमें कौन आतङ्क उत्पन्न कर रहा है ?'

'कोई राजकुमार आये हैं।' इसी समय वनके कोल-किरातोंमें से भी कुछ भागे आये—'उनके साथ गज, रथ, अश्व, पदाति लोगोंकी भारी सेना है।'

'आखेटके लिए चतुरंगिणी सेना अनावश्यक होती है।' श्रीराम गम्भीर होगये—'मुनि आश्रमोंके समीप विश्वास करने वाले पशुओंके वधका कुकृत्य करने-का कोई साहस भी करे तो अश्वारोहियोंका दल लेकर आवेगा वनमें रथों-गजोंके योग्य मार्ग मिलेगा उसे ? कोई राज्य दक्षिणमें दूरतक समीप नहीं, जिसपर आक्र-मण करने यह सैन्यदल उत्तरसे चला हो।'

'आर्य ! शीघ्र अग्नि बुझा देनेका आदेश दें इन वन्य मित्रोंको।' लक्ष्मण एक ऊँचे शालपर चढ़ गये थे। वहींसे चारों ओर देखकर उन्होंने पुकारा—'आप अम्बाको लेकर किसी सुरक्षित गिरि-गुफामें चले जायँ। ये किरात अवश्य कोई दुर्गम गुहा आपको बतला देंगे। चतुरंगिणी सेना लेकर भरत आये हैं। मैं कोविदार-ध्वज-रथको इधर बढ़ते देख रहा हूँ।'

'मैं अकेला ससैन्य सानुज भरतके लिए पर्याप्त हूँ !' लक्ष्मण बहुत शीघ्रतासे वृक्षपर से उतरे। क्रोधसे उनका शरीर काँप रहा था। मुख अत्यन्त लाल हो उठा था। नेत्रोंसे अङ्गार झड़ते लगते थे। धनुष चढ़ाते गर्जना की उन्होंने—'आपको वनमें एकाकी समझकर अपने राज्यको निष्कण्टक करनेकी सूझी है भरतको ? बहुत शीघ्रता की इन्होंने। आज इन्हें भी पता लगेगा कि लक्ष्मणके रोषका क्या अर्थ है। महर्षि कौशिकका दिव्यास्त्र-दान सफल हो ! मैं दोनों भाइयोंको आज अवश्य रण शैय्या दे दूँगा। विपक्षमें आयी सेनाका एक भी सैनिक सूर्यास्त देख सके आजका तो लक्ष्मण फिर धनुष नहीं धारण करेगा।'

'वत्स ! उत्तेजित नहीं होते।' श्रीरामने छोटे भाईको उठकर हृदयसे लगाया—'तुम्हारा शौर्य अचिन्त्य है ; किन्तु भरतको मैं जानता हूँ। त्रिलोकीका सब वैभव प्राप्त होनेपर भी उनमें प्रमाद, मद नहीं आवेगा। धनुष-बाण या खड्गका यहाँ क्या उपयोग ? लक्ष्मण, यदि महेष्वास भरत राज्य निष्कण्टक भी करने आये हों तो राम उन्हें हृदयसे लगाकर कभी अयोध्या न लौटनेका वचन दे देगा। भाइयों, स्वजनोंको दु:खी करके मुझे कोई सम्पत्ति नहीं चाहिए। तुम्हारे या भरतके लिए मैं प्राण भी त्याग सकता हूँ। तुम्हारे, भरत और शत्रुघ्नके विना मुझे सुख मिलता हो तो वह अभी भस्म होजाय। मेरे भाई, मेरे स्वज़न, मेरे आश्रित सुखी रहें, सन्तुष्ट रहें, रामका यही जीवन व्रत है।'

'लक्ष्मण ! सचमुच चिन्ताकी बात है। मैं भी पिताजीका कोविदारध्वज-रथ देख रहा हूँ ; किन्तु वह तो रुक गया लगता है। उसपर केवल सारथी है। कोई

रथी उसपर क्यों नहीं है ?' लक्ष्मण संकुचित होकर शान्त हुए तो श्रीराम कुछ ऊँचे स्थानपर उठकर जा खड़े हुए। वहांसे जो दीखा, उससे शिथिल पद वेदिका-पर आकर वे बैठ गये—'लगता है कि भरतने राज्य नहीं स्वीकार किया। इसीसे पिताजीका रथ, ध्वज भी नहीं अपनाया। यह रथ रिक्त आया है, इसका अर्थ ही है कि भरत इसपर रामको बैठाकर लौटा ले जाने आये हैं। बड़े सङ्कोचका अवसर आया लक्ष्मण !'

'आपके भाई भरत चतुरंगिणी सेना लेकर आये हैं।' शीघ्र ही वन्य लोगों-का अग्रणी आगया। बड़े आवेशमें आया वहाँ—'क्यों आये वे यहाँ ? इतनी विशाल सेना क्यों है उनके साथ ? स्वामी ! आप तक आपके विरुद्ध आने वाले दलका सन्देश लेकर मैं नहीं आता। हम कङ्गाल, क्रूर वनवासी हैं। कोई सेवा करने योग्य नहीं; किन्तु मृत्यु हमारी क्रीड़ा है। हममें से जब प्रत्येक समाप्त होजाता, तब आपको शत्रुके आनेका समाचार मिलता। हमारे विषबुझे वाण और भल्ल भी कुछ तो करते ही। लेकिन एक सन्देह मुझे यहाँ ले आया है। मैं अज्ञ हूँ, समझ नहीं पाता कि भरत जटा बढ़ाये, वल्कल पहिने आप जैसे वेशमें भाईके साथ पैदल क्यों आये हैं। हमारे अत्यन्त विश्वस्त नरेश निषादराज गुह भरतके साथ क्यों हैं ?'

'हमारे तरुण धनुष चढ़ाये वृक्षोंपर, लता-झुरमुटोंमें सन्नद्ध हैं।' उसने कर-बद्ध प्रार्थना की—'मुझे वहाँ जाकर आदेश नहीं देना पड़ेगा। एक किलकारी पर्याप्त होगी। आपका आदेश लेने आया हूँ। वह भी इस सन्देहके कारण।'

'भयका कोई कारण नहीं है।' श्रीरामने उठकर उसके कन्धेपर कर रखा—'तुम्हारे स्नेह, सख्य, सौहार्द्रके सहारे ही तो राम यहाँ अरण्यमें निश्चिन्त रहता है; किन्तु वे मुझे मनाने-लौटानेका यत्न करने आये हैं। वे हमारे अतिथि हैं। उनका सत्कार करना है मुझे और मेरे सभी अपने जनोंको।'

'हम अत्यन्त दरिद्र असभ्य लोग राजकुमारोंका—उनके लोगोंका सत्कार करने योग्य कहाँ हैं।' उसके नेत्र भर आये; 'किन्तु मैं फिर भी अपने लोगोंको सूचित कर रहा हूँ। हमसे जो कंद, मूल, फल, पत्र, दल, अंकुरकी सेवा बन सकेगी, हम करेंगे। उन्हें पशुओंके लिए तृण तथा इंधन अवश्य चाहिए और किरात इतनी ही सेवा तो कर सकता है।'

वहीं दोनों हाथ मुखसे लगाकर अद्‌भुत उच्चस्वरमें उसने किलकारी मारनी प्रारम्भ की। चारों ओर घूम-घूमकर वह शब्द करता रहा। गूँजती रही उसकी किलकारी और जब सहसा समीपका लगभग सम्पूर्ण कानन वैसी ही किलकारीकी ध्वनियोंसे गूंजने लगा, वह सन्तुष्ट होगया। उसने मुखसे हाथ हटाया और श्रीराम-के चरणोंमें प्रणाम करके जब विदा हुआ, वहाँ पहिले आये कोल-किरात भी हँसते, सुप्रसन्न उसके साथ चले गये।

वनके सब प्राणियोंमें एक अन-कहा परिचय होता है। वे एक दूसरेको जानते समझते हैं। वे आहारके लिए किसीका आखेट भले करलें, पर उनमें परस्पर सहानुभूति भी कम नहीं होती। वनमें गूँजती कोल-किरातोंकी वह किलकारी भयातुर भागे आये पशु-पक्षियोंने भी सुनी और वे प्रसन्न होगये। उनका भय समाप्त होगया। वे कोल-किरातोंसे भी पहिले वहाँसे बिखर गये। दो क्षणमें तो वहाँ कोई पक्षी या पशु देखनेको भी नहीं रह गया। सब जैसे एक साथ भागे आये थे, सब एक साथ भर्रसे चारों ओर उड़ गये या दौड़ गये।

श्रीरामने अब भाईकी ओर देखा और स्नेहपूर्वक बैठाया। अब मुनि-मण्डल-के लोग भी आने लगे। श्रीसीता-राम, लक्ष्मण उन्हें प्रणाम करके सादर उसी वेदिकापर आसन देने लगे।

भरत भेंट

अचानक वन किलकारियोंसे गूँजने लगा। ये किलकारियाँ समीपके वृक्षों, लता-कुञ्जोंसे अधिक आ रही थीं। भरतने चौंककर निषादराजकी ओर देखा — 'यह क्या है ? इन वृक्ष-लताओंमें कौन हैं ? क्या चाहते हैं वे ?'

'सब आपके सेवक हैं।' निषादराजने हँसकर कहा—'यह हमारी वन्य शाखाकी सङ्केत ध्वनि है। यह सङ्केत है कि आपका आदरपूर्वक सत्कार करना है।'

'अर्थात् ?' भरतने अब भी कुछ नहीं समझा। शत्रुघ्नने अधरसे लगाते लगाते शंखका हाथ नीचा कर लिया था। वे सैनिकोंको सबकी सुरक्षाके सम्बन्धमें सतर्क करने जा रहे थे।

'मैं आरम्भमें सतर्क नहीं था; किन्तु बहुत शीघ्र स्थिति समझ गया था। आपको सूचित करनेका प्रयोजन नहीं था।' निषादराजने अब कहा—'मार्गमें जो स्थान-स्थानपर सूने झोंपड़े मिले थे, उनके लोग श्रीरामके आस-पास ही बसे होंगे, यह हम सबने समझ लिया था। उनको श्रीसीतारामकी सेवा-सुरक्षा प्रिय न होती तो यहाँ क्यों आते ? हम वनवासियोंमें मनको भाँप लेनेकी एक विचित्र शक्ति होती है। जैसे मैं सतर्क हुआ, मेरी अभ्यस्त आँखोंने वृक्षोंकी डालियोंमें, लताओंमें धनुष चढ़ाये छिपे किरात तरुणोंको देख लिया।'

'हमको तो तनिक भी सन्देह नहीं हुआ।' शत्रुघ्नने कहा।

'हमारे वन्य तरुण ऐसे निःशब्द, बिना हिले बहुत देर तक स्थिर रह सकते हैं। उनकी उपस्थितिका पता वनपशुओंको भी नहीं लगता।' निषादराजने बतलाया — 'मैं समझ गया कि आपकी सेनाको देखकर शृंगबेरपुरमें मुझे जो भ्रम हो-गया था, उसी भ्रमने यहाँ भी यह शस्त्र-सज्जा करायी है। इसकी मुझे आशङ्का थी। अतः मैं आपका साथ वनमें क्षणभरको भी छोड़ना नहीं चाहता था।'

'वे मेरे आराध्य अग्रजके अनुग्रह भाजन हैं। भरतने अश्रुभरे नेत्र कहा—'उनके वाणोंसे भरतको सद्गति प्राप्त होजाती। क्यों उन्होंने यह कार्पण्य किया ?'

'राजकुमार ! हम असभ्य लोगोंमें परस्पर अविश्वास या विश्वासघात सम्भव नहीं है ।' निषादराजने गर्वसे मस्तक उठाया—'मैं इन सब जातियोंका प्रमुख हूँ । श्रीरामके प्रति अतिशय प्रेमके कारण मुझपर वे सन्देह करते भी तो किसी संकेतके द्वारा मुझे पृथक बुलाकर स्पष्टीकरण चाहते । अपनोंपर अचानक आघात हम लोगोंके स्वभावमें नहीं है । मैं साथ था, अतः आप दोनों सुरक्षित थे ।'

'लगता है कि मेरे स्थानपर उन्होंने आपके अग्रजसे ही स्पष्टीकरण प्राप्त कर लिया है ।' निषादराज अब सन्तुष्ट थे—'उनकी यह किलकारी तो आपका सत्कार करनेका सन्देश साथियोंको दे रही है ।'

इतनेमें तो वृक्षोंपरसे, लताओंसे शत-शत तरुण प्रकट होगये । कज्जल कृष्णवर्ण, कठोर काया, केवल कटिमें कौपीन, केशोंमें पक्षियोंके पंख, गलेमें गंजा, प्रवाल, कौड़ियोंकी माला । सबकी पीठपर त्रोण, करोंमें धनुष और भल्ल । सबने प्रायः भूमिमें मस्तक रखकर दूरसे ही भरत-शत्रुघ्नको तथा निषादराजको प्रणाम किया और वनमें भाग गये ।

'ये लोग ?' भरत अभी चकित खड़े थे ।

'इन्हें आपका—आपकी सेनाका सत्कार करना है ।' गुहने कहा—'हमारी सम्पत्ति तो अरण्य है । ये पत्र, पुष्प, कन्द, फल, काष्ठ, तृण, मधुछत्रक प्रभृति जो पा सकेंगे लेकर शिविरमें उपस्थित होंगे ।'

× × × ×

चित्रकूटके समीप पहुँचकर भरतने सबको रोक दिया—'सब लोग यहीं शान्त बैठें । हम वनमें अग्रजका स्थान ढूंढ़ते हैं ।'

भरत-शत्रुघ्न, महर्षि वशिष्ठ, मन्त्री सुमन्त्र और निषाराज गुह वनमें प्रविष्ट हुए ; किन्तु वनकी सघनता देखकर भरतने सुमन्त्र तथा कुलगुरुको प्रार्थना करके लौटा दिया—'आप दोनों माताओंके समीप विराजें ! अग्रजका उटज मिल जानेपर आप सबको हम वहाँ ले जायँगे ।'

स्थान निषादराजने अवश्य देखा था ; किन्तु यहाँ पहुँचकर वे ऐसे भाव-विह्वल होगये थे कि उन्हें स्थान भूल गया । वे केवल इतना स्मरण रख सके थे—'मन्दाकिनीके तटपर श्रीरामकी पर्णकुटी है ।'

मन्दाकिनी तटपर पहुँचनेसे पूर्व ही धुआँ उठता दीखा वनमें। शत्रुघ्नने संकेत किया—'वहाँ अवश्य मनुष्योंका आवास होना चाहिए।'

इधर-उधर वल्कल एवं मृगचर्म सूखते दीखे। मन्दाकिनीपर स्नान, सन्ध्यादि करके लौटते एक तपस्वी मिल गये। उनसे पूछा तो उन्होंने दिशा-संकेत किया। कुछ पद और चलनेपर गुहने वृक्षोंमें बँधे कुश देख लिये। ये मार्ग पहिचाने रहनेके लिए लक्ष्मणने बाँधे थे।

आम्र, कटहल, केलेके वृक्षोंका सघन कुञ्ज था। उनके मध्यमें वटवृक्ष देखते ही निषादराजने कहा—'श्रीरामकी पर्णकुटी उसी वृक्षके नीचे है।'

भरत पीछेकी ओरसे पर्णकुटी तक पहुँचे थें। उस सघन कुञ्जमें भी जहाँ तहाँ वल्कल सूख रहे थे। कुटीमें पीछेकी ओर शुष्क काष्ठ, हरिण तथा वन्य भैंसों के सूखे कण्डोंकी ढेरी थी। गुहने बतलाया—'यह संग्रह यहाँ वन्य कोल-किरातोंने किया होगा। वर्षामें सूखा ईंधन मिलना कठिन होता है और शीतकालमें अग्नि प्रज्वलित रखना आवश्यक होता है। वनवासी जातियोंको इस प्रकारका संग्रह अत्यन्त आवश्यक लगता है।'

श्रीरामकी कुटी पूर्ब-पश्चिम लम्बी थी। उसका द्वार उत्तर दिशामें था। उसके सम्मुख थोड़ा पश्चिम हटकर लक्ष्मणकी छोटी पर्णकुटी थी। यह उत्तर दक्षिण लम्बी थी और इसका द्वार पूर्वाभिमुख था। इसकी स्थितिके कारण श्रीरामकी पर्णकुटीके सम्मुख एक प्रशस्त प्राङ्गण बन गया था।

भरत-शत्रुघ्न गुहके साथ कुटियोंको दाहिने करके पीछेकी ओरसे आगे आरहे थे। भूमिपर दृष्टि लगाये भरतको यव, वज्र, अंकुश, कमल चिह्नोंवाला चरणचिह्न दीख गया—'ये आर्यके चरणचिह्न हैं!'

भरतने भाईको दिखलाया और दोनोंने वहाँ भूमिमें लेटकर दण्डवत किया। वह पद-धूलि मस्तकपर लगाया।

'आज मैं अपने महर्षि तुल्य अग्रजके दर्शन करूंगा! मन्दाकिनी तटपर कुशासनपर वीरासनसे बैठे श्रीरामके मुझे आज दर्शन होंगे।' भरत बार-बार मार्गमें विह्वल स्वर कहते आये थे—'आज श्रीसींताराम और लक्ष्मणके चरणोंका भी स्पर्श मुझे प्राप्त होगा।'

भाईके साथ भरत कुटीको दाहिने करते सम्मुखकी ओर आये तो निषाद-राजने संकेत किया। वट वृक्षके नीचे वेदिकापर ऋषि-मुनियोंके समूहके मध्य कुशके आसनपर सिंहस्कन्ध, इन्दीवर सुन्दर, जटाधारी, वल्कल वसन, कृष्णाजिनोत्तरीय श्रीराम सीताके साथ ऐसे विराजमान थे जैसे ब्रह्मलोकमें अपने तपस्वी पुत्रोंके मध्य स्वयं सृष्टिकर्ता बैठे हों।

श्रीरामका मुख मन्दाकिनीकी ओर था। लक्ष्मण सामने बैठे थे और श्रीराम उनको कोई उपदेश कर रहे थे। मुनिगण शान्त श्रवण कर रहे थे। भरत दौड़े—'मेरे नाथ! मेरी रक्षा करो! मुझे अपनाओ मेरे स्वामी! इस अधमको क्षमा करो आर्य!'

भरत दौड़कर भूमिमें प्रणाम करते गिरे। लक्ष्मणका मुख इसी ओर था। उन्होंने भूमिपर मस्तक रखकर निवेदन किया—'आर्य! आपको भाई भरत प्रणाम कर रहे हैं।'

श्रीराम आतुर होकर उठे। धनुष गिरा, त्रोण गिरा, दक्षिण करका वाण गिरा और उत्तरीय बना कृष्णमृगचर्म छूट गिरा। श्रीरामने दौड़कर बलपूर्वक भाईको उठाकर हृदयसे लगाया। दोनों पुलक पूरित गात्र, दोनोंके नेत्रोंसे चलती अश्रुधार। स्तब्ध रह गये देखनेवाले वनवासी मुनिगण। वायुकी गति भी स्तब्ध रह गयी।

शत्रुघ्न दौड़कर श्रीरामके चरणोंपर जब गिरे और श्रीरामने उन्हें उठाकर हृदयसे लगाया, भरत दौड़े और श्रीजनक-नन्दिनीके सम्मुख दण्डवत गिरे—'अम्ब! इस अधम अपराधीको आप क्षमा करें!'

श्रीवैदेहीने स्नेहपूर्वक मस्तकपर कर रखकर कहा—'देवर! आप धैर्य रखें!'

निषादराज गुह जब दण्डवत करके श्रीरामका आलिंगन प्राप्त कर रहे थे, शत्रुघ्न श्रीमैथिलीको प्रणाम कर रहे थे और अपने चरणोंमें झुकते लक्ष्मणको भरतने हृदयसे लगा लिया था—'तात! तुम धन्य हो। वयमें मुझसे छोटे होकर भी मेरे वन्दनीय होगये हो!'

श्रीरामने पुनः आकर भरतको हृदयसे लगाया। समीप बैठाया वेदीपर

और इस प्रकार देखने लगे जैसे भरतको कभी देखा न हो या युगोंके पश्चात् देखा हो। अश्रु झर रहे थे कमल दृगोंसे, शरीर पुलकित होरहा था। स्वर स्पष्ट नहीं होरहा था--'भरत ! तुम्हारा इतना विवर्ण मुख ! तुम तो पहिचाने ही नहीं जा रहे हो।'

'पिताजी कहाँ हैं ? कैसे हैं ?' अपने जटामुकुटी भाईके शरीरको, उस शरीरपर पहिने गये वल्कलको स्पर्श करके व्याकुल श्रीराम पूछने लगे—'तुम इस वेशमें ? तुम वनमें कैसे ? पिताजीके रहते तुम वनमें कैसे आसके ? कहीं उदार विक्रम, सत्यशील पिता सुरधाम तो नहीं सिधारे ? तुमने उन शोक जर्जर वृद्ध पिताकी सेवा तो की ? मेरी माता कौशल्या और सुमित्रा स्वस्थ तो हैं ? राज्य आक्रान्त तो नहीं हुआ ?'

'देवी कैकेयी सुखी, सुप्रसन्न हैं ?' श्रीराम पूछते ही जा रहे थे और भरत, शत्रुघ्न, निषादराज भी मस्तक झुकाये रुदन कर रहे थे—'ब्राह्मण, देवता तथा प्रजा प्रसन्न तो है ? तुम कुलगुरुका, उनके प्रमुख शिष्य सुधर्माका सम्मान तो करते हो ? अब तो सुधर्माजी गुरुपुत्र होगये हैं हमारे। तुमने धर्मज्ञ, विद्वान, योग्य मन्त्री तो बनाये हैं ? समयसे शयन-जागरणका नियम रखकर तुम अप्रमत्त तो रहते हो ? तुम वन कैसे आये भाई ?'

'मैं तो अधम हूँ। धर्मच्युत हूँ मैं। मैं क्या राज्य-पालन करने योग्य हूँ ?' भरतने अग्रजके चरण पकड़ लिये—'धर्मात्माओंका कुल है हमारा इक्ष्वाकु कुल, इस कुलका परम्परागत धर्म है कि इसमें बड़ा भाई सिंहासनका अधिकारी होता है। अब आप चलकर अपना अभिषेक करावें। आप ही मेरे पिता हैं। पिताने तो भरतको अन्तिम प्रणाम निवेदनका अधिकारी भी नहीं माना। भरतको मातामहके यहाँसे आकर केवल उनका शरीर मिला अन्त्येष्टि करनेके लिए।'

'पिताका शरीर नहीं रहा' यह सुनते ही श्रीराम व्याकुल होकर क्रन्दन करने लगे। लक्ष्मण, श्रीजानकी, भरत-शत्रुघ्न तथा गुह भी व्याकुल होगये। इस अतिशय व्याकुलतामें निषादराज गुह पहिले सावधान हुए। उन्होंने धैर्य धारण करके हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'आपके कुलगुरु, महामन्त्री और तीनों माताएँ अयोध्याके समाजके साथ यहाँ पधारी हैं।'

'कहाँ हैं वे ?' श्रीराम उठ खड़े हुए। उन्होंने मुड़कर सबसे छोटे भाईकी

ओर देखा—'शत्रुघ्न तुम यहीं अपनी भाभीके समीप रहो। हम जाकर सबको यहीं ले आते हैं।'

श्रीराम-लक्ष्मण भरत और निषादराज शीघ्रगतिसे चल पड़े। वहाँ उपस्थित मुनिगणोंने भी अब अपने आश्रमोंपर जाना उचित समझा।

श्रीजानकीके चरणोंके समीप बैठकर शिशुके समान क्रन्दन करते शत्रुघ्न उन्हें कैकयसे प्रस्थानसे प्रारम्भ करके चित्रकूट पहुँचने तकका समाचार सुनाते रहे और वे करुणामयी जनकजा सिर झुकाये अश्रु-विमोचन करती रहीं।

चित्रकूटकी मन्त्रणा

अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठके चरणोंमें राम-लक्ष्मण प्रणत होकर उठे। माताओंका विधवावेश देखकर वे कमल लोचन फूट-फूटकर रोये, माताओंने इस प्रकार हृदयसे लगाया—जैसे तत्काल दिये बछड़ेको गाय उमंगसे उमड़कर सूंघती हो।

सबको लेकर श्रीराम अपनी कुटियाके समीप आये। वहाँ मन्दाकिनीके तटपर सबने स्नान किया। श्रीजनक-नन्दिनीने आकर जब सासुओंके चरणोंमें मस्तक रखा, सबने उन्हें हृदयसे लगाया। आशीर्वाद दिया। इतना शोक, इतना क्रन्दन जैसे श्रीचक्रवर्ती महाराजका आज ही शरीर छूटा हो।

पुरुष जो आहार स्वयं करता है, वही अपने देवता पितरोंको अर्पित करे, यह विधान भी विवेककी अपेक्षा करता है। भूमिके भीतर उत्पन्न कोई कन्द या मूल पितृ-तर्पणमें प्रयुक्त होने योग्य नहीं है। कोई अंकुर विहित नहीं है। कोई अन्न श्रीराम लेते नहीं थे, अतः उसका उपयोग नहीं कर सकते थे। दुर्दैव ऐसा कि वृक्ष सब फले थे, उनमें फल थे ; किन्तु अधपके फल मनुष्यको चाहे जितने सुस्वादु लगें, किञ्चित भी अपरिपक्व हों तो वे फल पितृ-पूजनमें काम नहीं आते। श्रीराम-लक्ष्मणने सचैल स्नान करके पिताको तिलोदक देकर तर्पण किया।'

'स्वामी! स्वर्गीय पिताजीका सबसे अधिक प्रेम आपसे था। आपका स्मरण करते, आपके दर्शनोंकी इच्छा लेकर, आपमें आसक्तमना उन्होंने देह त्याग किया है।' रोते-रोते भरतने प्रार्थना की—'अतः जब आप उनका श्राद्ध करेंगे, तब उन्हें वास्तविक तृप्ति प्राप्त होगी।'

पिताका उत्तराधिकार नियमतः उसका श्राद्ध करने वाले पुत्रको प्राप्त होता है—वही प्रधान अधिकारी है। भरत यह बाधा मिटा देना चाहते थे। श्रीरामने कुलगुरुकी ओर देखा तो महर्षिने भरतका समर्थन कर दिया।

पितरोंके लिए पिण्ड पत्नीको बनाना चाहिए। सीताजीने लक्ष्मणको सुपक्व-फल लानेको कहा। वे इंगुदी और पिण्याक (पयाल) ले आये। उनके गूदेमें मधु मिलाकर श्रीवैदेहीने जैसे तैसे एक करसे अत्यन्त सङ्कोच पूर्वक पिण्ड निर्मित किये।

रेणु-वेदिकापर कुशास्तरण करके अपसव्य यज्ञोपवीती, पातित वाम जानु श्रीराम जब दक्षिण करके अंगुष्ठ-तर्जनी मध्य स्थित पितृतीर्थसे पिण्डदान करने लगे, माताओंने रोते-रोते दोनों हाथोंमें मुख छिपा लिया—'हाय ! स्वर्गीय महाराजको ये कटु-कषाय फलोंके पिण्ड अपने ज्येष्ठ पुत्रके करसे ग्रहण करने हैं।'

पिण्डोंके ऊपर वल्कलास्तरण हुआ वस्त्रके स्थानपर। उनका पूजन करके, उनपर कुशास्तरण, दुग्ध एवं जल तर्पण, प्रार्थनाके पश्चात् तीर्थ-जलमें पिण्डोंका विसर्जन करके यह श्राद्ध कर्म सम्पूर्ण हुआ।

आज पिताकी मृत्युका समाचार मिला था, अतः श्रीराम लक्ष्मण तथा सीताको तो जल भी ग्रहण नहीं करना था। अन्त्येष्टि होजानेके अनन्तर जब किसी स्वजनकी मृत्युका सम्वाद मिलता है तो एक दिनका मृत्-सूतक होता है। अयोध्याके आये लोगोंकी चर्चा क्यों की जाय, उस दिन तो चित्रकूटके पशु-पक्षियों तकने शोक मनाया। उन्होंने भी जल ग्रहण नहीं किया।

वनवासी मानव, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता-तृण सब जैसे रोते हों। सर्वत्र उदासी। न भ्रमरकी गुञ्जार, न पक्षियोंका शब्द। वायु भी सांयँ-सांयँ करता मानो रोता बहता हो। श्रीराम-लक्ष्मण स्वजनोंसे घिरे बैठे थे और सीताको माताओंने अपने मध्य कर लिया था। सर्वत्र रुदन, सर्वत्र चक्रवर्ती महाराजके पराक्रम, औदार्य, सत्यशीलत्व एवं राम-प्रेमकी चर्चा। सर्वत्र रुदन, क्रन्दन। सम्पूर्ण दिन और पूरी रात्रि लोगोंने बैठे-बैठे, सिसकते, हिचकियाँ लेते व्यतीत की। यह तो दूसरे दिन अयोध्याके लोगोंको पता लगा कि अरण्यके कोल-किरातोंने उनके अश्वों, गजोंके सम्मुख पर्याप्त तृण डाले थे। पशुओंने तृणमें मुख भी नहीं लगाया, यह देखकर वे भोले वन्य मानव मुख दबाकर दूर भाग गये। वे अपने भीतरका रुदन 'हू-हू' करके ही प्रकट कर सकते थे और इसके लिए उन्हें एकान्त अपेक्षित था।

दूसरे दिन प्रातःकाल भाइयोंके साथ श्रीरामने स्नान किया। चारों भाइयों-ने एक साथ पुनः पिताको अञ्जलि दी। नित्य कर्म समाप्त करके श्रीराम अपनी पर्णशालाके सम्मुख न आकर सीधे गुरुदेवके आवास शिविरपर पहुँचे—'प्रभो ! कल पूरा समाज निरम्बु रहा है !'

'राम ! यहाँ तुम्हारे समीप कोई अन्नाहार करे, यह तो उचित नहीं है और कोई चाहे तो भी अन्न कण्ठसे नीचे नहीं उतरेगा। तुम्हीं सबके परम प्रिय हो। तुम्हारा जो आहार है, वही सबका आहार रहेगा।' महर्षिने सप्रेम श्रीरामको विदा किया—'तुम आश्रम जाकर कुछ ग्रहण करो तो दूसरे भी ग्रहण करेंगे।'

बनवासियोंने कल पूरे वनमें कन्द, मूल, अंकुर, फल, मधु आदि संग्रह किया था। अयोध्याके लोगोंका रुदन उनसे देखा नहीं जाता था। अपनेको व्यस्त रखना ही उपाय था। वे टोकरियाँ भरे ले आये। यह आतिथ्य उन तक ही कहाँ सीमित था। उनके लौटनेसे पहिले ही वाराहों, ऋक्षों, गजों, कपियों आदिके दलको आजाना था।

'यह मूल बहुत देर तक तृषा नहीं लगने देता। ये मधुर अंकुर खा लिये जायँ तो दिन भर तृप्ति बनी रहती है।' वनवासियोंको दौड़ादौड़ करनी पड़ी। उनकी संख्या भी कम नहीं थी। अयोध्याके शिविरोंमें जहाँ भी, जिस शिविरके समीप भी उन्हें अपने लोग कम दीखते थे, दूसरे वहीं दौड़ जाते थे। वे अपनी टोकरियाँ उलट देते थे और अपने लाये पदार्थोंका प्रभाव बतलाने लगते थे—'यह बलवर्धक कन्द है। यह मूल कठिनाईसे मिलता है। इसके आहारसे शरीर श्रान्त नहीं होता।'

'हम इन धातुके टुकड़ोंका, चमकते पत्थरोंका क्या करेंगे ? हमारी पर्णकुटी बहुत छोटी है। उसमें कोई व्यर्थ वस्तु नहीं रखी जा सकती। ये वस्त्र, ये आभूषण हमारे योग्य नहीं हैं। हमें वन-वन भटकना रहता है।' उपहार लाने वाले लोगोंमें वृद्ध थे, तरुण थे, बालक थे, स्त्रियाँ थीं, बालिकाएँ थीं, वे अपने स्वजनोंको पुकार लेते थे दौड़ते देखकर। उनमें कोई विनिमयमें कुछ लेना नहीं चाहता था। वस्त्र, आभरण, मिष्ठान्न तक देखकर वे हंस पड़ते थे—'राजा जी ! ये हमारे शरीरपर टिकेंगे ? यह आहार हमको वनमें दौड़ने योग्य रखेगा ? आप हमारे अतिथि हुए और हम कङ्गालोंके पास आपका सत्कार करने योग्य है क्या ? कोल-किरात बहुत प्रसन्न होंगे तो थोड़े तृण, पत्तलें और ईंधन दे देंगे।'

'हमारे यहाँ आपके दूसरे साथियोंने ही बहुत ला रखा।' कोई इसे सुनता नहीं। सेवा आवश्यकता पूछकर, अभाव देखकर नहीं हुआ करती। सेवा होती है अपनी श्रद्धासे। वे आते थे और टोकरे उलट देते थे।

'आप श्रीरामके—उन परमोदारके स्वजन हैं। उनके दर्शनका प्रभाव है कि हमें सत्कार करनेकी सूझी है।' बड़ी नम्रतासे कहते थे वे—'अन्यथा हम तो पापी हिंसक लोग हैं। अपनी उदरपूर्तिके लिए, विनोदके लिए भी हत्याके अभ्यासी। आपके वस्त्र, आभरण, खाद्य हमने चुरा नहीं लिये और पशुओंको मार नहीं डाला, यही हमारी बड़ी सेवा हुई।'

'अब इनको लौटा दीजिये आप लोग !' वनवासी प्रसन्न होगये जब उन्होंने पशुओंका दल देखा। कपि, भल्लूकसे लेकर शशक गिलहरी तक। कोई भारी मधु-छत्रक लिये, कोई फलोंसे लदी पूरी शाखा उठाये और कोई नन्हा फल मुखमें दबाये। मणियाँ तक लाये वन पशु। इन्हें कोई कैसे रोके। ये कहाँ सुनना, समझना जानते हैं। किसीको आज कुछ परिवर्तन नहीं लेना। सब प्रसाद-ग्रहण तो श्रीजनक-नन्दिनीके समीप करेंगे। वहाँ आज महाभोज है—सम्भवतः पितृश्राद्धका महा-भोज। यहाँ इन शिविरोंके समीप तो अपने उपहार रखकर वे लौट पड़े।

ईंधन, कमल अथवा कदलीके पत्र, पशुओंके लिए तृण, कन्द, मूल सबकी राशि लग गयी। इतने उपहार कि अयोध्याके लोग यहाँ दस दिन भी रहें तो उन्हें कुछ आवश्यक न हो और यह क्रम तो प्रतिदिनका बन गया।

श्रीरामने कुलगुरुके समीप, विप्रवर्गके शिविरोंमें फल, कन्दादि भिजवाये। स्वयं श्रीजानकीने छाँटकर भेजे। माताओंकी सेवामें वे स्वयं ले गयीं। भरत-शत्रुघ्नको साथ बैठाकर श्रीरामने फलाहार कराया। निषादराजको प्रसाद प्राप्त हुआ। इसके उपरान्त लक्ष्मणजीको मन्त्रणा-सभामें बैठनेका अवसर नहीं मिला। उनकी जानकी अम्बाको अपने अरण्यवासियोंको प्रसाद देना था। वन पशुओंका, पक्षियोंका सत्कार करना था और लक्ष्मणकी सहायताके बिना तो यह विशाल भोज सम्पन्न नहीं हो सकता था।

अयोध्याके लोगोंने पहिली बार देखा कि आहारके साथ स्वच्छता कैसे सम्पन्न होती है। यदि कन्द, फलादि किन्हींके आहार थे तो वे जिनपर परसे गये, वे पत्र गजोंके भक्ष्य थे। बिखरे कण पक्षी उठा लेते थे। यह देखनेका तो उन्हें अवसर ही नहीं मिला कि उनके अपने शिविरोंके समीपके स्थलोंकी स्वच्छताके लिए पशुओं-पक्षियों तथा वन्य मानवोंमें कैसी मधुर झड़प होती है।

अयोध्याके लोगोंको तनिक भी अवकाश मिलते ही श्रीरामके समीप एकत्र होजाना था। श्रीरामके प्रेममें वे अपने शरीरको ही स्मरण नहीं रख पाते थे तो शिविरोंको, पशुओंको कैसे स्मरण करते? लेकिन इन सबकी स्वच्छता, सुरक्षा, सेवाके लिए उन्हें सोचनेकी आवश्यकता ही अरण्यानी लोगोंने कहाँ रहने दी थी।

अयोध्याके सब लोग स्नान, सन्ध्या, आहार तथा रात्रिके तृतीय प्रहरमें शयनके समय अपने शिविरोंमें पहुँच पाते थे। उन्हें शिविर स्वच्छ, सुसज्जित मिलते थे। कन्द, मूल, मधु आदि प्रचुर सजा मिलता था। अश्वों, गजोंको भी वे

वन्य लोग स्नान करा लाते, पानी पिलाते, उनके सम्मुख तृण ही नहीं, कन्द, फल-की राशि लगाये रहते। वहाँ पशुओंका मल-मूत्र तत्काल स्वच्छ होता रहता था।

सब आवश्यकताओंसे निश्चिन्त अयोध्याका समाज एकत्र ही रहता था श्रीरामके समीप। दूसरे ही दिन जब सब फलाहार करके श्रीरामकी पर्णशालाके सम्मुख उपस्थित हुए श्रीरामने कुलगुरुको, विप्रवर्गको, माताओंको, बड़ोंको प्रणाम किया। छोटोंको अङ्कमाल मिली। सबको यथोचित आसन प्राप्त हुआ।

'श्रीचक्रवर्ती महाराजको इंगुदी-पिण्याकका पिण्डदान प्राप्त हुआ।' माता कौसल्याकी वेदना फूट पड़ी—'यह क्रम चौदह वर्ष चलेगा? उन सुरेन्द्रके सखाकी प्राणोपम पुत्र-वधूकी क्या दशा होगयी है।'

'तात! कुलगुरुके अतिशय अनुग्रह भाजन बन सके तुम, यह देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई।' श्रीरामने माताओंका क्रन्दन सुना। अब यह क्रम चले तो सब शोकमग्न हो जायँगे, ऐसा सोचकर वे पद्मपलाश लोचन उठकर खड़े होगये। भरतसे उन्होंने कहा—'लेकिन भाई! तुमने यह जटा-वल्कल क्यों अपनाया? इतनी दूर वनमें सारे समाजको कष्ट देकर क्यों ले आये?'

'वह भाग्यहीन है जिसे आपके समीप आनेमें परम सुख नहीं प्रतीत होता।' भरतने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'पिताने कैकेयीकी प्रेरणासे जो कुछ किया, उसके परिणाम स्वरूप स्वयं स्वर्ग सिधारे। कलङ्की तो हुआ यह हत भाग्य भरत। आप मुझपर प्रसन्न होकर राज्य स्वीकार करलें तो पृथ्वी सौभाग्यशालिनी होजाय।'

'भाई भरत! तुमपर मनमें भी किसी कुटिलताका आरोप करने वालेके पुण्य नष्ट हो जायँगे। उसकी अधोगति होगी।' श्रीरामने चरणोंपर गिरे भाईको उठाकर समीप बैठाया—'तुम्हारा स्मरण, तुम्हारा यशोगान मनुष्यके दुःख-दोष, पाप-कलुष युग-युग तक निवृत्त करता रहेगा। तुम्हारी प्रत्येक चेष्टा परमोज्ज्वल है। माताका भी कोई दोष नहीं है। गुरु, माता-पिताको, शिष्यको, सुतको यथेच्छ आज्ञा देनेका अधिकार है। जो अपार स्नेहदान करता है, ताड़न उसका स्वत्व होता है। पिता या माता कैकेयी मुझे राज्य दे सकते थे तो मुझे वनमें रहने की आज्ञा भी दे सकते थे। मैं पिताकी आज्ञाका पालन करने चौदह वर्ष वनमें रहूँगा।'

'पिताने राज्य मुझे दिया था, मैं उसे आपको लौटा रहा हूँ। आपके सिंहा-सनपर बैठनेका साहस भरत भूलकर भी नहीं कर सकता।' भरतने दृढ़ स्वरमें कहा—'कैकेयीको अब इसमें कोई आपत्ति नहीं है।'

'धन्य भरत !' अयोध्याके लोगोंके साथ वनवासियोंने भी पुकारा ।

'मनुष्य कालके परतन्त्र है, सबकी आयु क्षण-क्षण क्षीण होरही है । मृत्यु प्राणीके साथ-साथ चलती है । जल-धारामें बहते काष्ठके समान जीवनमें स्वजनोंका मिलन-वियोग है । सबका नियन्त्रक काल है ।' श्रीरामने एक बार सबकी ओर देखा—'जैसे ऋतुएँ स्वयं परिवर्तित होती रहती हैं, सरिताएँ बहती रहती हैं, जीवन भी ऐसे ही चलता है । इसमें धर्मातमा पुरुष पापसे बचे रहते हैं । पिता शुभकर्मा थे । उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये, वे स्वर्ग गये । वे शोचनीय नहीं हैं । उनके लिए अब किसीको रुदन नहीं करना चाहिए ।'

'हर्ष-शोकसे आपके समान असंस्पृष्ट सृष्टिमें और कोई हो तो मैं उसे नहीं जानता । आप सर्वदर्शी हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, आपको शोक नहीं है तो आश्चर्य नहीं ।' भरतने फिर हाथ जोड़ा—'पिताके लिए शोक मुझे नहीं है ; किन्तु आप मुझपर प्रसन्न हों । मेरा नाम लेकर कैकेयीने जो पाप किया, उसका मैं क्या करूँ ? पिताने स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिए जो काम किया, वह किसी प्रकार उचित नहीं है । उस त्रुटिको आप सुधारकर भरतके हृदयका दावानल शान्त कीजिए । आप तापस वेश बनाकर वनमें रहते हैं, यह देखकर भी भरतके पापी प्राण अभी शरीरमें ही हैं स्वामी .... ।'

मूर्च्छित होकर गिरते भरतको रामने भुजाओंमें भरकर सम्हाला—'आपका मन कष्ट ही उठानेका है तो प्रजा-पालनका कष्ट उठाइये । मैं सब प्रकार आपका शिशु हूँ, आप मेरे मस्तकपर कर रखें और मेरी प्रार्थना स्वीकार करें ।' भरतने चेतना पाते ही कहना प्रारम्भ किया—'यहीं आपका अभिषेक हो । सब सामग्री आयी है । ऋत्विक मन्त्रपाठ करें, सैनिक जयघोष करें, सृष्टि प्रसन्न हो । कैकेयीका कलङ्क दूर होजाय । जो कुछ हुआ, उसे आप अनुग्रह करके विस्मृत करदें ।'

'भरत ! तुम श्रीचक्रवर्ती महाराजके योग्य पुत्र हो । तुम-सा अनुज पाकर राम गौरवान्वित है । तुम अपने अनुरूप कह रहे हो ; किन्तु' श्रीरामने भरतको हृदयसे लगाकर कहा—'तात ! पिताके कर्ममें दोष नहीं निकालना चाहिए । मैं चौदह वर्ष वनमें वना रहूँगा । इससे परलोकमें पिता सुखी होंगे और लोकमें माता सुखी होंगी । मेरे लिए इससे श्रेयस्कर और क्या हो सकता है । हम दोनोंको पिताकी प्रतिज्ञा पूरी करनी चाहिए । तुम आज ही अयोध्या लौटो । छत्र धारण करके

प्रजाका पालन करो। शत्रुघ्न तुम्हारे साथ जायँगे। पिताका वाक्य हम दोनोंको अन्यथा नहीं करना चाहिए।'

'आप यदि अयोध्या नहीं लौटते तो मुझे भी वनमें साथ चलनेकी अनुमति दीजिए।' भरतने दुःख एवं आतुरताके साथ कहा—'लौटनेकी चर्चा मत कीजिये।'

'रामभद्र ! मुझे तुम दोनों बुद्धिमान नहीं जान पड़ते हो। व्यर्थकी कल्पनाओंके कारण क्यों दुःखी होते हो ? कौन किसका पिता और कौन किसकी माता ? देहमें जीव नामक कोई तत्त्व तुम कहीं बतला सकते हो ? समस्त परमाणु क्षणिक हैं। उनकी परिवर्तनशील धारामें ही आकार एवं चेतनाका भास होता है।' श्रीरामके स्नेहने परमधार्मिक ऋषि जाबालिको तर्काभासका आश्रय दे दिया था—'न तुम दशरथके कोई हो, न दशरथ तुम्हारे कोई हैं। वे जहाँसे आये थे, वहीं अव्यक्तमें चले गये। उनको सन्तुष्ट करनेकी बात ही अब कहाँ है। संसारमें दुःख ही दुःख है, ऐसा अविवेकी सोचते हैं। तुम जीवनके निद्रा, आहार, आमोदके क्षणोंकी ओर देखो तो समझ लोगे कि जीवनमें दुःख केवल आगन्तुक है, अत्यल्प है। जीवन सुखोपभोगके लिए है। अतः कायर मत बनो। अयोध्या लौटो और राज्य भोगो। भरतसे तुम्हें प्रेम है तो राज्य करो।'

'आपने जो कहा, मेरे हितार्थ कहा ; किन्तु कुपथ्यको पथ्य कहा।' श्रीराम तनिक रोष-पूर्वक बोले--'मर्यादा-हीन पुरुष तो पापी होता है। भोगोन्मुख जीवन अधःपतनका हेतु है। चरित्र ही मुख्य है। आप तो अनार्य लगते हैं। आपने दुःशीलताका समर्थन किया। मनुष्य वासनाका दास है, लोभी है। उत्थानके लिए प्रयत्न आवश्यक होता है, पतन तो प्रयत्न-शिथिल होते स्वतः होता है। मैं ही लोक-परलोकका विचार त्यागकर कामार्थ परायण हो जाऊँगा तो सम्पूर्ण प्रजा मेरा अनुकरण करेगी। मनुष्य पशु बन जायगा और सबके जीवनमें छीना-झपटी, अशान्ति ही रह जायगी। सत्य ही धर्म है। सत्य ही वेदोंका सार है। सत्य ही श्रुतिका, तपका मूल है। सत्य ही सदा पालन करने योग्य है। शास्त्रके वचन ही सत्य हैं। शास्त्रको त्यागकर किया जाने वाला तर्क असत्य है। आपकी बातें और तर्क शास्त्र विरुद्ध हैं। आप नास्तिकोंके समान क्यों बोलते हैं ? पिताने आपको अपनी मन्त्रणा परिषदमें स्थान कैसे दिया ? आपकी बातें तो सुनना भी अधर्म है। मैं पिताके वरको सत्य करनेके लिए वनमें रहूँगा।'

'वत्स रामभद्र ! ऋषि जाबालि तपस्वी हैं। श्रुति एवं धर्मके तत्त्वज्ञ हैं। ये विद्वान, धर्मात्मा, सम्मान्य हैं। केवल तुम्हारे प्रेमसे विवश इस प्रकार बोलने लगे

हैं। जीवका जीवसे कोई सम्बन्ध नहीं है और जीव सच्चिदानन्दका अभिन्न अंश है, यह बात श्रुति सम्मत है।' श्रीरामको क्रोध पूर्वक बोलते देखकर महर्षि वशिष्ठ बोले—'कुलधर्म उपेक्षणीय नहीं होता। सृष्टिके प्रारम्भसे इक्ष्वाकुवंशमें ज्येष्ठ पुत्रको राज्य देनेकी परम्परा है। मैं तुम्हारे पिताका भी गुरु हूँ, मेरी आज्ञा माननी चाहिए तुम्हें और जिन्होंने वरदान माँगा था, वे तुम्हारी विमाता कैकेयी यहाँ आयी हैं। उनकी भी सुनलो।'

'देव ! आपकी आज्ञाका उल्लंघन करनेकी बात सोचने वाला भी अधम होगा। अयोध्यामें ऐसा कोई नहीं हुआ और न है। आप जिसे जो आदेश देंगे, वह उसका तत्काल पालन करेगा।' श्रीरामने दोनों हाथ जोड़कर कुलगुरुके सम्मुख मस्तक झुकाया—'ऋषि जाबालि मुझे क्षमा करें। सबसे पहिले राम आपका आदेश स्वीकार करनेको प्रस्तुत है।'

'वत्स राम ! तुम ठीक कहते हो ; किन्तु मैं इस समय तटस्थ विचार करनेमें समर्थ नहीं हूँ। मेरी बुद्धि भरतकी अकल्पनीय भक्तिके वशमें हो चुकी है।' महर्षि वशिष्ठने सस्नेह भरतकी ओर देखा—'मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि भरतकी बात ध्यानसे सुनो।'

'धन्य भाई ! धन्य तुम्हारा सौभाग्य ! जिनकी कृपा पानेको समस्त सुर तथा ऊर्ध्वलोकोंके मुनिगण भी उत्सुक रहते हैं, उन गुरुदेवका तुमपर इतना स्नेह है !' श्रीरामने खींचकर भरतको हृदयसे लगा लिया—'तुम कहो ! मेरी ओर, मेरे कर्तव्यकी ओर देखकर कहो। तुम रामको क्या करनेको कहते हो ?'

बात पूरी नहीं हुई। इसी समय महाराज जनकका दूत आगया। उसने प्रणाम किया पृथ्वीमें मस्तक रखकर और महर्षि वशिष्ठसे प्रार्थना की—'मिथिलाधिपति सपरिवार आये हैं। यहाँ आनेकी आपसे अनुज्ञा चाहते हैं।'

'महाराज सीरध्वज आये हैं ?' महर्षिने पूछा।

'देव ! अयोध्याका दुःखद समाचार मिथिला पहुँचा तो महाराजने तत्काल अयोध्या चर भेजा।' उस आगतने सविनय कहा—'आप हमें क्षमा करें राजनीति स्वजनोंके यहाँ भी गुप्तचरकी नियुक्ति अवस्था विशेषमें अनुचित नहीं मानती। हमारे गुप्तचर अयोध्या पहुँचे तो श्रीराम वन विदा होचुके थे। श्रीचक्रवर्तीजीका शरीर नहीं था। आयुष्मान भरत आ चुके थे मातामहके यहाँसे। चर तब तक रहे, जब तक भरतलालने वनकी ओर प्रस्थान नहीं किया। अपने चरोंसे समाचार

पाकर हमारे महाराज तत्काल चल पड़े। उन्होंने पथमें रात्रि-विश्राम भी नहीं किया है।'

महर्षि वशिष्ठके साथ श्रीराम तथा सभी स्वागतको उठ खड़े हुए। महाराज जनक आश्रम-द्वारपर ही आ गये हैं, यह किसीने नहीं सोचा था। जनकपुरका और अयोध्याका समाज मिला, जैसे शोकसे उमड़ते दो महासागर मिलते हों। स्वर्गीय चक्रवर्ती महाराजका निधन-दुःख पुनः नवीन होगया।

'हाय देवि! जीवनमें आपके चरण-दर्शन भी हुए तो इस वेशमें आपको देखना था!' जनक-पट्टमहिषी देवी सुनयना मिली कौसल्याजीसे और उनके चरण पकड़कर रो पड़ीं।

'देवि! आप तत्त्वज्ञोंके भी उपदेष्टाकी अर्धांगिनी हैं। आपको उपदेश करनेमें कौन समर्थ है।' कौसल्याजीने ही कुछ देरमें अपनेको स्थिर किया—'हमपर तो दैवने ही विपत्तिका पर्वत पटक दिया है। अब तो आपके महाराज ही अयोध्याके भी आश्रय हैं।'

'आप यह मत कहें।' महारानी सुनयना साश्रुवदन बोलीं—'अब भी अयोध्याके कुमार त्रिलोकीको आश्रय देनेमें समर्थ हैं। मिथिला और उसके अधिपति सदासे आपके सेवक हैं।'

शोकके सम्पूर्ण उद्रेकके समय स्वागतकी किसे अपेक्षा होती है। आहारका आज प्रश्न ही नहीं उठता था। महाराज जनकने अपने शिविर भरतके समाजसे थोड़ी दूर हटकर मन्दाकिनीके तटपर स्थापित किये थे। वे आवासकी व्यवस्था करके ही मिलने आये थे। वैसे भी जामाताका कुछ स्वीकार नहीं किया जा सकता और यहाँ अरण्यमें आ बसे जामाताको असुविधा न हो, इसकी ओरसे सावधान तो रहना ही था।

महारानी सुनयनाने कौसल्याजीसे प्रार्थना की—'आप आज्ञा दें तो पुत्री सीता शिविरमें जाकर पिताको प्रणाम कर आवे।'

अयोध्याके लोग आये थे तबसे गुरुजनोंको लगता था श्रीराम उनके समीप ही सेवामें उपस्थित रहते हैं। सामान्यजनों तकको लगता था कि लक्ष्मण केवल

उसकी—उस अकेलेकी देखभालमें थके जा रहे हैं। कैकेयीने अपना शिविर पृथक लगवाया था। उसे भी लगता था कि वधू सीता केवल रात्रि-शयनके लिए अपनी पर्णकुटी जाती हैं। सेवा—तीनों सासुओंको श्रीजानकी अपनी सेवामें ही उपस्थित लगती थीं। मना करनेपर कह देतीं—'आपकी चरण-सेवाका सौभाग्य कहाँ सुलभ हुआ आपकी इस पुत्रीको। इसे सेवा करना तो आपके श्रीचरणोंमें बैठकर सीखना है।'

आज माता कौसल्याकी आज्ञासे अपनी जननीके साथ पिताके शिविरमें आयीं तो उनका वेश—तपस्विनी वेश देखकर सबके नेत्र वर्षा करने लगे। महाराज जनक श्रीरामके समीपसे लौटे और पुत्रीको देखकर विह्वल होगये। उसे अङ्कमें बैठाकर बोले—'पुत्री! निमिवंश तुझको पाकर परम पावन होगया। तुम्हारी कीर्ति आकल्पान्त प्राणियोंको पवित्र करती रहेगी।'

माता-पितासे मिलकर श्रीजानकीको रात्रिमें ही अपनी पर्णकुटीमें लौट आना था। जो सुख, सुविधा स्वामीको प्राप्त नहीं है, उसे कोई सती कैसे स्वीकार कर सकती है और महाराज जनकका शिविर तो राजशिविर था। कन्याका सङ्कोच—सीताजीने स्पष्ट कुछ नहीं कहा; किन्तु सुनयनाजीने पुनः पुत्रीको अपने शिविरमें ले आनेका आग्रह नहीं किया। जब वह आकर मुख भी जूठा नहीं कर सकती तो उसे सङ्कोचमें डालनेसे लाभ?

महाराज जनकके शिविरपर भी गोष्ठी एकत्र हुई। भरत-शत्रुघ्न आये; किन्तु अग्रज आतिथ्य स्वीकार नहीं करते तो अनुज करेंगे, इसकी आशा ही कहाँ थी। महाराज स्वयं महर्षिके समीप गये। सबकी एकमात्र इच्छा—श्रीराम लौट चलें; किन्तु किसीको कोई उपाय सूझता नहीं था।

'मैं भाईके साथ आजीवन वनमें रह लूँगा!' भरत स्वयं कह रहे थे तो उनसे कोई कहता क्या। उनका कहना था—'सर्वोत्तम यह है कि अग्रज सब भूल जायँ और लौट चलें। किसीको वनमें किसी भी कारण रहना आवश्यक हो तो मुझे—अकेले मुझे यह अवसर दिया जाय। श्रीराम अयोध्यामें लक्ष्मणके साथ रहना चाहें तो शत्रुघ्न मेरे साथ वनमें रहेंगे और अग्रजको अयोध्यामे एकाकी ही रहना हो तो हम तीनों भाई आजीवन अरण्यवासी होनेमें अपना अहोभाग्य मानेंगे।'

उधर सुरपुरमें सुरोंके साथ सुरेन्द्रको सुधा कटु लगने लगी थी। सुर-सुन्दरियोंके संगीत-सौन्दर्य अपना आकर्षण खो चुके थे। दुरन्त चिन्ता 'श्रीराम कहीं इस लोकोत्तर भरत प्रेमके कारण लौट गये—सुरोंके सिरपर सतत लटकती रहने वाली रावण रूपी तलवार अक्षत रह जायगी।'

सुरेन्द्रके समीप, सुरोंके समीप, सुरगुरुके समीप कोई शक्ति नहीं थी जो भरतके सुनिर्मल प्रेमका स्पर्श भी कर सके। सच्चे भक्तका अप्रिय करनेकी बात सोचकर सृष्टिकर्ता भी सकुशल रहनेकी आशा नहीं कर सकता, सुरोंकी शक्ति तो सीमित ही है।

स्तब्ध, अत्यन्त सचिन्त सुर थे स्वर्गमें तो उससे अधिक चिन्तित थे अयोध्या और मिथिलाके लोग, चित्रकूटमें। उन्हें भी नहीं सूझता था कि श्रीराम कैसे लौटेंगे।

'श्रीरामका अवतार ही लोक-रावण रावणको सकुल समरशैय्या देकर देव-द्विज एवं श्रुतिपथको निष्कण्टक कर देनेके लिए हुआ है।' सर्वज्ञ महर्षि वशिष्ठ सृष्टिकर्ताके सुत होनेसे सुरोंके भी पूज्य हैं। उनको सुरोंकी श्रुति-पथकी सुरक्षा चिन्तित नहीं करेगी—'रामको लौटनेकी आज्ञा मैं कैसे दे सकता हूँ।'

'श्रीराम मेरा सम्मान करते हैं—मर्यादा पुरुषोत्तम हैं।' वे महाराज जनककी समस्या थी—'लेकिन उनके स्वर्गीय पिताने कैकेयीको वचन दिया था। मैं धर्मके परमप्राण रामको पिताके वरदानकी अवज्ञा करनेको कह सकूँगा? मैं—जिसे लोग विदेह कहते हैं। जो दैहिक सुख-दुखको सर्वथा नगण्य माननेकी ही शिक्षा अब तक देता रहा है।'

'मैं सेवक हूँ। सेवकके आग्रहका अर्थ क्या?' भरतकी चिन्ताधारा भिन्न थी—'उन करुणावरुणालयका असीम अनुग्रह कि वे सेवककी प्रार्थना कभी अस्वीकार नहीं करते; किन्तु स्वामीको सङ्कोचमें डालकर, उसकी उदारताका लाभ उठाने वाला सेवक सेवक है? सेवा-धर्म है यह?'

सबके चिन्तनका ढंग पृथक-पृथक था; किन्तु परिणाम एक ही था—श्रीरामको अयोध्या लौटा लेजानेका मार्ग किसीको नहीं सूझता था। सबके प्राण व्याकुल थे। सबके हृदयकी उत्कट अभिलाषा थी कि श्रीसीताराम लक्ष्मण लौट चलें; किन्तु लौटें कैसे?

———

कैकेयीका क्रन्दन

अयोध्या और मिथिलाके लोगोंका समुदाय श्रीरामकी पर्णकुटीके सम्मुख एकत्र हुआ। श्रीरामका वही स्वर था—'पिताके सत्यकी रक्षा की जानी चाहिए। मैंने मातासे उसके वरको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा की है।'

'आपके बदले अथवा आपके साथ मैं वनमें रहूँगा।' भरत भी अपने स्थान-पर दृढ़ थे।

श्रीरामने इसे स्पष्ट अस्वीकार कर दिया—'यह पिताके सत्यकी रक्षा कहाँ है? उसमें प्रतिनिधि बनाना तो प्रवञ्चना है और माताने तुम्हारे लिए राज्य माँगा था।'

'राम! मैं भले अब तुम्हें अपना राम कहने योग्य नहीं रही, मैं कुमाता निकली; किन्तु इस निष्ठुराको तुम अब भी माता कहते हो—केवल तुम्हीं माता कहते हो; अन्यथा लोभवश मैंने जिनकी वञ्चना की, उन इसके स्वामीने तो शरीर-त्यागसे पूर्व ही कह दिया कि मैं उनकी कोई नहीं हूँ। उनसे परित्यक्ता होकर मैं अयोध्यामें किसीकी कोई नहीं रह गयी।' कैकेयीजी सभामें उठकर बोलने लगीं तो सब चकित होकर उनकी ओर देखने लगे—'मैं किसकी लज्जा करूँ? मैं परित्यक्ता, पतिघातिनी, अनाथा, अपने ही अपराधसे अनाश्रिता। जिसे मैंने उदरमें धारण किया, जिसे राज्य देनेके लिए मैंने सब अपराध किये, मैं उसके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उस भरतने ही मेरी दृष्टिपर पड़ा अज्ञानका पर्दा फाड़ा। मैं अब भी असत्य बोल रही हूँ, इतनी अधमा हूँ, मैंने भरतके लिए कुछ नहीं किया। मैंने सब इसलिए किया; क्योंकि मुझे राजमाता बननेका लोभ था। भरतने मेरा भ्रम दूर कर दिया यह कहकर कि वह योग्य पिताका योग्य पुत्र है। कैकेयी यदि पिताकी कोई नहीं है तो भरतकी भी कोई नहीं है। भरत यह कह सकता है; किन्तु कैकेयी उसकी जननी होकर धन्य है। कैकेयीका अभाग्य, आज माताके अपराधसे भरत सबसे सशङ्क रहता है। उसपर निषादराजने और यहाँके वन-वासियोंने भी शङ्का की। उसके अत्यन्त प्रिय अग्रज भी आज उसकी बात नहीं सुनते हैं।'

'अम्ब ! राम अब भी आपका राम है।' श्रीरामने कहा—'कौन कहता है कि आप राजमाता नहीं हैं ? अयोध्याके सिंहासनपर राम बैठे या भरत, राजमाता आप हैं, रहेंगी।'

'सो प्रारम्भसे देख रही हूँ, अपने जिस रामको मैंने पिशाची बनकर वल्कल पहिनाकर निर्वासित किया, वही राम रक्षा न करता, उसी रामका भय न होता तो भरतको भी मातृहत्याकी बात न कहनी पड़ती। भरतके आनेसे पूर्व अयोध्याके सैनिक इसे मारकर कुत्ते-गीधोंके आगे फेंक चुके होते।' कैकेयीजीके नेत्रोंके अश्रु सूख चुके थे। वे उन्मादिनीके समान लाल-लाल नेत्रोंसे इधर उधर देख रही थीं—'जिस पुत्रवधूको मैं वल्कल देने उठी थी, वह यहाँ मेरी सेवा करते श्रान्त होती रहती है। वह मेरे मना करनेको सुनती नहीं और जिसे महारानी बनानेकी विडम्बना भरी साध मैंने पाली थी मनमें,उस माण्डवीसे मिलने भरतके आनेसे पूर्व उसके सदन गयी तो द्वारपर से दासीने यह कहकर लौटा दिया—'आप यहाँ आनेका अनुग्रह अभी मत करें।'पता नहीं मातामहके यहाँसे आकर आपके पुत्रका मन कैसा रहे। वे कोई आशङ्का कर लेंगे तो इस सदनकी स्वामिनी कहींकी नहीं रहेंगी।' माण्डवी बुद्धिमान थी। मुझ मूर्खाकी अवज्ञा करके उसने उचित किया। उसका स्वामी ही कैकेयीको अपनी कोई नहीं मानता तो वह अपनेको क्यों सङ्कटमें-डाले। स्त्रीका सर्वस्व तो उसका स्वामी है।'

'अम्ब ! आप उसे क्षमा करदें।' श्रीरामने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'उन सबको भी, जिनके द्वारा आपकी उपेक्षा—आपकी अवमानना हुई है। अपने इस रामकी ओर देखकर आप सबको क्षमा करदें।'

'राम ! मैं क्या अब किसीसे क्षमा पानेकी भी अधिकारिणी हूँ ?' कैकेयीके स्वरने सबका हृदय द्रवित कर दिया—'मैं किसपर किस बलपर रोष करूँगी ? मुझे सबने क्यों क्षमा कर रखा है, जानती हूँ। राम ! तुम्हारे भयसे,तुम्हारे ही सङ्कोचसे अब भी सब कैकेयीको कुछ नहीं कहते। मन्थरा तो अपदार्थ थी। वह मूर्खा दासी अब भी मुझसे बहुत स्नेह करती है। भरत जब मुझे—मेरे मातृत्वको त्यक्त घोषित कर गया, वह रुदन करती मेरे पैरोंपर गिरी—'महारानी ! मेरा वध करवा दो। मैं ही सब अनर्थोंकी मूल हूँ। मुझसे आपकी यह अवस्था देखी नहीं जाती।'

'मैं आज भी मन्थराकी—तुम्हें वनवास दिलाने वाली मन्थराकी रक्षिका हूँ। मैं उसे छोड़ नहीं सकती। वही तो मेरी रक्षिका है अब। वह और उसकी

सहेलियाँ न होतीं, कैकेयीको जल भी नहीं मिलता। यह तृषासे ही तड़पकर मर जाती।' माताका यह वाक्य सुनकर श्रीरामने शत्रुघ्नकी ओर देखा तो कैकेयीने ही कहा—'राम ! किसीका अपराध नहीं है। कुलक्षणा कैकेयीकी सेवामें वधू उर्मिला आरम्भसे सतर्क है। श्रुतिकीर्ति बालिका है अभी; किन्तु वह इस भाग्यहीनाको मरने नहीं देगी। इसको खिलानेके लिए दोनों वधुएँ मनमें असीम दुःख दबाये विषके समान लगता आहार भी मुखमें ले लेती हैं। कैकेयीका दुःख यह नहीं है कि इसकी उपेक्षा की जाती है। इसका दुःख यह है कि तुम्हारे परम पावन धर्मप्राण कुलमें इस पापिनीको सहा जाता है। इसे अब तक राजसदनसे निकल जानेको किसीने नहीं कहा। इसका भी सत्कार करनेका प्रयत्न किया जाता है। इसे यहाँ तुम्हारे समीप भी आनेसे किसीने रोका नहीं। यह सब तुम्हारे कारण—तुम्हारे सङ्कोचके कारण होता है।'

'राम ! तुम कहते हो कि अब भी तुम मेरे राम हो। मैं वधू सीताको प्रतिदिन प्रातः-सायं अम्ब कहकर अपनेको प्रणाम करते देखती हूँ। असत्य तुम्हारा स्पर्श नहीं करता। कुटिला कैकेयीने उस दिन जब तुम वन आनेसे पूर्व सहज विनम्र थे, तुम्हारी वाणीमें, व्यवहारमें अपने कलुषित अन्तःकरणका प्रतिविम्ब देखा था; किन्तु राम ! तुम तो सत्यके स्वरूप हो। तब जिसे आज भी अम्ब कहते हो, उसे क्षमा नहीं करोगे ?' कैकेयीका स्वर वैसे ही उन्मादिनीका स्वर बना रहा—'मत बोलो ! मुझे कह लेने दो। तुम्हारी इस माताने लोभवश, मोहवश, मूर्खता की; किन्तु तुम्हें तो अज्ञानकी छाया स्पर्श नहीं करती ? तुम तो ज्ञान स्वरूप हो ? तुम कहते हो कि लोकमें तुम अपनी इस माताको सुखी करना चाहते हो तो सुनो ! कैकेयीको अब भी वरदान चाहिए और अब अपने पुत्रसे चाहिए—तुमसे चाहिए क्योंकि कैकेयीके पुत्र अब तुम्हीं हो। केवल तुम इसे अम्ब कहते हो। तुम इसे वरदान दो और वह यह कि इसके मूर्खता भरे वरदानोंको विस्मृत करदो !'

श्रीरामने सावधानीसे सम्हाल न लिया होता,कैकेयीजी आवेशके आधिक्यके कारण मूर्च्छित होकर गिरी थीं। उन्हें सावधान होनेमें विलम्ब हुआ। श्रीजनकनन्दिनी अङ्कमें उनका मस्तक लिये वायु करती रहीं। जब चेतना लौटी, उनके नेत्रोंसे सूखी अश्रुधारा उमड़ पड़ी पुत्रवधूका मुख देखकर। वे सीतासे लिपटकर क्रन्दन करने लगीं।

'अम्ब ! आपको पिताजीने वचन दिया था। पुत्र पिताके वचनोंका पालन

कर सकता है, उन्हें लौटा तो नहीं सकता। श्रीरामने धीरे धीरे लेकिन स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'आप अपने रामको आशीर्वाद दें कि वह अपने व्रतमें स्थिर रह सके।'

'आशीर्वाद ? पिशाचिनी कैकेयी देवोपम, देवाराध्य रामको आशीर्वाद देगी।' उन्मादिनी होगयी पुन: कैकेयीजी। उन्होंने अट्टहास किया—भरे समाजमें, कभी उच्च स्वरसे न बोलनेवाली उन्होंने जब अट्टहास किया, सभी भयभीत होगये। श्रीराम आकर बैठ गये उनके समीप और उनको सचेत करनेका यत्न करने लगे।

'पतिघातिनी कैकेयीको स्वामीके शवको स्पर्श करनेका अधिकार नहीं है! कैकेयीको सती होनेकी बात मुखसे भी निकालनेका अधिकार नहीं है। कैकेयीको एकाकिनी मरनेका भी अधिकार नहीं है। कैकेयीको कुछ बोलनेका अधिकार नहीं है। कैकेयीको अपने वरदान लौटानेका भी अधिकार नहीं है? नहीं है, नहीं है, कैकेयीको कुछ करने, कुछ कहनेका अधिकार नहीं है।' उन्माद अन्तरकी व्यथा उद्घाटित कर देता है। कैकेयीजी देर तक मूर्च्छामें बोलती रहीं।

पादुका प्राप्ति

'आर्य ! आप अब भी अयोध्या नहीं लौटते तो भरतको भी लक्ष्मणके समान अपने साथ चलनेकी आज्ञा दें !' भरतने कातर कण्ठसे कहा—'अन्यथा भरत अवश्य आपके इन चरणोंके समीप ही प्राण-त्याग कर देगा।'

'भैया ! मुझे अपने कर्तव्यपर स्थिर रहने दो और तुम भी कर्तव्यका पालन करो।' श्रीरामने स्नेह पूर्वक समझाना चाहा – 'कर्तव्य कठोर होता है। तुम्हारे जैसे सुकुमार मानसको कुछ कहते मुझे सङ्कोच होता है; किन्तु अयोध्याकी प्रजा-को अनाश्रय तो नहीं छोड़ा जा सकता।'

'मैं इतना विवेक-सम्पन्न नहीं हूँ। माता-पिताके सम्मुख शिशुको उचित-अनुचित सब प्रकारका हठ करनेका अधिकार है।' भरतने महामन्त्रीकी ओर देखा—'सुमन्त्रजी ! मैं मौन होता हूँ। कुशासन बिछा दो ! अब भरत यहीं देह-त्याग करेगा !'

'भरत ! तुम जैसे भाईसे ऐसी आशा नहीं थी। तुम चाहते हो कि राम कर्तव्य भ्रष्ट होजाय !' सुमन्त्र अथवा कोई भरतको अनशन करनेके लिए आसन कैसे बिछा देता। जब कोई हिला नहीं तो भरतने स्वयं वहाँ पड़े आसनोंमें-से एक बिछाया और उसपर दक्षिणकी ओर चरण करके लेट गये। यह देखकर श्रीराम उनके समीप आये। उनके स्वरमें रोष था—'उपवास ब्राह्मणका धर्म है, क्षत्रियका धर्म नहीं !'

'पिताजीने जीवनमें जो क्रय-विक्रय किया, जो दान किया, क्या उसे हम लौटा सकते हैं ?' श्रीराम सरोष कहने गये —'तुम कहते हो कि मेरे स्थानपर तुम प्रतिनिधि बनकर वनमें रहोगे; किन्तु मैं न होऊं तभी तो कोई मेरा प्रतिनिधि बन सकता है। भरत ! मेरा स्पर्श करके कहो कि ऐसा कार्य पुनः नहीं करोगे। मैं वनसे चौदह वर्ष पश्चात् लौटूंगा। तब तक तुम्हें प्रजाका पालन करना है। तुम पृथ्वी-पालनमें समर्थ हो।'

'मेरे स्वामी ! आप इस अपने दासपर प्रसन्न होजायें।' भरतने व्याकुल होकर अग्रजके चरण पकड़े—'मैंने बहुत धृष्टता की, क्षमा करदें अज्ञ भरतको।

भरतको निराश्रय मत कीजिये। चौदह वर्ष भरत जिसके सहारे व्यतीत करे, वह सहारा दीजिये इसे !'

'वत्स ! तुम क्या चाहते हो ?' श्रीराम स्नेह विगलित स्वरमें बोले—'रामको कर्त्तव्य च्युत करनेके अतिरिक्त जो कहोगे उसे राम अस्वीकार नहीं करेगा।'

'आप इनपर अपने श्रीचरण रखदें !' भरत उठे और दौड़े। कोई कुछ समझें, इससे पूर्व वे अपने शिविरसे जाकर श्रीरामके राज्याभिषेकके लिए लायी गयी सामग्रीमें से स्वर्णखचित मलयज पादुकाएँ लेआये। उन्हें श्रीरामके सम्मुख रखकर हाथ जोड़कर बोले—'आप इन्हें एक बार स्वीकार करलें तो राज्यका सञ्चालन ये कर लेंगी। सिंहासनपर इनको आसीन करके भरत आश्रय प्राप्त कर लेगा। सेवकको सेवा अस्वीकार करनेका स्वत्व कहाँ है।'

'भाई !' सङ्कोचीनाथ श्रीरामने पादुकाओंकी ओर देखा, भरतकी ओर देखा और सिर झुका लिया।

'स्वामी ! आपका संकेत तृणको भी त्रिभुवनके शासनकी शक्ति देनेमें समर्थ है।' भरत अञ्जलि बाँधे कातर कण्ठ कह रहे थे—'भरत आपकी पादुकाओंका प्रतिनिधि बननेका सौभाग्य चाहता है, इसे अस्वीकार मत कीजिये !'

'वत्स रामभद्र !' महर्षि वशिष्ठके नेत्र झरने लगे—'भरतका यह अनुरोध तुम्हें स्वीकार करना चाहिए।'

श्रीरामने अवनत वदन किये ही पादुकाएँ पहन लीं—केवल एक क्षणके लिए। दूसरे क्षण ही उन्होंने अपने चरण उनपर से हटा लिये।

'मिल गया स्वामी ! भरतको चौदह वर्षके लिए सहारा मिल गया !' भरतने दोनों पादुकाएँ उठाकर मस्तकपर रख लीं—'लेकिन भरतकी प्रतिज्ञा—बालहठ भी सुन लें ! चौदह वर्षकी अवधि पूरी होते ही आपके चरणोंका दर्शन अयोध्यामें मैं न कर सका तो आपको अपना यह सेवक फिर नहीं मिलेगा। अग्नि-प्रवेश करके भरत शरीर छोड़ देगा। एक दिन भी अधिक प्रतीक्षा नहीं करेगा।'

'मैं अवश्य आऊँगा !' श्रीरामने स्थिर कण्ठसे आश्वासन दिया—'अवधि पूर्ण होनेके अगले दिन ही अयोध्या आजाऊँगा।'

भरतने अभिषेकके लिए लाया गया तीर्थजल श्रीरामकी आज्ञा लेकर महर्षि-के आदेशानुसार अनादि तीर्थस्थलको स्वच्छ कराके उसमें डाल दिया। तबसे उस

परमपवित्र कूपका नाम भरतकूप होगया। पाँच दिनमें घूमकर सब लोगोंके साथ भरतने वहाँके आसपासके उन सब तीर्थोंके दर्शन किये, जहाँ श्रीराम भाई लक्ष्मण तथा पत्नीके साथ गये थे। आज वे स्थान अत्रि आश्रम (अनुसूया), गुप्त गोदावरी, भरतकूप, रामशैय्या, कोटितीर्थ, अप्सराकुण्ड, हनुमानधारा आदिके नामसे जाने जाते हैं।

माता कैकेयीने एकान्तमें श्रीरामसे मिलकर प्रार्थना की—'श्रीराम! मुनिगण तुम्हें परमब्रह्म कहते हैं। मैंने तुम्हारे राज्याभिषेकमें बाधा दी। तुम्हें और सीताको वनमें निर्वासित किया?'

'अम्बा! आप अकारण दुःखी होती हैं।' रुदन करती माताको चरणस्पर्श करके श्रीरामने समझाया—'आपने त्रिभुवनके कल्याणका विधान किया है। अपने रामको कितना सुयश आपने दिया है, यह रामके अयोध्या लौटनेपर आप समझेंगी। आपने तो रामके लिए अकल्पनीय त्याग किया। सदाके लिए स्थायी अपयश स्वीकार किया। रामको ही आपका कृतज्ञ होना है।'

कैकेयीने रामको हृदयसे लगाया। स्तुति की और प्रदक्षिणा की। सभी माताओंकी चरण-वन्दना की श्रीरामने, लक्ष्मणने, सीताने। माताओंने हृदयसे लगाया, आशीर्वाद दिया। स्वयं श्रीरामने शिविकाओंमें बैठाया उन्हें।

महर्षि वशिष्ठ तथा गुरुजनोंको, महारानी सुनयना तथा महाराज जनकको भी श्रीसीताराम एवं लक्ष्मणने प्रणाम करके रथमें बैठाया। सभीको स्नेह, सम्मान पूर्वक विदा किया गया।

भरतने पादुकाओंको पहिले हाथीपर स्थापित किया। जब राम-लक्ष्मणसे मिलकर, सीताकी पद-वन्दना करके भरत-शत्रुघ्न चलने लगे, श्रीरामने उन्हें स्वयं-रथमें बैठाया—'भैया भरत! अब पैदल जानेका आग्रह परित्याग करो!'

भरतने रथमें बैठनेसे पूर्व पादुकाओंको अपने मस्तकपर धारण कर लिया। इसी प्रकार रथमें बैठे उन्हें अयोध्या तक आना था। विदाके समयकी व्याकुलता—सभी रुदन कर रहे थे। श्रीराम-लक्ष्मणने दूर तक सबको पहुँचाया और तब लौटे जब आनेवालोंके रथोंकी ध्वजाएं भी अदृश्य होगयीं।

नन्दिग्रामका तपस्वी

अयोध्या और जनकपुरका समाज साथ ही लौटा। महाराज जनकको सुविधा होती, यदि उन्हें प्रयागसे अपने यहाँ जानेका अवसर मिलता; किन्तु भरतके आग्रहसे वे विवश थे। लौटते समय अग्रचर दलका केवल वह भाग आगे गया, जिसे जल, फल, दुग्धादिकी व्यवस्था करनी थी। शेष भागको अपने निर्माणका वह भाग उठाते-समेटते आना था, जिसका उठा लेना आवश्यक था। जिसकी उपस्थिति वहाँके लोगोंकी कृषिमें आगे बाधा बन सकती थी।

प्रयागमें महर्षि भरद्वाजके सबने दर्शन किये; किन्तु वहाँ रुकना नहीं था। महर्षिने भरतके संयम, शील तथा रामभक्तिकी प्रशंसा की। तीर्थ-पुरोहितोंको महाराज जनक तथा अयोध्याके समाजसे भी पर्याप्त दान प्राप्त हुआ। शृङ्गबेर-पुरमें निषादराजका सत्कार सबने सहर्ष स्वीकार किया।

चित्रकूटसे चलकर चौथे दिन भरत अयोध्या पहुँचे। सूने राजपथ, उजड़ी अयोध्या, जैसे प्रत्येक वृक्ष-लता भी पूछती हो—'हमारे स्वामी आये?'

महाराज जनकको अयोध्याके राजसदनमें अपनी पुत्रियोंसे मिलने जाना था। वहाँ उन्हें न आहार लेना था, न जल। अतः महर्षि वशिष्ठके आश्रमके समीप उन्होंने अपना शिविर स्थापित किया। अपनी सभी पुत्रियोंसे मिलकर वे प्रसन्न हुए। उनकी तीनों कन्याएँ अद्वितीय थीं। उन महासतियोंका ढंग भले पृथक-पृथक हो—स्वभाव तथा रहनेका ढंग कहीं दो व्यक्तियोंका समान होता है। उन तीनोंकी स्थिति भी समान नहीं थी; किन्तु तीनोंने अपनी स्थितिमें उत्कृष्टतम रूपमें अपनेको सम्हाल लिया था।

'वत्से!' महारानी सुनयनाने उर्मिलाको अङ्कमें लिया तो सहज नेत्रोंसे अश्रुधारा चलने लगी। मुखसे शब्द नहीं निकल सका।

'मातः! आप रुदन करती हैं? आपको अपनी इस पुत्रीके सौभाग्यपर प्रसन्न होना चाहिए।' उस ओजस्विनीने अञ्चलसे माताके अश्रु पोंछे—'जीजी बनमें गयीं—क्लेश तो सबके भागका अकेले उन्होंने स्वीकार कर लिया। आर्यपुत्र

अग्रजकी सेवा करने गये और उर्मिलाको तीनों माताओंकी सेवाका सुअवसर दे गये । शासन-सञ्चालन कोई करे, राजसदनकी सञ्चालिका उर्मिला होगयी है और जीजी आकर भी इसका यह स्वत्व छीनने वाली नहीं हैं ।'

अनाभूषिना वह ओजस्विनी अम्लान थी । महारानी सुनयना तथा महाराज जनक भी सन्तुष्ट हुए । माण्डवी तथा श्रुतकीर्ति दोनोंका कहना उचित ही था कि उनकी तो कोई समस्या ही नहीं है । उनके स्वामी आगये हैं । वे जैसे रहेंगे, वैसे रहनेमें वे प्रसन्न हैं ।

पुत्रियोंको कुछ भी देकर पिताका परितोष कहाँ होता है । महाराज जनकने बहुत अधिक उपहार दिये । किसीको अस्वीकार करके महाराजको दुःखी नहीं करना था । सबसे मिलकर, मन्त्रियों, प्रजा-प्रतिनिधिओंसे प्रशासन सम्बन्धी पूछताछ करके महाराज जनकने महर्षि वशिष्ठसे आज्ञा प्राप्त की । सबसे विदा ली । भरत-शत्रुघ्नने दूर तक जाकर उन्हें विदा किया ।

'शत्रुघ्न ! तुम छोटे हो, अतः सेवाका सबसे अधिक भार भी तुमपर ही आता है ।' भरतने छोटे भाईसे महाराज जनकको पहुँचाकर लौटते समय ही मार्गमें कहा—'तुम स्वीकार करो, सहयोग दो तो भरत नियम-पूर्वक रहनेकी अपनी इच्छा पूरी कर सकता है ।'

'आज यह अद्भुत व्यवहार क्यों ?' शत्रुघ्न बोले नहीं । उन्होंने केवल हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया ।

'तुम किसी प्रकारके बाह्य त्यागका आग्रह करोगे तो भरतका कोई नियम चल नहीं सकेगा ।' भरतने ही कहा—'माताओंको, अन्तःपुरकी कुलवधुओंको भी कोई सम्हालने वाला चाहिए । मन्त्री, प्रजा, पुरजन सबको अपने मध्य एक सक्रिय शासक चाहिए । तुम यह सेवा स्वीकार कर लो ।'

भरतने मन्त्रियोंको, प्रजा-प्रतिनिधियोंको, महासेनापतिको और सेनाध्यक्षोंको एकत्र किया—'राज्य श्रीरामका है । हम सब सेवक हैं । वे हमारे स्वामी लौटें तो उन्हें उनका राज्य सम्पन्न मिलना चाहिए । आप सब अप्रमत्त रहकर कर्त्तव्य

पालन करेंगे तब यह सम्भव होगा। सबको पूरी सावधानीसे अपना कार्य सम्पन्न करना है।'

किसी पदाधिकारीका परिवर्तन नहीं किया गया। सबको अपने पदोंपर ही चौदह वर्ष रहना था। अपने कर्तव्यमें लगना था सबको। भरतने कहा—'महामन्त्री मेरे लिए पिताके समान हैं। इनकी आज्ञा हम दोनों भाई सादर स्वीकार करेंगे। शत्रुघ्न आप सबके साथ सहयोग करेंगे। आप जो भी आदेश देंगे, हम उसको क्रियान्वित करनेका पूरा प्रयत्न करेंगे।'

शासनकी व्यवस्था करके भरत कुलगुरुके श्रीचरणोंमें उपस्थित हुए। प्रणिपात करके उन्होंने प्रार्थना की– 'देव! भरत अत्यन्त दुर्बल है। राजसदन और नगर इसे ऐसा लगता है जैसे अभी निगल जायँगे। आप मुझे अयोध्यासे बाहर नन्दिग्राममें रहनेकी आज्ञा दें और कुछ नियम स्वीकार कर लेने दें; क्योंकि मेरे आराध्य अग्रजको जो सुख-सुविधा अप्राप्य है, उनका यह सेवक उसे स्वीकार नहीं कर सकेगा।'

'वत्स भरत! निर्मल अन्तःकरण पुरुषकी सहज प्रवृत्ति धर्माचरणमें होती है। उसे अपने आचरणके लिए धर्मशास्त्र देखनेकी आवश्यकता नहीं होती।' महर्षि वशिष्ठने भरतका आदर करके कहा—'तुम जो कहोगे, जो करोगे, वही लोकमें धर्माचरणके इच्छुकोंका आदर्श बनेगा। तुम भक्तिपथके पथिकोंका मार्ग प्रशस्त करो। तुम्हारे स्वीकृत नियम उनके हृदयको स्मरण करने मात्रसे निष्कल्मष करेंगे।'

भरतने नन्दिग्राममें पर्णकुटी बनवायी और कुलगुरुसे उत्तम मुहूर्त पूछकर उस पर्णकुटीमें सिंहासनपर श्रीरामकी चरण-पादुकाकी स्थापना की। राज्याभिषेककी पूरी विधिसे पादुकाओंका अभिषेक, पूजन हुआ। भरतने पादुकाओंकी सेवा स्वीकार की। उन्होंने अपनेको श्रीराम पादुकाका प्रतिनिधि घोषित किया।

सिंहासनके सम्मुख भूमिको सामान्य स्तरसे भी नीचा करके उसमें कुशकी साथरी बिछा ली भरतने अपने लिए। वे जटाधारी, वल्कल वस्त्र, ऐणेयाजिनोत्तरीय उस साथरीपर कभी पैर फैलाकर भी नहीं बैठते थे। पादुकाएँ आराध्य थीं। उनके सम्मुख शयन अथवा पैर फैलानेकी अशिष्टता कैसे की जा सकती थी। कभी छत्र, कभी चमर, कभी व्यजन लिये और कभी अर्चन करते भरत अहर्निश पादुकाओंकी परिचर्यामें लीन। पूरे चौदह वर्ष अयोध्याके इस राजकुमारने बैठे-बैठे यह साधना की।

पूरे चौदह वर्ष नन्दिग्रामका यह तपस्वी एक ही आहारपर रहा। उसका आहार था गोमूत्र यावक अर्थात् गायको यव खिलानेपर गोबरमें-से जो यव निकलें, उन्हें धोकर गोमूत्रमें पका लिया गया। यह भी प्रतिदिन नहीं। एकादशी, शिवरात्रि, प्रदोषादि पर्व पड़ते ही रहते और भरतको इन व्रतोंसे भी सन्तोष नहीं था। कभी कृच्छ्र चान्द्रायण और कभी तप्तकृच्छ्र चलता था उनका।

कुशकी साथरीका आसन। वल्कल वसन। मुखपर निरन्तर 'राम राम राम' रटन और आहारके नामपर गोमूत्र यावक भी व्रतोंकी बहुलतामें कभी कभी। कृश होता गया भरतका ज्योतिर्मय देह। उनकी तपस्या—मुनियोंके लिए भी अकल्पनीय तप! सात्विक तपके सदा सदाके लिए शाश्वत प्रतीक भरत—कोई दूसरा नाम सृष्टि ऐसे तपके सन्दर्भमें कभी नहीं पा सकेगी।

अयोध्याकी व्यवस्था

'अपना यह साम्राज्य अग्रजने मुझे न्यास (धरोहर)के रूपमें चौदह वर्षके लिए दिया है।' भरतने पादुकाओंका अभिषेक करनेसे पूर्व घोषणा की–'उनकी ये पादुकाएँ ही सिंहासनासीन होंगी। इनके ऊपर ही छत्र लगेगा। सच्चिदानन्दघन अग्रजकी इन चिन्मय पादुकाओंका प्रतिनिधि मात्र है भरत।'

नन्दिग्राममें भरतकी पर्णकुटीके सम्मुख विशाल तृण-मण्डप आवश्यक होगया ; क्योंकि शासनका सञ्चालन जहांसे होना है, मन्त्रिगण, प्रजा-प्रतिनिधि, ऋषि-मुनि, प्रजाके लोग और अतिथि अभ्यागतोंको भी वहीं आना था। वहाँ उनके बैठनेको स्थान चाहिए। किसी राजसभाका भव्य निर्माण भरतको वहाँ स्वीकार नहीं था, अतः तृण-मण्डप ही बनना था।

'राज्य श्रीरामका है। प्रत्येक व्यक्तिको अपने कर्त्तव्य-पालनमें पूरा श्रम करना चाहिए।' भरतने घोषणा की—'किसीको किसी प्रकारका कष्ट, कोई असुविधा हो तो उसे सूचित करनेमें सङ्कोच नहीं करना चाहिए। शासन उस असुविधाको अविलम्ब दूर करना अपना प्रथम कर्त्तव्य मानेगा।'

'शत्रुघ्न ! किसी आर्य नरेशकी तो चर्चा ही व्यर्थ है, कोई असुर भी इतना अज्ञ नहीं कि अयोध्यापर आक्रमण करके अपने विनाशको आमन्त्रण दे।' भरतने भाईसे सस्नेह कहा—'कुलगुरुने साम्राज्यकी सुरक्षाका दायित्व चौदह वर्षके लिए अपनी कामधेनु नन्दिनीको सौंप दिया है, यह बात अब पृथ्वीपर पूर्णतः प्रचारित हो चुकी है, नन्दिनीकी असीम शक्तिसे कोई अपरिचित नहीं है। कोई धृष्टता करे तो कुलगुरु दो क्षण भी उसे क्षमा नहीं करेंगे। अतः रक्षाकी ओरसे तो हम दोनोंको उन्होंने निश्चिन्त ही कर दिया है। महासेनापति अपने सैनिकोंको प्रजाकी सेवामें नियुक्त कर सकते हैं। सैनिक अभियानके समय सेना सेतु-निर्माण-पथ प्रशस्त करना प्रभृति अनेक कार्य करती है। ये कार्य प्रजाकी सुविधाके लिए भी किए जा सकते हैं।'

'आप सब भरतकी असमर्थताको क्षमा करेंगे।' प्रजा-प्रतिनिधियोंसे हाथ

जोड़कर जब भरतने प्रार्थना की, सबके हृदय गद्‌गद्‌ होगये—'भरत कहीं स्वयं उपस्थित होनेमें असमर्थ होगया है। भाई शत्रुघ्न शक्तिभर प्रयत्न करेंगे ; किन्तु अयोध्यासे अनुपस्थित रहना उनके लिए भी सम्भव नहीं रहा है। राज्यके दूरस्थ लोगोंकी, वनवासियोंकी, पर्वतीय लोगोंकी आवश्यकतापर आप सब दृष्टि रखेंगे। राज्यके जो अधिपति वनमें जो बसे हैं, वे आप सबके अपने हैं। इस समय प्रजाकी सेवा उनकी सेवा है।'

आवश्यकता तब क्लेश देती है, जब अन्तरमें असन्तोष होता है। वाह्य भोगोंसे अनपेक्ष, अत्यल्पमें सन्तुष्ट व्यक्तिकी आवश्यकता कितनी ? उसे असुविधा, असन्तोष क्यों होने लगा। समस्त प्रजा तपःपरायणा होगयी थी। राज्यके सर्वोच्च प्रतिनिधि भरतने जिस प्रकारका जीवन स्वीकार कर लिया था, उसे सुनकर, देखकर मुनियोंको भी अपना जीवन विलासी प्रतीत होने लगा था। ऐसे राज्यकी प्रजाको कभी असुविधाका अनुभव होगा ?

पूरी प्रजा स्वतः संयमी बन गयी। श्रीरामके लौटने तक किसीके सन्तान हुई भी तो वनवासके केवल प्रथम वर्षमें ; क्योंकि वनवासके पूर्व ही वे शिशु माता-के गर्भमें आचुके थे।

समाजमें जब किसी बातके प्रति गौरव बुद्धि होजाती है, उसे अपना लेना सुखद, सम्मानप्रद होजाता है। लोगोंमें स्पर्धा प्रारम्भ होगयी, कौन कितने तप-त्यागका जीवन व्यतीत कर सकता है। कौन कितने कममें निर्वाह कर सकता है। फलतः आवश्यक पदार्थोंकी बहुलता होगयी। क्रयकी या द्रव्य-विनिमयकी बात कठिन होगयी। सब देना चाहते थे ; किन्तु विनिमय या मूल्य लेना सबको अपमान-जनक लगता था। केवल दूसरेकी सुविधाके लिए, जितना अल्पतम लिया जासके, उतना मूल्य या विनिमय वस्तु लेने लगे।

इसके साथ ही दूसरी स्पर्धा भी चल रही थी—'कौन कितना अधिक श्रम कर सकता है। कितना उत्पादन कर सकता है। अपने हृदयधन सम्राटकी कितनी सेवा कर सकता है।'

लोगोंको प्रशासनकी सहायता अपने शौर्य—अपनी श्रमशक्तिका अपमान लगती थी। पथ एवं सेतु-निर्माण, कूप, वापी, सरोवरोंका जीर्णोद्धार तथा आवश्यक स्थानोंपर निर्माण लोगोंने अपने स्थानीय लोगोंके सहयोगसे पूर्ण कर

लिया। शासनकी सहायता केवल उन वृहत्तर निर्माणोंमें माँगी गयी, जो स्थानीय सामूहिक श्रमसे सम्भव नहीं थे।

'आप अन्यत्र आवश्यक स्थानोंपर सहायता करें।' प्रशासनके सेवकोंको, सेनाको प्रायः यही सुनना पड़ता था—'यहाँका कार्य तो हमारा अपना कर्त्तव्य है। हम शीघ्र उसे समाप्त कर देंगे।'

जब जनतामें धर्माचरणकी प्रतिष्ठा होती है, आधि-व्याधिके देवता कोई दुस्साहस नहीं करते। महामारी, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, हिमपात, तुषार-पात, लू, पक्षियों, पशुओं, चूहों या टिड्डियोंके उपद्रव वैसे भी त्रेतामें सुने नहीं जाते थे। श्रीरामके राज्यकी घोषणाके पश्चात् तो ये उत्पात भी पृथ्वीपर सम्भव हैं, लोग यही विस्मृत होगये।

सुरोंने—वर्षा, वायु, अग्नि आदिके अधिदेवताओंने, ग्राम तथा वन देवोंने, वृक्ष-सरिता-गिरि-सागरके अधिदेवताओंने भी मान लिया कि अयोध्याकी प्रजा उनकी आराध्य है। उसकी जितनी सेवा वे कर सकें, उतना उनका सौभाग्य।

'हम जब शासनकी अन्नशाला, पशुशाला, कोषागारसे कुछ भी उठा ले जानेको स्वतन्त्र हैं, वहाँ कुछ भी रख जानेको स्वतन्त्र क्यों नहीं हैं?' भरतके समीप आकर प्रजा-प्रतिनिधियोंने कह दिया—'आपको, आपके अनुजको, आपके कर्मचारियोंको किसीको भी रोकनेका स्वत्व नहीं है। राजकीय अन्नशालाएँ, पशुशालाएँ, कोषागार हमारे सम्राट्के हैं। उनमें कुछ भी रखनेको हम स्वतन्त्र हैं।'

जलाशयोंके समीप उत्पादनका षष्ठमांश लोग रख दें और उस राजकीय करको राजसेवक उठा लाया करें—यह नियम बन्द नहीं हुआ; किन्तु लोग यह षष्ठमांश देकर जो बचता था, उसका भी अधिकांश भाग स्वयं राजकोषमें रखने लगे। उनका कहना था—'अनावश्यक परिग्रह पाप है। प्रशासनको उत्पादनका अनावश्यक भाग सम्हालना चाहिए।'

शत्रुघ्नका अश्व पर्याप्त दूरी तकके प्रदेशोंको घूम आता था। नगरमें प्रति-दिन ही वे एक बार घूम लेते थे; किन्तु शासन-व्यवस्थामें कुछ करनेको रहा ही नहीं था। सामान्यजन स्वतः बहुत अधिक वे कार्य भी करने लगे थे, जो राजकीय कर्मचारियोंको करना था।

राजसदन—राजकीय अन्तःपुरमें जो माताएँ थीं, कुलवधूएँ थीं, सेविकाएँ थीं, इनकी सेवा—इनको कुछ खिला देना ही कठिन काम था। इनकी व्यथा असीम थी। शत्रुघ्नको अपनी सहधर्मिणीका पूरा सहयोग इसी कार्यमें लेना पड़ रहा था।

व्रत, संयम-नियम, जप-उपासना-अनुष्ठान अयोध्याका—पूरे राज्यके नागरिकोंका जीवन बन गया था। ऐसे राज्यकी व्यवस्था—व्यवस्था तो स्वयं चल रही थी। राज्यके कर्मचारियोंको केवल उसका द्रष्टा बने रहना था।

महतीया माण्डवी

'आपने भी ज्येष्ठके समान उपोषित रहनेका निर्णय किया है ?' श्रुतिकीर्ति अपनी बड़ी बहिनको किसी प्रकार आहार नहीं करा सकीं, तब उन्होंने उर्मिलाके सम्मुख रुदन करके अपनी असफलता सूचित की। उर्मिलाने आते ही माण्डवीसे अत्यन्त आग्रह-पूर्वक पूछा—'आपने आज कन्द-मूल भी स्वीकार नहीं किया ?'

'मेरे आराध्यने गोमूत्र यावक मात्र लेनेका निर्णय किया है।' माण्डवीने सरल भावसे कहदिया—'उसमें भी उनका तप्त कृच्छ्र व्रत प्रारम्भ होगया है आज-से। यह उनकी किंकरी ; किन्तु तुम दोनों चिन्ता क्यों करती हो ? हम नारियाँ पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक व्रत कर सकती हैं ; यह तुम जानती हो। उनका प्रसाद प्राप्त होता रहेगा माण्डवीको, यह प्रबन्ध तो देवरने कर दिया है।'

'आपने सुना होगा कि आपके वनवासी देवरने दीर्घ कालीन व्रत प्रारम्भ कर दिया है।' उर्मिला अपने स्वामीका स्मरण करके अश्रु-वर्षा करते लगी थीं।

'बहिन ! शैशवसे तुम छोटी होकर भी हम सबकी अग्रणी रही हो।' माण्डवीने हृदयसे लगा लिया छोटी बहिनको—'जीजी भी तेजस्विताके सम्बन्धमें तुम्हारा नाम लेती थीं। तुम्हारी समता हम किसी क्रीड़ामें कभी नहीं कर सकीं ; आज भी नहीं कर सकेंगी। सुना तो यह भी कि देवरने वहाँ वनमें रात्रि विश्राम भी त्याग दिया है।'

'उन्होंने इस दासीको अपना आहार निद्रा दोनों दे दिया।' रुदन भरा हास्य भी होता है, यह उर्मिलाके हास्यने सिद्ध कर दिया—'उनके लिए भी अब उर्मिला ही आहार करती है और सो लेती है। आपके अग्रज एवं बड़ी जीजीकी सेवामें गये हैं वे, अपने कर्तव्यमें अप्रमत्त हैं, यह सम्वाद उनकी इस सेविकाको सन्तुष्ट ही नहीं, सुपुष्ट भी करता है।'

'तुम कितना आहार-निद्रा ले लेती हो, यह तुम्हारा शरीर ही सूचित कर रहा है।' माण्डवीने स्नेह पूर्वक बहिनके शरीरपर हाथ फेरा—'लेकिन यहाँ तो सभीकी एक-सी अवस्था है। अयोध्याके सभी कुमार एक-से तपस्वी हैं, किसीके सम्बन्धमें भी कुछ कहने योग्य नहीं।'

'केवल देवर हैं कि उन्हें सबसे श्रेष्ठ कहना पड़ेगा।' उर्मिलाने कहा—'जीजी ! अन्तरमें महावाडवका संताप लेकर उनके समान सुसज्जित रहने, सुप्रसन्न मुख बनाये रहनेका व्रत कोई मुनीश्वर भी अपना नहीं सकते। वे मेरे समीप आते हैं, तभी कुछ सहज हो पाते हैं।'

'मुझे श्रुतिकीर्तिको देखकर अतिशय दया आती है।' माण्डवीने कहा—'वह अब मेरे सम्मुख भी सहज नहीं हो पाती। मेरे समीप भी जब शृङ्गार करके, आभरण धारण करके आती है, उसका रक्त हीन मुख उसके अन्तरकी व्यथा स्वयं कह देता है। अब वह अपनी इस सहोदराको भी विश्वसनीय नहीं मानती।'

'आप इतनेपर भी तो उसका अनुरोध स्वीकार नहीं करती हो। आज वह फूट-फूटकर रो पड़ी मेरे सम्मुख। उसके शृङ्गारमें अविश्वास है जीजी ?' उर्मिलाने छोटी बहिनका पक्ष लिया—'वह बच्ची, आपको प्रसन्न देखनेके लिए यह सब करना प्रारम्भ किया और आप ....।'

'उर्मिले, मैं अत्यन्त दुर्बल हूँ। तुम जानती हो कि बाल्यकालसे कोई दायित्व सम्हालना माण्डवीको नहीं आया।' रुदन क्रन्दनमें परिवर्तित होने लगा—'मेरे आराध्य वहाँ नन्दिग्रामकी पर्णशालामें बैठकर भी अपने अग्रजके शासनका सम्पूर्ण दायित्व सम्हाले हैं। देवरसे शासनका विवरण लेते हैं, आदेश देते हैं; किन्तु मैं यहाँ राजसदनमें माताओंकी पद-वन्दना करने भी नहीं जा पाती। अपनी छोटी बहिनोंको सम्हालनेके स्थानपर मैंने स्वयंका भार ही तुम दोनोंपर डाल रखा है।'

'आप इस प्रकार कहकर हम दोनोंको इतनी दूर क्यों करती हो जीजी ?' उर्मिला चरण पकड़ने झुकी; किन्तु अङ्कमें सम्हाल ली गयी। सिसकते हुए उन्होंने कहा—'आप इस राजसदनकी अधिदेवता हो। मूर्तिमती तपोधिदेवता। ज्येष्ठने अम्बा कैकेयीको माता कहना ही अस्वीकार कर दिया। आप उनका आदर ही तो करती हैं, किसी माताकी पद-वन्दना न करने जाकर। आप उनके सदनमें पधारें, यह ज्येष्ठके अनुरूप नहीं है और विषम व्यवहार तो उनकी अवज्ञा होगी। बड़ी अम्बा अत्यन्त प्रसन्न हैं इससे।'

'वे तपोधना, परम यशस्विनी इस बालिकाको स्मरण करती हैं ?' माण्डवीने पूछा।

'वे अनेक बार कहती हैं—'मेरी माण्डवी वधू शीलका साक्षात् स्वरूप है। वह इस राजसदनकी राजलक्ष्मी'-उर्मिलाने भरे कण्ठ माता कौसल्याके शब्द

सुनाये—'उसके शील, समझदारी और आराधनाकी सीमा नहीं। मेरा भरत परम तापस होगया है ; किन्तु मेरी यह वधू तो उसके यशको भी उज्ज्वल।'

'मत कह—मत कह बहिन।' माण्डवीने उर्मिलाके अधरोंपर कर रख दिया—'यह सुनना भी अपराध है। यह उनकी दासी है। उनकी उच्छिष्ट-भोजनी इसे बनी रहने दे और शुभ कामना कर कि यह अपनेको उनके योग्य सिद्ध कर सके।

'इसका अर्थ है कि आप गोमूत्र यावक भी तभी ग्रहण करोगी जब नन्दिग्राम-से वह प्रसाद होकर आवेगा।' उर्मिलाने कुछ रूखा मुख बनाया—'मैं बड़ी लालसा लेकर आयी थी कि आपके यहाँ आज इसके रन्धनको सीख सकूँगी और इसके सुधा स्वादसे परिचय हो जायगा।'

'तुम अन्न खाओगी ? खा सकोगी?' माण्डवीने बहिनके मुखकी ओर ध्यान पूर्वक देखा।

'जीजी ! आपके वनवासी देवर तो अनाहार करते हैं।' उर्मिलाके नेत्र इस बार आर्द्र नहीं हुए—'किन्तु उर्मिला अनाहार करने लगे तो जिनकी सेवाका भार वे और बड़ी जीजी इसपर बिना कहे डाल गयीं, वे पूजनीया अम्बा प्राण ही त्याग देंगी। उर्मिलाके एक ज्येष्ठ वनमें कन्द-मूल-फल स्वीकार करते हैं और दूसरे गोमूत्र यावक। लेकिन आप इस गोमूत्र यावकसे अपनी छोटी बहिनको वञ्चित ही रखना चाहती हैं।'

'छिः ! यह क्या तेरे योग्य है।' माण्डवीने स्नेहके साथ कहा—'आज यही श्रुतिकीर्ति कह रही थी। देवर भी यही हठ करेंगे। अब क्या माताओंको भी इस आहारपर रखना है ? उर्मिला ! मेरी शपथ कर कि इस आहारकी चर्चा तू राजसदनमें नहीं करेगी। यह एकके लिए ही रहने दे।'

'ज्येष्ठ वहाँ नन्दिग्राममें तप करेंगे और आप राजसदनमें।' उर्मिलाने इसबार अत्यन्त समीप मुख लाकर पूछा—'आपके साथ तपस्यामें स्पर्धा मैं नहीं करूँगी। लेकिन आपके अधर निरन्तर हिलते रहते हैं। अपना जपमन्त्र आप अपनी छोटी बहिनको नहीं बतलाओगी ?'

'अब जीजी नहीं हैं तो तुम बाल्यकालके समान मुझे खिझाने, लज्जित करने लगी हो ? इस अवस्थामें भी तुम्हारा नटखटपन गया नहीं ?' माण्डवीने

मस्तक झुकाया—'सब जानते हैं कि स्वामी अपने अग्रजका नाम रटते रहते हैं ; किन्तु उनकी यह सेविका—उर्मिला ! तुम्हारे अधर नहीं हिलते ; किन्तु तुम्हारा हृदय भी तो कोई नाम रटता है । नारी किसका नाम रटेगी, यह भी क्या पूछने-की बात है ? चाहकर भी वह नाम मुखसे बोला जा सकेगा ?'

'यहाँ तपस्वी तो तीन ही हैं ।' उर्मिलाने अब तनिक स्मित पूर्वक कहा—'नन्दिग्रामके महातापस, उनकी राजसदनमें स्थित अभिन्ना और आपके वनवासी देवर ।'

'मेरे उन देवरकी अर्धाङ्गिनी छलनामयी है । यह क्या करती है, कोई देख नहीं पाता ।' माण्डवीने पूछा—'उर्मिला, अब तू यह तो बतला ही दे कि तू अपने अन्तःपुरके उद्यानको अरण्य क्यों बना रही है । सुना है कि तूने मालियोंको वहाँ कुछ भी करनेसे रोक दिया है ।'

'जीजी ! मैं जानती हूँ कि आप स्वयं दिनभर अपने उद्यानकी सेवामें लगी रहती हैं ।' उर्मिलाके नेत्र टपकने लगे—'जब उद्यानके तुलसी पत्र-पुष्प ज्येष्ठकी अर्चामें सार्थक होते हों, आपका श्रम समझमें आता है । जो चौदह वर्ष अरण्यमें रहकर लौटेंगे, वे अरण्यके अभ्यासी होकर ही तो लौटेंगे । उन्हें सज्जित उद्यानकी कृत्रिमता रुचेगी !'

'उन्हें लौटनेपर भी तू कन्द-मूल दे पायेगी ? अपनी उर्मिलाको वे तपस्विनी बनी देखकर प्रसन्न होंगे ?' माण्डवीने बहिनको समझाया—'लौटनेपर उन्हें तेरी ललित कला रुचेगी, राजभवनके भोग रुचेंगे, सुसज्जित पुष्पोद्यान रुचेगा । वे यहाँ-के सम्राटके प्राण अपने दोनों अग्रजोंका लालन स्वीकार करने लौटेंगे ।'

'जीजी ! तुम महत्तमा हो । तुम्हीं ठीक ज्येष्ठके और अपने देवरके भी हृदयको समझती हो ।' उर्मिला नेबहिनकी पद वन्दना की—'मैं आपका आदेश स्वीकार करूँगी ! किन्तु आप मेरा अनुरोध...... ।'

'उर्मिला ! मेरे आराध्य जैसे रहते हैं, वैसे मुझे रहने दे ।' माण्डवीने दोनों हाथोंमें बहिनके दोनों हाथ लिये—'मैं तेरी समता नहीं कर सकती । माताओंकी सेवाके लिए तुम दोनों, जो स्वीकार कर रही हो, वह अस्वीकारसे अधिक असह्य है ।'

अयोध्याके अन्तःपुरकी वे तीनों आराधनामयी—वे तीनों महतीया उनमें तुलना करनेकी बात सोचना भी अपराध है । उनमें किसी एकके भी चरणोंका स्मरण अन्तरमें आवे तो मानव कृत्-कृत्य होगया ।

———

काक जयन्त

अच्छे सद्गुणोंको भी अभिमान दुर्गुण बनाकर विपत्तिका हेतु बना देता है। इन्द्र-पुत्र जयन्त सुरोंमें सर्व श्रेष्ठ शूर हैं। वासुदेवांश होनेके कारण उन्हें भी उपेन्द्र कहा जाता है। इन्द्र भी जब असुरोंके आक्रमणके समय असमर्थ होने लगते हैं जयन्तके विक्रमने अनेक बार सुरोंको विजयी बनाया है। शौर्य जहां जयन्तमें सहज है, सुरोंकी भोगपुरीमें वे अकेले संयमी हैं। अपनी पत्नीमें ही सन्तुष्ट जयन्तको अप्सराओंमें कोई अभिरुचि नहीं। अपने पिताका मनोरञ्जन करने वाली अप्सराओंका वे सम्मान करते हैं। उन सबसे परिहास भी उन्हें प्रिय नहीं है।

जयन्तका संयम—लेकिन इस संयमने उन्हें अभिमानी बना दिया। वे राक्षसोंके साथ समरमें मेघनादसे पराजित क्या होगये, उनके मनमें ही यह बात बैठ गयी कि संयम ही सब कुछ है। उनके समान मेघनाद भी तो विलासी पिताका परम संयमी, स्वपत्नीमें सन्तुष्ट रहने वाला शूर है। उन्होंने समझ लिया था कि मेघनादके संयमने उसे उनके समान बना दिया और उसके उग्र तपने श्रेष्ठत्व प्रदान किया। अब जयन्त समझ नहीं सकते कि जिसमें कठोर तप एवं सुदृढ़ संयम नहीं है, वह शक्तिशाली भी हो सकता है।

सुरोंको दीर्घ कालसे दशग्रीवका सेवक होकर रहना पड़ रहा है। उस दुर्दान्त पराक्रमको उसके पुत्रकी शक्तिने अजेय बना दिया है। अब अति दीर्घ प्रतीक्षाके पश्चात् स्वर्गमें आशाकी उज्ज्वल किरण आयी है। अब सुर और सुरेन्द्र भी प्रायः चर्चा करते हैं कि दशग्रीव रूपी दारुण विपत्ति शीघ्र समाप्त होने वाली है। परम पुरुषने अयोध्यामें अवतार लिया। वे अनन्त करुणावरुणालय अनुजके साथ अरण्य-में आगये हैं। देवताओंका दुर्दिन अब अन्तके सन्निकट है।

जयन्त सुरोंके सेनापतिके भी आधार हैं। कहीं संघर्षमें रावणसे वे अयोध्या-के राजकुमार सफल न हुए—सुरोंके प्रति दशग्रीव अधिक निष्ठुर हो उठेगा। वे परम पुरुष—लेकिन जयन्तकी आस्था दिव्यत्वमें नहीं है। वे स्वयं भी तो देवता हैं। संयम और तपमें है उनकी आस्था। मेघनादसे अधिक तप उनमें हो तब वे विजयी हो सकते हैं, यह जयन्तके सोचनेकी दिशा है। उनके मनमें परीक्षा कर

लेनेकी प्रवृत्ति हुई। सुरोंकी सुरक्षाके लिए जिसपर सब निर्भर है, वह अपनी सहायता करने वालेकी शक्ति संघर्ष उपस्थित होनेसे पूर्व जान लेना चाहे, यह स्वाभाविक है।

जयन्तको श्रीरामसे संघर्ष नहीं करना था, केवल शक्ति-परीक्षा करनी थी। उन्होंने काकका रूप धारण किया; क्योंकि स्थलचर बनकर भागनेकी पूरी सुविधा नहीं प्राप्त होती थी। नभचरोंमें भी काक ही लगा जो मनुष्यके बहुत समीप भी जा सकता हो और कुटिल चेष्टा भी करता हो।

शक्ति-परीक्षा ही करनी हो तो प्रमुखकी की जानी चाहिए। मध्यम अथवा कनिष्ठकी परीक्षासे लाभ? जयन्तको लक्ष्मणकी ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। उन्हें श्रीरामकी शक्तिमें ही सन्देह होरहा था तो लक्ष्मणकी ओर उनका ध्यान कैसे जा सकता था।

उस दिन जब काले काकके रूपमें इन्द्र-पुत्र चित्रकूट पहुँचा, दिनका तृतीय प्रहर था। आकाशमें सघन मेघ थे; किन्तु वर्षाकी सम्भावना नहीं थी। लक्ष्मण कुश, समिधा, कन्द, मूलादि लेने वनमें चले गये थे।

ग्रीष्मकालका अन्तिम भाग था। वन श्वेत, सुकुमार, सुरभित पुष्पोंसे झूम रहा था। श्रीरामने स्वयं अपने वल्कलमें ढेरसे कुसुम चुने। यूथिका, जाति, मल्लिका, श्वेतश्री, मौक्तिका, सुरभि सारिका—अनेक प्रकारके सुमन और सबको लेकर मन्दाकिनीके जलका स्पर्श करती शिलातपपर आकर बैठगये। कदलीतन्तुके सूत्रको लेकर उन्होंने पुष्पाभरण बनाने प्रारम्भ किये। समीप बैठी श्रीजनक-नन्दिनी स्वामीके करोंकी कला मुग्ध नेत्रोंसे देखती रहीं।

स्वयं कुसुमाभरण बनाकर श्रीरामने मैथिलीका शृङ्गार प्रारम्भ किया। भुजाओंमें केयूर, करोंमें कङ्कण, कटिमें मेखला, चरणोंमें नूपुर पहिनाये पुष्पोंके। वेणीका शृङ्गार करके उसमें मोटी-सी मौक्तिका माला पहिना दी। कण्ठमें तो लम्बी मोटी माला पहिनानी ही थी। शृङ्गार करके स्वयं मुग्ध नेत्रोंसे देखते बोले—'आज वनदेवी अपने पूरे शृङ्गारमें प्रकट हुई हैं।'

'आप इस सबमें श्रान्त होते रहे।' स्वामीकी ओर सप्रेम देखकर सस्मित श्रीजनकराजतनयाने कहा—'मध्याह्न विश्राम आपने आज किया ही नहीं।'

'तुम्हें इस रूपमें देखकर मेरे नेत्रोंको, मनको जो सुख प्राप्त होरहा है।' श्रीरामकी दृष्टि, स्वर सबने मैथिलीको आनन्द विभोर कर दिया।

'अब आप तनिक विश्राम कर लें।' जनकजाने सलज्ज स्वरमें कहा। श्रीरामने भी यह प्रेमाग्रह स्वीकार कर लिया। वही स्फटिक-शिलापर ही वैदेहीके दक्षिण उरुपर सिर रखकर वे लेट गये। सरिताका तट, शीतल, मन्द, सुरभित पवन, उन कमल लोचनने नेत्र बन्द कर लिये। श्रीजानकी अतिशय प्रेम पूर्वक स्वामीकी जटाओंको सहलाती रहीं।

'ये वनमें आकर भी कोई तप तो कर नहीं रहे हैं।' जयन्त काक बना समीपके वृक्षपर बैठा सब देख रहा था। 'इतनी विलासिता तो मुझमें भी नहीं है।'

स्वर्गपुरीमें जयन्त-पत्नीका शृङ्गार सेविकाएँ—गन्धर्व-कन्याएँ ही करती थीं। लङ्कामें मेघनादको भी ऐसा अवसर नहीं मिलता था। जयन्त सोच रहा था—'ये इनकी भार्या हैं; किन्तु दिनमें यह शृङ्गार और यह दिवा-शयन!'

देवताओंको मनुष्यके विरुद्ध कुछ करनेका अवसर तभी मिलता है, जब मनुष्य अपनी मर्यादाका कहीं अतिक्रमण करे। कहीं प्रमाद करे अपने कर्त्तव्यमें। सुरेन्द्रके पुत्रको जब भ्रम होगया—परम पुरुषकी परीक्षा आवश्यक प्रतीत हुई तो उसे यह दिवा-शयन वनवासी तापसका प्रमाद प्रतीत हुआ। उसे भ्रम होगया कि उसे अब उत्पातका अधिकार मिल गया है।

जयन्त उड़ा, वह श्रीजनक-नन्दिनीकी ओर झपटा। एक बार—दो बार—जयन्तका साहस नहीं होरहा था स्पर्श करनेका; किन्तु जो निखिलेश्वरी वहाँ शिला-तलपर अपने स्वामीका सिर अङ्कमें लिये आसीन थीं, उन्होंने कोई भय नहीं प्रकट किया। वे निष्कम्प बैठी रहीं। उनके तो सभी शिशु हैं और शिशु माताके साथ अनेक बार धृष्टता करते ही हैं। उन्होंने काककी ओर सस्मित देखा। हत भाग्य काकने वह प्रसन्न स्मित देख लिया होगा।

कुटिल, क्रूर, कुपुत्र काकने अपने पञ्जे और चोंचसे श्रीमैथिलीके वाम वक्षपर आघात किया और झपट्टा मारकर सम्मुख सरिताके मध्य स्थित एक छोटे वृक्षपर जाबैठा। सिहर उठा श्रीवैदेहीका शरीर; किन्तु उस असह्य पीड़ामें भी धरानन्दिनी स्थिर बैठी रहीं।

वक्षसे रक्तकी बूँदें टपकने लगीं। भालपर उष्ण शोणित बिन्दुके टपकनेसे श्रीराम चौंककर उठ बैठे। उन्होंने पत्नीकी ओर देखा और सम्मुख दृष्टि उठायी। वृक्षकी शाखापर काक अपने पञ्जेके रक्तको चाटलेनेके प्रयत्नमें था। उसकी चोंचमें भी रक्त लगा था। कुछ पूछना नहीं पड़ा। समीपसे दो सींकें उठालीं। एकको धनुषाकार मोड़ा और दूसरीको शरके समान सन्धान करके धीरेसे छोड़ दिया।

कहाँकी सींक—वह मन्त्र एवं सङ्कल्पको सर्व समर्थकी सङ्कल्प शक्तिको पाकर प्रज्वलित ब्रह्मास्त्र बना वाण दौड़ा उस काकके पीछे। भागा भयभीत जयन्त। वह बार बार पीछे देखता पूरी शक्तिसे उड़ा।

'मेरा शरीर भस्म हुआ जा रहा है।' सीघ्रे अमरावतीकी राजसभामें पिता-के पदोंके समीप गिरकर पुकार की उसने—'अपने पुत्रकी प्राण-रक्षा करें।'

'जयन्त! अस्त्रज्ञ होकर तुम मुझसे यह आशा करते हो?' सुरोंको किसीका कृत्रिम रूप पहिचाननेमें बाधा नहीं पड़ती। लेकिन देवेन्द्रकी वाणीमें व्यथाके साथ विवशता थी—'तुम जानते हो कि ब्रह्मास्त्रको व्यर्थ करनेकी शक्ति सुरपतिमें नहीं है।'

'ब्रह्मास्त्रको स्वर्गका कोई लोकपाल वारित नहीं कर सकता।' जयन्त वहाँ-से भागा। उसके हृदयमें मन्थन चल रहा था—'ब्रह्मास्त्रके लिए उपयुक्त वाहन अभीष्ट होता है। सामान्य शर भी ब्रह्मास्त्रका तेज सहन नहीं कर पाता और उन्होंने केवल एक इषीका (सींक) उठायी थी। जो तृणको सुरासुरके लिए अमोघ ब्रह्मास्त्र बना सकते हैं—मैंने उनका अपराध कर डाला?'

'भगवन्! अधम जयन्तकी अपने अस्त्रसे रक्षा करें!' परीक्षा पूरी होगयी; किन्तु उसके प्रयत्नमें प्राण-सङ्कटमें पड़ जायँगे, यह कहाँ जयन्तने सोचा था। वह स्वर्गसे भागकर ब्रह्मलोक पहुँचा। आशा थी कि भगवान् ब्रह्मा कृपा करके अपना अस्त्र शान्त कर देंगे। सृष्टिकर्ताके चरणोंमें ही गिरा वह।

'जयन्त! अपने अस्त्रकी महिमा मैं स्वयं कैसे समाप्त कर सकता हूँ।' स्रष्टा-ने इन्द्र-पुत्रकी उपेक्षा करदी। उनकी सृष्टिमें सहस्रशः प्राणी मरते ही रहते हैं। एक देवता मर जाय तो उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा। शरणागत रक्षाका व्रत सृष्टिकर्ता निभाने बैठें तो चल चुकी उसकी सृष्टि। ब्रह्माजी अपने सृजनमें लग गये।

'देव आशुतोष ! शरणागत वत्सल ! पाहिमाम् !' जयन्तने ब्रह्माजीकी उपेक्षा देखी। वह वहाँसे उड़ता कैलास पहुँचा। नन्दीश्वर रोक दें, इसके पूर्व ही वह वट वृक्षके नीचे आसीन भगवान् गङ्गाधरके सम्मुख गिरा। उसका सौभाग्य था कि शशाङ्कशेखर समाधिमें स्थित नहीं थे।

'केवल ब्रह्मास्त्रको शमन करनेकी बात नहीं है वत्स !' भगवान् नीलकण्ठ प्रलयङ्कर हैं। उनके लिए शरीरोंकी उत्पत्ति-विनाश अर्थ हीन है। जीव अविनाशी है। अतः उन्हें जयन्तकी आकुलता उसकी अज्ञता लगी—'श्रीरामके सङ्कल्पको व्यर्थ करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। तुम अपना देह दग्ध क्यों नहीं होजाने देते ? श्रीरामके शरसे परिपूत प्राणी तो परम पद पा लेता है।'

जयन्त इस समय उपदेश ग्रहणकी स्थितिमें नहीं था। उसे परम पदकी नहीं प्राणोंकी पड़ी थी। वहाँसे भी भागा—क्या करे ? कहाँ जाय ? अनन्त अन्तरिक्षमें भटक रहा था। क्या हुआ कि अमृत पीचुका है ; किन्तु कब तक उड़ता रहेगा ? कोई शरण देने वाला सूझता नहीं और प्रज्वलित शर तो पीछे ही पड़ा है। उसकी ज्वालासे प्राण छटपटा रहे हैं।

'देवर्षि ! दयामय ! आप ही इस शरणापन्नपर दया करो।' दैवात् जयन्त-को दर्शन होगये अन्तरिक्षमें देवर्षिके और उन परम भागवतके दर्शन होजायँ, कोई दुर्भाग्य टिक पाता है ?

'सहस्राक्षका सुत होकर भी तू अन्धा है ?' देवर्षिने डाँटा—'क्या समझता है कि तेरा वेग तुझे अबतक परित्राण दे सका है ? इस शरके वेगसे तू शीघ्रगामी है ? उन दयामयको तुझे मारना होता तो तू चित्रकूटसे—उस वृक्ष-शाखासे दो पद भी जा पाता ? तू उनकी परीक्षा करने गया था, उन्होंने तुझे शिक्षा दी। उनके श्रीचरणोंके सम्मुख जाकर पुकार। शरणागतको श्रीराम कभी त्यागते नहीं।'

उधर जैसे ही चित्रकूटसे काक भागा, भगवती भूमिजाने अपने स्वामीकी ओर देखा—'आप अल्प शक्ति अज्ञानी प्राणीपर इतना रोष करते हैं ?'

'उस धृष्टने तुम्हें आहत किया।' श्रीरामके स्वरमें अभी रोष था—'तुम्हारे ऐसे अङ्गका स्पर्श किया............।'

'क्या होगया ? स्वामीके अतिरिक्त भी तो किसीको इस अङ्गके स्पर्शका अधिकार है।' अत्यन्त लज्जा पूर्वक अवनत वदना उन जगदम्बाने कहा—'शिशु जननीके इस अंगको प्रायः क्षत करते ही हैं।'

स्वामीके अधरोंपर स्मित आ गया, यह देखकर वे दयामयी सरिताके समीप आगयीं। उन्होंने जलसे अपने अङ्ग एवं वस्त्र स्वच्छ कर लिये। वैसे ही सहज सुप्रसन्न भावसे स्वच्छ किये जैसे अपने बालकके द्वारा अस्वच्छ किये गये वस्त्रको माता स्वच्छ कर लेती है। उन चिन्मयीकी दिव्य देहमें व्रणकी प्रतीति लीला पूर्वक हुई थी। उसे टिकना तो था नहीं। लीला पूर्वक ही समीपके क्षुपका पत्र-रस उन्होंने लगा लिया था।

'त्राहि माम्! त्राहि माम्!' पुकारता जयन्त इसी समय आया। अपनी व्याकुलतामें काक-शरीर त्यागकर अपना रूप ग्रहण कर लेनेकी सुधि उसे अब तक नहीं आयी थी। वह कौआ भूमिपर गिरा और मूर्च्छित होगया।

अत्यन्त आर्त—अतिशय व्याकुल जयन्त गिरा था। उसके पद ऊपर उठे थे। उनकी पूँछ श्रीरामकी ओर थी। शरीरकी स्थिति वे दयाधाम नहीं देखते; किन्तु वे भक्तापराधीको क्षमा भी तो नहीं करते। जयन्तने जिनका अपराध किया था, वे जबतक क्षमा न कर दें, श्रीराम कहाँ आर्त पुकार सुन पाते हैं। लेकिन वे वात्सल्यैक मूर्ति—उनके मनमें कभी शिशुका कोई अपराध आया है ?

'आप इस दीनको अब भी क्षमा नहीं दोगे ?' काकको गिरते देखकर वे करुणामयी दौड़ी। उन्होंने उसे उठाया और स्वामीके चरणोंके समीप लाकर रखा—'बहुत संतप्त होचुका यह। बहुत भटक चुका। अब इसे क्षमा कर दीजिए।'

'तुम सन्तुष्ट हो तो राम सन्तुष्ट ही है।' श्रीरामने शरकी ओर संकेत किया—'अस्त्रकी अमोघता रहनी चाहिए। ब्रह्मास्त्र व्यर्थ नहीं किया जा-सकता।'

'देव! मैंने ऐसी दुष्टता की कि मुझे प्राण दण्ड मिलना चाहिए था।' काकका वामनेत्र फूट गया बाणसे। अब जयन्त वह रूप त्यागकर इन्द्र-पुत्रके वेशमें अञ्जलि बाँधे खड़ा था। स्तवनके लिए उसे शब्द नहीं मिल रहे थे—'मैंने अम्बा-को आहत किया।'

'तुम्हारी अम्बा तो शिशुके अपराधको अपना विनोद ही मानती है।' श्रीराम प्रसन्न थे—'किसीका अपराध देखना इन्हें आता ही नहीं। तुम्हारा काक शरीर ही एकाक्ष हुआ। इस देव शरीरमें तुम पूर्णाङ्ग स्वस्थ रहो।'

सत्य सङ्कल्पके सङ्कल्पने काक मात्र को एकाक्ष बना दिया।

चित्रकूटसे चले

अभीप्सा हो, उत्कण्ठा हो तो दूरीका कोई अर्थ नहीं रह जाता। अयोध्यासे जब चित्रकूट इतने लोग आये, भले वे लौट गये ; किन्तु तब जो नहीं आसके थे, जिन्हें सेवा अथवा सुरक्षाकी दृष्टिसे छोड़ दिया गया था, उनको अवसर ही न दिया जाय, यह भरत कैसे कर सकते थे। उन लोगोंके समूह चित्रकूट आने लगे। श्रीरामका दर्शन करके, दो चार दिन रहकर वे लौटते थे। उन्हें लौटना पड़ता था श्रीरामके आग्रहके कारण।

'लक्ष्मण ! अयोध्याके लोगोंके आनेका यह क्रम चलता ही रहेगा।' श्रीरामने एक आगत समूहको विदा करके कुटियापर लौटकर भाईसे कहा—'भाई भरतके साथ जो लोग आये थे, वे पुनः न आवें, ऐसी कोई प्रतिज्ञा करके नहीं गये हैं। इन आगतोंमें जब तक कोई यहीं बसनेका हठ न कर ले, हमें इससे पहिले ही यह स्थान छोड़ देना चाहिए।'

कोई भी विप्रकुमार कभी आ सकते थे अयोध्यासे और जिन त्यागमूर्तियोंको राजधानीके समीप भी अरण्यमें पर्णकुटी ही बनाकर रहना है, वे सपरिवार चित्रकूटमें अपनी पर्ण-शाला बनाने लगें तो उन्हें कैसे रोका जा सकता है। एकके प्रारम्भ करते ही क्रम चल पड़ेगा। अयोध्याके सब ब्राह्मण चित्रकूट आकर बसना चाहेंगे और तब क्या दूसरे वर्णके लोग चुप बैठे रहेंगे ? अयोध्यामें तो सभी संयमीका–वानप्रस्थका जीवन व्यतीत कर रहे हैं। श्रीरामके समीप रहनेका सुयोग जान पड़े, लोग अयोध्या रुके रहेंगे ?

इस प्रकार तो अयोध्या उजड़ जायगी। अपनी ही राजधानीको उजाड़ा तो नहीं जा सकता। वहाँसे केवल ब्राह्मण भी चले आवें तो वहाँके लोगोंके धर्मकृत्य कैसे होंगे ? वहाँके यज्ञ, अनुष्ठान, मन्दिरोंकी अर्चाका क्या होगा ? अतः अयोध्याके लोगोंको अवसर नहीं मिलना चाहिए कि वे चित्रकूटमें आकर बसने लगें।

आज एक और बात भी होगयी। अयोध्यासे आये लोगोंको श्रीराम

पहुँचाकर भाईके साथ लौट रहे थे। मार्गमें पड़नेवाले मुनि-आश्रमके तपस्वी आश्रमकी दूसरी ओर चले गये। वे श्रीरामकी ओर संकेत करके परस्पर कोई चर्चा करने लगे। जबसे श्रीसीताराम लक्ष्मण यहाँ आये हैं, तबसे ऐसा होता है। वनमें जब निकलते हैं, मार्गमें पड़नेवाले आश्रमके मुनिगण प्रसन्न होकर मिलने नहीं आते। वे प्रायः आश्रममें विपरीत दिशामें एकत्र होजाते हैं और श्रीरामकी ओर संकेत करके परस्पर कोई चर्चा करने लगते हैं। श्रीरामकी पर्ण-कुटीपर भी थोड़ेसे तेजस्वी तापस ही जाते है। सब तो उधरसे निकलनेसे भी बचते हैं। आज श्रीरामका इस ओर ध्यान आकृष्ट होगया।

'देव! मेरा कोई अपराध है? मुझसे कोई पाप हुआ या होरहा है?' एक वृद्ध ऋषि मार्गमें आते दीखे तो श्रीरामने आगे जाकर भाईके साथ उन्हें भूमिमें मस्तक रखकर प्रणाम किया। हाथ जोड़कर उनसे पूछा—'मुझे देखकर ऋषि-मुनिगण क्यों एक ओर हटकर खड़े होजाते हैं? जैसे वे मेरी छायासे मुझसे सम्भाषणसे बचना चाहते हों।'

'वत्स रामभद्र! तुम्हारा स्मरण करके महापापी भी पवित्र होजाता है।' उन वृद्ध ऋषिने कहा—'तुम स्वयं यहाँ इस वनमें आये, तुम्हारा दर्शन इन नेत्रों-को प्राप्त होता है, तुमसे बोलनेका अवसर मिलता है, इससे बड़ा सौभाग्य दूसरा क्या होगा मनुष्यका?'

'लेकिन राम! बड़ी दुस्तर है तुम्हारी माया। देहके कष्टका भय, अपनी साधनामें विघ्न पड़नेका भय तपस्वियोंको भी व्याकुल बनाता है।' दो क्षण रुककर उन तापसने कहा—'यह यहाँके तपस्वियोंका दुर्भाग्य कि वे इस भयको त्याग नहीं पाते। समीप आये तुम परम पुरुषके दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषणसे वञ्चित रहते हैं।'

'क्या आशङ्का है? किस प्रकारका भय है?' श्रीरामने पूछा।

'तात! जबसे तुम पत्नी और भाईके साथ यहाँ आकर रहने लगे हो, लङ्का-के अधिपति दशग्रीवके अनुचरोंका आवागमन यहाँ बढ़ गया है।' उस वृद्ध ऋषिने बतलाया—'वे बहुत यत्नशील हैं कि तुम्हारा कोई अनिष्ट करें। अभी तक वे गगनसे अलक्षित निकल जाते हैं; किन्तु किसी भी तपस्वीके आश्रमको ऊपरसे ही अपवित्र कर जाते हैं। पहिले तो ऐसा नहीं होता था। हम सब दुर्बल हैं। दशग्रीव

एवं उसके अनुचरोंको शत्रु बनानेका साहस हममें नहीं है। वे दुष्ट कोई भी उत्पात किसी क्षण कर सकते हैं। हमारे सशङ्क व्यवहारका यही हेतु है।'

श्रीराम गम्भीर होगये उसी समय। भाईके साथ पर्णशाला लौटते संयोगवश वे उधरसे निकले, जिधर भरतके साथकी गजसेनाने शिविर डाला था। वहाँ बहुत बड़ी ढेरी दीखी गजोंके लीदकी। आगे अश्वोंकी लीदकी भी ढेरी दीखी। अश्वों-की लीद सूखनेपर जलायी जा सकती थी; किन्तु गजोंकी लीद इस उपयोगकी भी नहीं थी। वर्षामें भीगनेपर वह समीपके तृणोंको भी जलावेगी ही। उसे उठाकर दूर फेंकना भी कठिन है। उसका स्पर्श व्रण उत्पन्न करता है।

'लक्ष्मण! अयोध्यासे गज पुनः नहीं आवेंगे, यह नहीं कहा जा सकता।' श्रीरामने भाईसे कहा—'यहाँ हम लोगोंके रहनेसे तपस्वियोंको सशङ्क रहना पड़ता है। अयोध्यासे यह स्थान समीप है और यहाँ तक आनेमें नागरिकोंको कोई बाधा नहीं है। अतः हम लोगोंको इस स्थानका त्याग कर देना चाहिए।'

'हम अरण्यमें सुख पूर्वक निवास करने नहीं आये हैं।' श्रीरामने अब स्पष्ट कहा—'हमारा वनमें आना व्यर्थ होजायगा, यदि हमारे आनेसे वनवासी तपस्वियोंका सङ्कट समाप्त न होजाय। अरण्यको ऋषि-मुनियोंके लिए निर्विघ्न करना है हमें। अतः शत्रुके अनुचर जिस दिशासे आते हैं, हमें उसी ओर आगे बढ़ना है, जिससे उनका उत्तरकी ओर बढ़ता उत्पात अवरुद्ध किया जा सके।'

'आराधना भूमि भारतको असुरोंके उत्पातसे मुक्त होना चाहिए।' लक्ष्मण-का दक्षिण कर त्रोणकी ओर बढ़ा और वाम करमें धनुष आगया।

'अकारण किसीपर भी आघात अन्याय है तात!' श्रीरामने अनुजकी ओर देखा—'हम यहाँसे दक्षिण चलेंगे। स्वयं तब तक किसीपर आघात नहीं करेंगे, जब तक कोई हमको अपने किसी अपकर्मसे ऐसा करनेको बाध्य न करदे।'

वन ऋषि-मुनियोंके विचरणके लिए, पर्ण-कुटी बनाकर कहीं भी बस जानेके लिए निर्बाध बना रहे. इसकी व्यवस्थाकी इससे उत्तम क्या चेष्टा होगी कि आतङ्क-ग्रस्त क्षेत्रमें स्वयं प्रवेश किया जाय।

'श्रीराम भाई तथा भार्याके साथ कल प्रातः दक्षिण प्रस्थान करेंगे!' यह

समाचार आसपास रहनेवाले, आकर बस जानेवाले कोल, किरात, भीलोंको सायं-कालसे पूर्व ही मिल गया।

'दक्षिण जायँगे ?' सबके मन, प्राण व्याकुल होगये। दक्षिणमें तो महर्षि अत्रिके आश्रमसे बहुत थोड़ी दूरपर—आधे योजनके ही आसपास दूरीपर विराध बैठा है। विराध-वनको पार करनेका तो कोई साहस करता नहीं। किसे उस महा-राक्षसके पेटमें पचना था।

'ये दक्षिण जायँगे ?' इन्होंने निश्चय किया है तो जायँगे ही। इन्हें रोका नहीं जा सकता और वह महाराक्षस विराध ? इन्हें सावधान करना चाहिए।

ये राजकुमार हैं। सावधान करनेपर उलटे हठ पकड़ ले सकते हैं। कोई उपाय नहीं सूझ रहा किसीको। ऋषि-मुनियोंको, श्रीराम-लक्ष्मणको भी पता नहीं। दूसरे किसीको पता लग भी नहीं सकता था। वनवासी अपने ढंगसे परस्पर सूचनाएँ देते हैं। उनकी विशाल पञ्चायत रात्रिके प्रथम-प्रहरमें घोर काननके एकान्तमें एकत्र हुई थी। उनकी स्त्रियाँ, वृद्ध सब पञ्चायतका निर्णय जाननेको एकत्र थे।

'हम सब साथ चलें तो भी कुछ नहीं होना है। विराधपर किसी विषैले बाणका प्रभाव नहीं पड़ता।' एक अनुभवी योधा कह रहा था—'अनेक बार उसे मार देनेके प्रयत्न हुए। वह तो सबको समेटकर एक साथ मुखमें रख लेगा।'

'ये राजकुमार नहीं जायँगे।' एकने दृढ़ स्वरमें कहा—'महर्षि अत्रि इन्हें जाने देंगे ? महर्षिके आश्रम होकर ही तो ये आगे जायँगे।'

'महासती अनुसूया देवी इन्हें आशीर्वाद भी तो दे सकती हैं।' वनवासियोंके विश्वासके अनुसार महासती अनुसूयाका आशीर्वाद सृष्टिमें सब कुछ करनेमें समर्थ है और इस विश्वासको मिथ्या कहनेका साहस किसीमें नहीं।

'वे इन्हें अवश्य आशीर्वाद देंगी। श्रीराम-लक्ष्मण और जानकी प्रणाम करेंगे तो वे आशीर्वाद नहीं देंगी ?' सब अरण्य-सरदार एक मत होगये—'उनके आशीर्वादसे सुरक्षित इनका विराध क्या कर लेगा ? वह मूर्च्छित हो जा सकता है। निद्रामें पड़ा रह सकता है। अन्धा हो जा सकता है।'

दारुण व्यथा है कि ये चले जायँगे। इन्हें रोका नहीं जा सकता। ये तो

महासतीके आशीर्वादसे सुरक्षित चले जायँगे ; किन्तु इनके साथ जाने वालेको तो वह सुरक्षा नहीं मिलेगी । विराधके समीप नहीं जाया जा सकता !

प्रातः जब श्रीजनक-नन्दिनी वनवासियोंकी स्त्रियोंसे और श्रीराम पुरुषोंसे मिलकर, उन्हें समझाकर, आश्वासन देकर विदा हुए—वन उन अरण्यानी मानवोंके आर्तक्रन्दनसे मानो स्वयं रुदन कर रहा था । वे सब हू हू करके रो रहे थे । अत्रि-आश्रम तक, उससे थोड़े आगे तक, वनमें छिपे छिपे ही तो वे जा सकते थे । वे जो विना कहे श्रीरामके समीप आ बसे थे, उन्हें अब विराधका आतङ्क पृथक करनेको विवश कर रहा था । उनकी पीड़ा, उनकी वेदना………।

अनुसूयाका सत्कार

अत्रि-आश्रम ही मन्दाकिनीका उद्गम स्थान है। देवी अनुसूयाजीने यह जलधारा प्रकट की है। दीर्घकालीन अकाल था। अवर्षणके कारण वृक्ष, लताएँ सब सूख चुकी थीं। वनपशु, पक्षी तक भाग गये थे। जलके बिना प्राणीका जीवन कैसे रहे। लेकिन महर्षि अत्रि भगवान् ब्रह्माके मानसपुत्र हैं। दिव्यदेह है उनका। वे बहुत वर्षोंसे समाधिमें स्थित थे। व्युत्थान हुआ तो पत्नीने आकर चरणोंमें प्रणाम किया। ऋषिने सहजभावसे जल माँगा।

जल वहाँ कहाँ ? स्वयं अनुसूयाजी यदि महर्षि कर्दमकी पुत्री भगवान् कपिलकी बड़ी बहिन, दिव्य-देहा न होतीं, वे जीवित ही न होतीं इस जलाभावमें ; किन्तु वे परम सती, पतिने जल लानेकी आज्ञा दी है तो वह आज्ञा पूर्ण होनी ही चाहिए। उन्होंने नेत्र बन्द करके त्रिपथगा भगवती विष्णुपदीका स्मरण किया —'गङ्गे ! आओ ! अनुसूया पतिकी सेवामें तुम्हारी सहायता चाहती है।'

अत्रि-आश्रमके नीचे सहस्र-सहस्र धाराओंमें जल झरने लगा। यही जल पर्वतकी दूसरी ओर गुफामें प्रकट हुआ। वहाँ उसका नाम गुप्त गोदावरी पड़ा। महर्षि अत्रिको ही नहीं, सभी समीप आने-रहनेवाले प्राणियोंके लिए जल सुलभ होगया ; किन्तु सुलभ हुआ केवल अत्रि-आश्रमकी सीमाके लिए। महर्षि जहाँ तक वनमें कभी भी भ्रमण करने जाते थे, केवल उतनी दूर वह धारा प्रवाहित हुई। उसके आगे वह भूमिमें तिरोहित होजाती है। गुप्त गोदावरीका जल तो गुफासे बाहर आकर ही भूमिमें गुप्त होजाता है।

काननमें साधनालीन रहनेवाले तपस्वियोंको किसीका संरक्षण आवश्यक होता था। मुनिगण, ऋषि तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी किसी बहुत तपःशक्ति सम्पन्न महर्षिके आसपास ही अपना आश्रम बनाते थे। अध्यात्म पथके पथिकको सदा पथ-दर्शक अपेक्षित है। सत्सङ्ग सुलभ होना चाहिए साधकको ; क्योंकि केवल अपनी एकान्त साधना न तो ज्ञानदान करती और न साधनकी कठिनाइयोंको सरलता पूर्वक सुलझा पाती।

पूर्ण काम, आत्माराम मुनियोंको भी भगवच्चर्चा परम प्रिय है। इसके

अतिरिक्त वनोंमें उन दिनों राक्षसोंका उपद्रव बहुत बढ़ा था। वे सामान्य तपस्वियोंको तो भक्षण ही कर लेते थे। अत्यन्त तेजस्वी, तप:शक्तिसे बहुत अधिक सम्पन्न थोड़े ही महर्षि थे, जिनके आसपास उत्पात करनेका साहस राक्षस नहीं करते थे। ऐसे तपोधनोंके समीप रहनेसे सुरक्षा प्राप्त होती थी। महर्षि भरद्वाज, वाल्मीकिजी, महर्षि अत्रि, शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण, मतङ्ग, अगस्त्यजी ऐसे ही महातेजा थे। इनके आश्रमोंके आसपास, इनकी सन्निधिमें सुरक्षा तथा सत्संगकी सुविधाके कारण सैकड़ों तपस्वी थोड़ी थोड़ी दूरीपर अपनी कुटिया बनाकर साधन-भजन करते थे। चित्रकूटकी पूरी तपस्थली ही महर्षि अत्रिकी संरक्षण-सीमामें थी। ऐसे लोकोत्तर महातापसोंके आश्रमोंका यह क्रम प्रयागसे प्रारम्भ होकर दक्षिण-भारत-में अगस्त्याश्रम तक चला गया था।

घोर वनमें मार्ग पशुओंके विचरण करनेके कही कहीं उनके जल तक पहुँचने-के होते हैं। ऐसे मार्गपर हिंसक वन-पशुओंके मिलनेकी सम्भावना सदा रहती है। दूसरे मार्ग—पगडण्डी मार्ग थे एक ऋषि आश्रमसे दूसरे ऋषिके आश्रम तक आने-के। श्रीरामको ऐसे ही मार्गसे यात्रा करनी थी। ये मार्ग भी बहुधा लुप्त—अर्ध लुप्त ही थे।

महर्षि अत्रिका आश्रम वहाँसे दूर था, जहाँ श्रीरामने चित्रकूटमें पर्णकुटी बनायी थी। प्रातःकाल सन्ध्यादि करके भाई तथा भार्याके साथ श्रीरामने यात्रा की। मध्याह्न स्नान मन्दाकिनीमें मार्गमें हुआ। वनके कन्द-मूल ही आहार थे और वे लक्ष्मण ढूंढ़ लाते थे। यात्राके अवसरपर वे थोड़े कन्द-मूल अपनी पेटिकामें रखते थे। जब अत्रि-आश्रमके समीप पहुँचे दिनका चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होचुका था।

महर्षि अत्रिको तपस्वियोंसे समाचार मिला। स्वयं महर्षि श्रीरामकी पर्ण-कुटीपर कई बार पधारे थे। श्रीरामका आगे आकर उन्होंने स्वागत किया। अतिथि सबका ही पूजनीय होता है। महर्षिने अर्घ्य दिया, विधि पूर्वक पूजा की।

'वत्स रामभद्र ! तुम्हारे कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ मेरे भाई हैं।' महर्षि अत्रिने कहा—'उनकी पत्नी अरुन्धतीकी बड़ी बहिन हैं मेरी धर्मपत्नी। बहुत वृद्धा हैं। चिरकालसे तपोलीना हैं। अक्रोध उनका सहज स्वरूप है। पुत्री सीताको उनके समीप जाकर उन्हें प्रणाम करना चाहिए और वे जो कुछ दें, उसे हमारा आतिथ्य मानकर स्वीकार करलेना चाहिए।'

'देवि ! आप जाकर उन भुवन-वन्दनीयाके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करो।'

श्रीरामने अनुमति दी—'उनका आशीर्वाद भगवती उमा तथा पद्मजाके लिए भी परमाभीष्ट है। हम क्षत्रिय हैं, ब्राह्मणसे प्रतिग्रह नहीं ले सकते ; किन्तु गुरुजनों-का प्रसाद सदा ग्राह्य होता है। वे प्रसन्नता पूर्वक जो प्रदान करें, उसे अस्वीकार करके अवज्ञा नहीं करना चाहिए।'

महर्षि अत्रिने आतिथ्य कर लिया था। ऋषिके द्वारा अर्पित फल-मूलादि श्रीसीतारामने ग्रहण कर लिया था। श्रीजनक-नन्दिनी वहाँसे उठकर अनुसूयाजी-की कुटियामें गयीं। यह कुटिया महर्षिकी कुटियासे थोड़ी दूर, थोड़ी ऊँचाईपर थी।

कर्पूरगौर वर्ण, हिमश्वेत केश, झुर्रियोंसे भरा शरीर, भ्रू एवं पलकें तक श्वेत, कृश-प्रलम्ब काया जैसे ज्योतिकी उज्ज्वल रेखा हो। उन तपस्विनीका शरीर मानो प्रकाशके घनीभावसे बना हो। श्रीजनक-नन्दिनीने जाकर दण्डवत की —'मिथिला नरेशकी कन्या, अयोध्याके दिवंगत चक्रवर्ती नरेशकी ज्येष्ठा पुत्रवधू सीता भगवतीके चरणोंमें प्रणत है।'

अनुसूयाजी उठीं वह वीणा विनिन्दक अमृतस्पन्दी स्वर सुनते ही। उन तपोधनाका वृद्ध शरीर वैसे ही काँपता था, प्रेमावेगसे अत्यधिक काँपने लगा। उन्होंने आगे आकर उठाकर श्रीजानकीको हृदयसे लगाया—'पुत्री !'

किसी प्रकार लड़खड़ाते हुए, वक्षसे श्रीमैथिलीको लगाये ही वे आसन तक लौटीं और अपने अङ्कमें ही बैठा लिया। नेत्रोंसे झरती वारिधारा अलकोंको आर्द्र करती रही। कम्पित कर स्नेहसे पीठपर, सिरपर फिरते रहे। शरीर रोमाञ्चित, वाणी बोलनेमें असमर्थ, बहुत देर तक वे विभोर रहीं। नन्ही बालिकाके समान श्रीवैदेही उनके अङ्कमें लगी रहीं। कुछ देरमें श्रीजनक-नन्दिनीने ही धीरेसे अपने-को पृथक किया और उन त्रिभुवनवन्दनीयाके चरणोंके समीप बैठ गयीं।

'वत्से ! पतिव्रताका सत्य यह है कि पुरुष एक ही है सृष्टिमें। पालन और रक्षण कर सकनेमें जो समर्थ है, वह पति और जो स्वयं कालके, प्रकृतिके, कर्मके परतन्त्र हैं, वे दूसरेका पालन क्या करेंगे। पारतन्त्र्यका ही दूसरा नाम स्त्रीत्व है।' अनुसूयाने कहना प्रारम्भ किया—'जीवमात्र स्त्रियाँ हैं या पशु हैं। पशुपति, पति एक ही है और नारीको वह अपने पतिके रूपमें प्राप्त होता है। उसके अतिरिक्त सृष्टिमें दूसरा पुरुष ही नहीं।'

'सामान्य मानव पतिव्रता नारीके लिए संसारके पुरुष पिता, भाई अथवा

पुत्र होते हैं।' अनुसूयाजीने कहा—'पतिके अतिरिक्त पुरुषपर दृष्टि जानेपर उसमें श्रद्धा, भ्रातृप्रेम अथवा वात्सल्य जागता है।'

'विकार जागता है। आकर्षण उठता है मनमें; किन्तु यह अधर्म है, ऐसा समझकर जो अपनेको संयमित रख लेती हैं, वे अधम पतिव्रता हैं।' अनुसूयाजीके स्वरमें खेद आया—'सृष्टिमें आचार-भ्रष्टा, पशुप्राय मानवी भी होती ही हैं और मनसे भ्रष्ट होकर भी जो अवसर न मिलनेसे, अपने रूपकी अयोग्यताके कारण संयमित बनी हैं उन्हें भ्रष्टाओंसे श्रेष्ठ कह पाना कठिन है।'

'सीता! तुम्हारा स्मरण करके नारी पातिव्रत-धर्मका पालन करनेकी शक्ति पाती है। तुम्हारे चरणोंमें प्रीति उसे अपने पतिमें निष्ठावान बनाती है। तुम सदय हो जिसे अपनाओ, केवल उसे ही वह परमपति पतिके रूपमें दृष्टि पड़ता है।' अब अनुसूयाजीका कण्ठ भावक्षुब्ध हुआ—'मेरी दीर्घकालीन तपस्या, मेरी पति-सेवा आज सफल हुई कि तुम स्वयं आयीं।'

'जानकी! तुम्हारे रघुकुल गुरुकी पत्नी अरुन्धती मेरी छोटी बहिन है। तुम मेरे लिए अपनी पुत्रवधू हो। मैंने अपने तपसे जो पाया, मेरी इच्छा न होनेपर भी सृष्टिकर्ताने अपनी इस पौत्रीपर प्रसन्न होकर जो उपहार इसे दिये, वे मेरे लिए अनुपयोगी हैं। मेरे पुत्रोंमें दत्त और दुर्वासा तपस्वी हैं। शशि अपनी संगिनियों-के साथ स्वर्गमें रहने लगा है। मेरी साध पूरी होजाने दो। अपनी इस पुत्रवधूको मैं स्वयं सज्जित करना चाहती हूँ।' अनुसूयाजी उठीं। वे दो दिव्य वस्त्र, कुछ आभरण और थोड़ा अङ्गराग कुटियाके एक कोनेमें-से उठा लायीं—'वत्से! ये दिव्य वस्त्र सदा नवीन बने रहते हैं। कभी मैले नहीं होते। अब मुझ वृद्धाके योग्य तो ये हैं नहीं। ये आभरण कभी म्लान नहीं होते। इनके धारण करनेपर पथ-श्रम, क्षुधा-पिपासा कष्ट नहीं देती। यह अङ्गराग एक बार लगा लेनेपर जीवन पर्यन्त बना रहता है। शरीरको स्वस्थ, सुरक्षित रखता है। तुम तनिक खड़ी तो हो-जाओ।'

श्रीरामने अनुमति दे दी थी यह प्रसाद स्वीकार करलेनेकी। सङ्कोच पूर्वक श्रीमैथिली खड़ी होगयीं। अनुसूयाजीने अपने हाथों उन्हें साड़ी पहिनायी। उत्तरीय दिया ऊपर। कानोंमें दिव्य मणि-कुण्डल पहिनाये सामने बैठाकर। भुजाओंमें केयूर, कण्ठमें माला और करोंमें कङ्कण पहिनाकर सावधानी पूर्वक अङ्गराग लगाया।

'वत्से ! ये वस्त्राभरण और अङ्गराग तुम्हारे देहके ही उपयुक्त थे। ये स्वयं अम्लान रहकर तुम्हारी शोभा बढ़ावेंगे।' सज्जित करके वक्षसे लगाकर सिर सूँघा उन महासतीने—'तुमने बड़ा अनुग्रह किया मुझपर इन्हें स्वीकार करके।'

'आप ऐसा क्यों कहती हैं।' श्रीजानकीने चरण स्पर्श किये—'मैं तो आपकी आज्ञापालिका हूँ। यह आपका प्रेमदान मुझे मिला, यह मेरा अहोभाग्य !'

'तुम अपनी उत्पत्ति और विवाहकी कथा सुना दो।' अनुसूयाने स्नेह पूर्वक पूछा—'मैं दीर्घकालसे तपोनिरता हूँ। स्वामीने अनेक बार तुम्हारी श्रद्धा सहित चर्चा की है।'

'पिता यज्ञार्थ भूमि-शोधन कर रहे थे। उनके हलाग्रसे मैं धूलि धूसरित उत्पन्न हुई।' श्रीजनक-नन्दिनीने संकोचपूर्वक संक्षिप्त वर्णन किया—'पिताने मेरे विवाहके लिए पिनाक भङ्ग करनेकी प्रतिज्ञा करली। दूसरा कोई सफल नहीं हुआ। महर्षि कौशिकके साथ ये देवर और स्वामी मिथिला आये। स्वामीने सरलता पूर्वक पिनाक उठाया, चढ़ाया, खींचकर तोड़ दिया। पिता तो तत्काल जल लेकर कन्यादान करने जा रहे थे किन्तु जिन्होंने धनुष तोड़ा वे अपने पिताका अभिप्राय जाने विना पाणिग्रहणको प्रस्तुत नहीं थे। अच्छा हुआ—आमन्त्रण पाकर श्रीचक्रवर्ती महाराज पधारे तो मेरी तीनों बहिनोंका भी विवाह उनके कुमारोंसे होगया।'

'अम्ब ! स्वामी तो मेरे अतिरिक्त सभी स्त्रियोंको सगी माताके समान देखते हैं।' श्रीजनक-नन्दिनीने अन्तमें प्रणाम करके कहा—'विवाहके पश्चात् विदा होते समय माताने और वन आते समय मेरी सासने मुझे जो उपदेश किया था, आपने उसको आज नवीन कर दिया। बड़ा अनुग्रह आपका इस बालिकापर।'

'वत्से ! सूर्यास्त होचुका। रात्रिमें पतिव्रताको पतिसे पृथक नहीं रहना चाहिए।' अनुसूयाजीने ही श्रीजानकीको हृदयसे लगाकर, उनके शीलकी प्रशंसा करके श्रीरामके समीप भेजा।

अयोध्यासे श्रीजानकी पहिने हुए वस्त्र ही लेकर निकली थीं। मार्गमें स्नान करनेमें भी उन्हें संकोच करना पड़ा था। प्रयागमें यमुना पार होते ही उन्होंने वनवासी कुमारियोंसे वल्कल धारण सीख लिया। चित्रकूटमें वे वल्कल पहिने मुनि-कन्याके समान ही रहीं। अयोध्यासे जो वस्त्र पहिनकर चली थीं, वह उन्होंने

भरत जब तक चित्रकूट रहे, तभी तक पहिना। माता सुनयनाके वस्त्रालङ्कार उन्होंने अस्वीकार कर दिये थे–'मेरे शरीरपर ये वस्त्राभरण इसलिए हैं ; क्योंकि अयोध्यासे माताएँ, कुलवृद्ध आये हैं। वे मुझे वनमें ही देखकर दुःखी हैं। मैं उनके सम्मुख वल्कल पहिनूं तो वे प्राण ही त्याग देंगी ; किन्तु स्वामी वल्कल पहिनते हैं। मुझे राजकीय वस्त्र धारण करना अच्छा लगेगा ?'

महाराज जनक, सुनयनाजीकी व्यथा ; किन्तु पुत्रीका शील उन्हें विभोर बना रहा था। वे विवश लौट गये थे। आज अत्रि-आश्रममें भी श्रीजानकी वल्कल पहिने ही आयी थीं। महर्षि अत्रिके अनुरोधसे श्रीरामने रात्रि-निवास यहाँ स्वीकार कर लिया था। वस्त्राभरण सज्जिता अङ्गराग लगाये श्रीजानकीको स्वामीके समीप रात्रिके प्रारम्भमें जानेमें संकोच हुआ। श्रीरामके पूछनेपर उन्होंने स्मित पूर्वक कहा—'आपने ही तो महर्षि-पत्नीके उपहार स्वीकार करनेकी आज्ञा दी थी।'

'वे अनुग्रहमयी', श्रीरामका स्वर भीग गया—'कङ्गाल राघव वनमें तुम्हारे मलिन वस्त्र देखकर भी बोलनेकी स्थितिमें नहीं था। मेरी चिन्ता उन महिमामयीने मिटा दी ?'

'वत्स ! आगे असुरोंका सङ्कट-ही-सङ्कट है। बहुत सावधान रहना। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो।' प्रातः स्नान-सन्ध्याके उपरान्त श्रीराम विदा होने लगे तो महर्षि अत्रिने ब्राह्मणोंके साथ स्वस्त्ययन किया। महर्षि अत्रि स्वयं पहुँचाने चले। बहुत प्रार्थना करके श्रीरामने महर्षिको लौटाया।

एक कोस जानेपर एक सरिता मिली। (अब इसमें केवल वर्षामें प्रवाह रहता है।) अत्रि-आश्रमसे साथ आये ब्रह्मचारियोंने वनसे काष्ठ एकत्र कर बेड़ा बना दिया। उस सरिताको पार होते समय ब्रह्मचारियोंको श्रीरामने लौटा दिया आग्रह करके।

आगे घोर वन था। श्रीराम-लक्ष्मणने अपने धनुषोंपर ज्या चढ़ाकर धनुष वाम हस्तमें लिया और दक्षिण हस्तमें वाण लिया। आगे श्रीराम, पीछे लक्ष्मण, मध्यमें श्रीजनक-नन्दिनी। गहन वन था, पैदल यात्रा थी। बहुत धीरे-धीरे चला जा सकता था।

विराध-वध

'आप अयोध्यामें हों या अरण्यमें, आप ही हमारे राजा, रक्षक हैं।' महर्षि अत्रिके आश्रमसे कुछ आगे चलते ही वैदिक मन्त्रोंकी ध्वनि सुनायी पड़ी थी। हवन-धूमसे वृक्षोंके पत्र धूसर होरहे थे। वन-पथको भी तपस्वियोंने स्वच्छ कर रखा था। स्थान-स्थानपर वल्कल शाखाओंपर पड़े थे। नीवारकी राशियाँ दीखीं। श्रीरामने धनुषकी ज्या उतार ली। लक्ष्मणने अग्रजका अनुकरण किया। अचानक तपस्वियोंका समूह मार्गमें स्वागतको एकत्र उपस्थित मिला। उन लोगोंको श्रीरामने भाईके साथ प्रणाम किया। वे सब मुनिगण स्वस्ति पाठ कर रहे थे। सब प्रसन्न थे। पशु-पक्षियोंका समूह भी एकत्र होगया था। वनवासियोंने भी समीप आकर प्रणाम किया।

'रामभद्र! हम सब तो अपराधीको, अपने उत्पीडकको भी दण्ड नहीं देते। हमने दण्ड-वृत्ति त्याग दी है।' सबका स्वर अत्यन्त आर्द्र था—'हमारे उटज आपके ही हैं। आप यहीं निवास करें। हम आपके द्वारा रक्षणीय हैं। जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशुकी रक्षा करती है, आपको हमारी रक्षा करनी चाहिए।'

'आप अब आगे मत जाइये!' सबका बहुत अधिक आग्रह था। सब व्याकुल होरहे थे—'हमसे अनजानमें या जानबूझकर कोई त्रुटि हुई हो तो क्षमा करें। कुछ दिन हमारे आश्रमको सनाथ करें।'

श्रीरामने सबका सम्मान किया। सबको समझाया। लगता था कि वह मध्यमें पड़ी सरिता ही सीमा थी। श्रीसीताराम जब लक्ष्मणके साथ बेड़ेपर बैठ गये, सब तटपर अश्रु पूरित लोचन खड़े रहे। पशुओं, पक्षियों तकने सरिताको पार नहीं किया। सब खड़े रहे, तब तक खड़े रहे जब तक श्रीराम वनमें जाकर अदृश्य नहीं होगये। निराश, रुदन करते, सिर झुकाये वे लौटे। पक्षी, वन पशु तक क्रन्दन कर रहे थे।

उस अल्प सलिला सरिताको पार करते ही जैसे किसी सर्वथा अपरिचित प्रदेशमें आगये हों, वन ऐसा भयानक, निस्तब्ध। पशु-पक्षी भी दीखते नहीं थे।

एक दारुण शून्यता और उग्र सघनता। ऐसा प्राणिरहित प्रदेश भी होता है, यह श्रीजानकीने सोचा भी नहीं था। श्रीराम आगे धनुष चढ़ाये चल रहे थे और पीछे लक्ष्मण उसी प्रकार चाप चढ़ाये, शर लिये सतर्क थे; किन्तु तब भी अज्ञात भय मानो शरीरको सिहरा रहा था।

डेढ़ योजन ऐसे दुर्गम पथमें चलनेपर एक पुष्करिणी मिली। निर्मल जलने यह देखनेका अवसर नहीं दिया कि वहाँ ऐसा सुन्दर सर होनेपर भी पक्षी क्यों नहीं हैं। पथ-श्रमके कारण प्यास लगी थी। कर-चरण धोये, मुख प्रक्षालन किया और जल पीकर तनिक विश्रामके लिए बैठे। अभी बैठे ही थे कि लगा, दिशाएँ भयङ्कर गर्जन-ध्वनिसे फटी जारही हैं। एक अन्धड़-सा आया वनमें। श्रीराम और लक्ष्मण दोनों धनुष चढ़ाये उठ खड़े हुए।

कज्जल कृष्ण वर्ण, कटिमें लिपटा गजचर्म, लाल खड़े केश-श्मश्रु, विकराल मुख और शरीरपर रक्तकी धारा रेखाएँ, बहुत भयानक-बीभत्स थी वह आकृति। मानो पूरा पर्वत दौड़ता, चिल्लाता आरहा हो, ऐसे विराध आता दीख पड़ा। उसके वाम स्कन्धपर शूल था—कई ताल वृक्षों जैसा विशाल शूल और उसमें तीन सिंह, चार व्याघ्र, दस भेड़िये, आठ वृषभ उसने विद्ध करके पिरो रखे थे, मानो वे पशु न होकर मेढक हों। उन पशुओंके शरीरसे रक्त-धारा गिरकर विराधको अधिक बीभत्स बना रही थी। वे पीड़ासे गर्जना करते, चिल्लाते, तड़पते थे। क्रोधमें दाँत, पञ्जे मार रहे थे; किन्तु विराधको ऐसा लग रहा था जैसे वे उसके शरीरको खुजला रहे हों। सिंह, व्याघ्रके आघातसे उसके चमड़ेपर खरोंच तक नहीं आरही थी। उसके शलमें गुँथकर दो वनवासी मानवोंके भी शव लटक रहे थे। उसने दाहिने हाथमें एक बहुत बड़ा गज पकड़ रखा था और उसे मूलीकी भाँति काटकर खा रहा था।

'अरे! तुम दोनों तपस्वीके वेशमें कौन हो? बालको, यहाँ क्या करने आये? हाथके हाथीको समाप्त करके, उसका कङ्काल एक ओर फेंकता चिल्लाया विराध—'जानते नहीं कि मैं माँ शतद्रुताकी सन्तान, जयका पुत्र विराध हूँ। सब राक्षस मुझे जानते हैं। लङ्काका दशग्रीव तक मेरे सम्मुख आनेका साहस नहीं करता।'

विराधने त्रिभुवन मनोहर यह त्रिमूर्ति देखी तो हक्का-बक्का देखता रह गया दो क्षण। उसका भयानक मुख खुला रह गया था। उसके पद ठिठक गये थे।

'मेरा नाम राम है। ये मेरे छोटे भाई लक्ष्मण हैं, ये मेरी पत्नी सीता हैं।' निष्कम्प, सस्मित-वदन श्रीराम बोले। विराधने अपना परिचय दे दिया था, अतः उसे अपना परिचय दिया जाना चाहिए--'हम क्षत्रिय हैं। तुम्हारे जैसे लोगोंको शिक्षा देने आये हैं कि वनमें कैसे रहना चाहिए।'

'यह ठीक है। मैं कच्चा माँस खाते खाते ऊब गया हूँ। यह अब मेरे लिए दिन भर माँस-रन्धन किया करेगी।' विराधके अट्टहाससे दूर तकके पशु-पक्षी भयसे चिल्लाकर भाग खड़े हुए। उसने श्रीराम-लक्ष्मणके मध्यसे सीताको ऐसे उठा लिया जैसे कोई बहुत नन्हे शिशुको एक हाथसे उठा ले। सीताको दूर अपने पीछे भूमिपर डालकर चिल्लाया—'जीवित रहना चाहते हो तो धनुष फेंककर भाग जाओ! तुम दोनों मेरे दो ग्रास जितने भी नहीं हो।'

भयके कारण श्रीजानकीके मुखसे चीत्कार ध्वनि भी नहीं निकली थी। वे मूर्च्छित हो चुकी थीं। श्रीरामने धनुषपर वाण चढ़ाते हुए भाईकी ओर देखा— 'लक्ष्मण! इसे शीघ्र मार दो।'

धनुषसे छूटे दोनों वाणोंने विराधकी दोनों भुजाएँ काट दीं। उसका शूल, उस शूलमें बिंधे अर्धमृत पशु भूमिपर गिर पड़े। विराधके भुजमूलसे रक्तकी धारा चलने लगी; किन्तु वह निष्कम्प खड़ा रहा। श्रीराम और लक्ष्मणने दूसरे वाण चढ़ा लिये। विराध झपटे, इससे पहिले वे वाण छूटे और राक्षसके दोनों पद कट गये। वह गिरा; किन्तु मुख फाड़े लुढ़कता बढ़ा।

'लक्ष्मण! शीघ्र गड्ढा खोदो। इसे जीवित ही गाड़ देना पड़ेगा।' श्रीरामने उछलकर विराधके कण्ठपर अपना चरण रखा और दबाया।

'राम! तुम पुरुषोत्तम राम हो?' विराधने चरणसे दबे हुए ही ऊपर देखा—'तुम निश्चय मुझे मार दोगे। मेरे मरनेकी युक्ति ज्ञात होगयी तुम्हें। मुझे जीवित गाड़कर ही मारा जा सकता है। अस्त्र-शस्त्र मुझे मार नहीं सकते। मैं बिना कर-पदके भी युगों तक जीवित रह सकता था; किन्तु मुझे गाड़कर मार दो राम! एक ओर अत्रि और दूसरी ओर शरभङ्ग बैठा है। मैं इन दोनों तपस्वियों-की सीमामें जानेका साहस नहीं कर पाता। इन दोनोंके मध्य इस काननमें वर्षोंसे वन्दी-प्राय विराधको मारकर मुक्त करदो। तुम्हारे चरणके स्पर्शका सुख— सुख तो आज मैंने जाना कि होता कैसा है।'

लक्ष्मणने बाण मारकर भूमिमें गम्भीर गर्त बना दिया था। दोनों भाइयों-ने घसीटकर विराधको उसमें फेंक दिया। उसके छिन्न कर-पदभी डाल दिये उसी गर्तमें। उसके ऊपर शिलाएं डालीं। उसका शूल उसीमें फेंक दिया।

'मैं विद्याधर हूँ। दुर्वासाजीके शापसे राक्षस होगया था।' उस गर्तसे एक ज्योतिर्देह दिव्य पुरुष प्रकट हुआ। उसने गगनमें जानेसे पूर्व स्तुति की—'आपने आज मुझे शाप-मुक्त किया। यहाँसे शरभङ्ग-आश्रम इसी मार्गसे चले जायँ।'

'वह दारुण राक्षस!' चेतना लौटनेपर श्रीजनक-नन्दिनीने चौंककर देखा। उनका मस्तक श्रीरामने अङ्कमें ले रखा था। भयसे अब भी वे काँप रही थीं। उन्होंने अपना मुख स्वामीके अङ्कमें छिपा लिया।

'हमने लक्ष्मणके द्वारा खोदे गर्तमें उसका शरीर गाड़ दिया।' श्रीरामने पीठपर कर फेरते कहा—'वह अब शापमुक्त होकर विद्याधर होगया। उसपर रोष मत करो देवि! अज्ञ असुर नहीं जानता था कि आर्यकन्याको आमिष-रन्धन अप्रिय होता है।'

'मर गया वह?' जैसे विश्वास न होरहा हो, इस प्रकार श्रीजानकी उठीं। इधर-उधर देखा। पुन: पुष्करिणीमें कर-पद प्रक्षालन करके तब आगे प्रस्थान हुआ।

शरभंगका शरीर-त्याग

'अभी असुरोंके उपद्रवका यह आरम्भ ही है लक्ष्मण !' श्रीरामने अनुजको सतर्क किया—'हम दोनोंको सीताके सम्बन्धमें अब बहुत अधिक सतर्क रहना होगा।'

लेकिन महर्षि शरभङ्गके आश्रम पहुँचने तक कोई उत्पात नहीं हुआ। उलटे विराध-वनसे बाहर होकर जैसे ही शरभङ्गजीके तपोवनकी सीमामें पहुँचे, वन बहुत सुन्दर मिला। पशु-पक्षी प्रसन्न, निर्भय मिले और समीप दौड़ आये। जैसे ये स्वागत करने आगये हों।

महर्षि शरभङ्गके आश्रम-द्वारपर थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी ; क्योंकि दूरसे ही दीख गया, गगनमें देवराज इन्द्र उपस्थित हैं और वे सम्भवतः महर्षिसे ही कुछ कह रहे हैं। वज्र हस्त, ऐरावतपर आरूढ़, नित्य युवा, अतिशय सुन्दर, कोमल, प्रकाशपुञ्ज शरीर देवराजको पहिचान लेना कठिन नहीं था। लेकिन जब दो व्यक्ति परस्पर एकान्तमें कोई चर्चा करते हों तो वहाँ उपस्थित होना अशिष्टता माना जाता है। भाई एवं भार्याके साथ श्रीराम द्वारपर प्रतीक्षा करते रहे।

बहुत थोड़े क्षण प्रतीक्षा करनी पड़ी। देवराजका ऐरावत ऊपर उठा और वे गगनमें अदृश्य होगये। वृद्ध शरीर, अत्यन्त कृश, उज्ज्वल श्मश्रु-केश महर्षि द्वार-की ओर आते दृष्टि पड़े। श्रीराम-लक्ष्मण धनुष पृथक रखकर भूमिपर दण्डवत पड़े—'यह इक्ष्वाकुगोत्रीय दाशरथि राम अनुज लक्ष्मणके साथ श्रीचरणोंमें प्रणत है।'

महर्षिने झपटकर दोनों भाइयोंको उठाकर हृदयसे लगाया। भूमिमें मस्तक रखकर प्रणाम करती श्रीजनक-नन्दिनीको आशीर्वाद दिया। तीनोंको साथ लेकर अपनी अग्निशालामें आये। तीनोंको आसन दिया। अर्घ्य, पाद्य आदिसे सविधि पूजा की।

'पुरन्दरनें आपसे क्षमा चाही है,' महर्षिने कहा—'उनका कहना उचित है। दशग्रीवका वध मानवके करोंसे सृष्टिकर्ताने निश्चित किया है। अतः आपका

साक्षात्कार यदि रावण-वधसे पूर्व देवेन्द्र करते हैं—सम्मुख आनेपर वे प्रणत न हों, स्तवन न करें, ऐसी अशिष्टता तो कर नहीं सकते, तब आपका अतिमानवत्व—देवराजसे भी श्रेष्ठत्व सिद्ध होगा। इससे आपके अवतार-प्रयोजनमें ही बाधा पड़ सकती है। इसीलिए इन्द्रने मुझसे कहा कि मैं उनके चले जानेपर आपका आतिथ्य करूँ।'

'देवता हम मनुष्योंके द्वारा सदा सत्कार पाने योग्य हैं।' मर्यादा-पुरुषोत्तमने मन्द स्मित पूर्वक कहा--'देवराजका अनुग्रह! उन्हें क्षमा माँगनेकी आवश्यकता नहीं थी।'

'श्रीराम! देख ही रहे हो कि मेरा शरीर जर्जर होगया है। इन्द्र मुझे ब्रह्म-लोक इस शरीरसे ही लेजाने आये थे।' महर्षिने प्रार्थनाके स्वरमें कहा—'तुम आश्रम-द्वारके समीप आजाओ और मैं तुम्हारा आतिथ्य न कर सकूँ, इससे बड़ा अभाग्य मेरा क्या होता; किन्तु तुम्हारा आतिथ्य करने योग्य कुछ नहीं है मेरे समीप। दीर्घकाल तक उपवास-व्रत करते रहनेके कारण मेरी पर्ण-कुटीमें शुष्क कन्द तक नहीं हैं। अब इस वृद्ध शरीरसे वनमें भी मुझसे भटका नहीं जाता। अत्यन्त एकान्त प्रिय होनेके कारण मैंने कभी सेवक-सहायक नहीं रखा। युगों तक मैंने जो व्रत, तप, जप, अनुष्ठानादि पुण्य किये हैं, वे सब तुम्हारे चरणोंमें समर्पित हैं। शरभङ्गका यह आतिथ्य स्वीकार करो!'

'इस शरीरमें मेरी आसक्ति नहीं है। आप यहाँ पधारे हो तो मुझपर एक अनुग्रह करो।' महर्षिने हाथमें जल लेकर अपने समस्त पुण्य, सब तप सङ्कल्प पूर्वक श्रीरामके चरणोंमें समर्पित करके प्रार्थना की—'यद्यपि यह दृश्य आप तीनोंको बहुत अप्रिय होगा; किन्तु इस वृद्धकी जीवनभरकी लालसा पूर्ण होजाने दो। मैं आपकी उपस्थितिमें, आप तीनोंका इसी प्रकार दर्शन करते देह त्याग करना चाहता हूँ। आप इसे अस्वीकार मत करो। केवल कुछ क्षण प्रतीक्षा करते ऐसे ही विराज-मान रहो और इतना वरदान दो कि आपके चरणोंमें प्रीति इस अन्तःकरणमें सदा बनी रहे।'

'किसी औपचारिकताकी आवश्यकता नहीं है। शरभङ्गका शरीर छूट जाय तो आप चिताग्नि शान्त होजानेकी प्रतीक्षा मत करना।' श्रीरामने करके संकेतसे भक्तिका वरदान दे दिया. तब शरभङ्गजीने कहा— 'यहांसे कुछ दूरीपर सरिता-तटपर मुनि सुतीक्ष्णका आश्रम है। वे महातेजा महर्षि अगस्त्यके शिष्य हैं। उनके

समीप तुम्हारे निवासकी सब सुविधा है। वे दण्डकारण्यके समीपस्थ सभी तपस्वियोंसे परिचित हैं। तुम यहाँसे जाकर अवश्य दर्शन करो उनके।'

महर्षि शरभङ्गने अपनी कुटीके सम्मुख वह सब काष्ठ एकत्र करके चिता बनायी, जो उनकी पर्णशालाके समीप एकत्र था। इसमें लक्ष्मणकी सहायता भी उन्होंने सविनय अस्वीकार करदी। एक तपस्वीके स्वेच्छा-शरीर-त्यागमें क्षत्रिय-कुमारको सहयोग नहीं करना चाहिए, यह महर्षिका तर्क लक्ष्मणको स्वीकार करना पड़ा। जिन्हें देवराज इन्द्र सशरीर ब्रह्मलोक लेजाने स्वयं पधारे थे, दिव्य देह तो स्वतः देवेन्द्र उन्हें दे देते। इस सुयोगको जिन परम विरक्तने अभी-अभी ही अस्वीकार किया था, उनसे इस मर्त्य धरापर शरीर रखनेका अनुरोध करना धृष्टता ही होती। श्रीसीताराम लक्ष्मणको शान्त यह दृश्य देखना था।

महर्षिने चिता-निर्माण करके समीपके कुण्डमें स्नान किया। आचमन करके, श्रीराम, लक्ष्मण, जानकीकी प्रदक्षिणा की। तीनोंको प्रणाम किया। चिताकी प्रदक्षिणा करके वे उस काष्ठ-राशिके ऊपर कुशका आसन डालकर स्थिर पद्मासनसे बैठ गये।

महर्षिने नेत्र बन्द नहीं किये। अर्धोन्मीलित भी नहीं हुए उनके लोचन। श्रीरामके मुखारविन्दपर स्थिर लगी दृष्टि, यह भी पता नहीं लगा कि उन्होंने कब अग्नि धारणा की। सहसा प्रणवकी ध्वनि गूँजी। महर्षि मौन बैठे थे। उनके अन्तरकी वह परा वाणी जैसे समस्त वातावरणके कण-कणमें गूँजने लगी।

महर्षिके शरीरसे ही ज्वाला प्रकट हुई। उनका शरीर जैसे पार्थिव न होकर कर्पूर निर्मित हो, इस प्रकार जलने लगा। धूम्रकी एक रेखा तक नहीं। दिशाएँ अद्भुत सुरभिसे परिपूर्ण होगयीं। कोई चिटखनेका शब्द नहीं, कोई चिनगारी नहीं। शान्त, निर्धूम उज्ज्वल लपटें — चिताके काष्ठोंने तो अग्नि तब पकडी जब महर्षिका शरीर प्रायः जल चुका था।

दिशाएँ नीरव, निस्तब्ध। वायुकी गति भी जैसे रुद्ध होगयी थी। सानुज सीता सहित श्रीराम उठे तब जब वृद्ध तपस्वी शरभङ्गका शरीर सम्पूर्ण रूपसे इस स्वेच्छा पूर्वक किये गये आत्ममेध यज्ञकी सम्पूर्ण पूर्णाहुति बन चुका। धन्य महर्षि ! धन्य भारत धरणि जहाँ ऐसे भी अतिमानव महाप्राण उत्पन्न होते हैं।

कहाँ कोई औपचारिक अन्येष्टिकी आवश्यकता थी उस महापुरुषको। श्रीसीताराम-लक्ष्मणने अश्रुपूरित लोचन मस्तक झुकाया उस प्रज्वलित चिताको। उसी क्षण उस चिताकी ज्वालासे एक कुमार उठा ऊपर—मानो ज्वालाने ही घनीभूत होकर वह किशोर रूप धारण कर लिया हो। उस कुमारने मौन, हाथ जोड़कर श्रीरामको सिर झुकाया। गगनमें ही उसने तीनोंकी परिक्रमा की और इस प्रकार ऊपर चला गया कि उतनी तीव्र गति विद्युतमें भी देखी नहीं गयी। पलक झपकते वह अन्तरिक्षमें अन्तर्हित होगया।

सुतीक्ष्णके समीप

अत्यन्त गम्भीर होगये थे श्रीराम महर्षि शरभङ्गके यहाँसे निकलनेपर। लक्ष्मण और सीतामें भी कुछ बोलनेका उत्साह नहीं था। वहाँसे थोड़ा आगे आनेपर ऋषि-मुनियोंके एक समुदायने स्वागत किया। उनमें बालखिल्य थे, वैखानस (वानप्रस्थ) थे, किरणय (चन्द्र या सूर्यकी किरणोंसे ही पोषण ग्रहण करनेवाले)थे, पत्रप(पत्तोंके आहारपर रहनेवाले),जलमें रहकर तप करनेवाले, दन्तोलूखली (दाँत से कच्चा अन्न चबाकर रहने वाले), धूम्रप (केवल धूनीका धुआं पीकर रहनेवाले), कोटरी (वृक्षके खोखलेमें रहनेवाले), वृक्षस्थ (पेड़पर ही रहनेवाले)—इस प्रकार नाना ढंगसे तप करनेवाले लोग थे।

'हम सब दण्डकारण्यके समीप रहनेवाले तपस्वी तुम्हारे समीप शरणकी याचना करने आये हैं शरणागत वत्सल !' उन तपस्वियोंने प्रार्थना की—'हमें क्षमा करना। राजाको पाप होता है यदि वह प्रजासे कर ले और उसकी रक्षा न करे' राजाको प्रजाके कर्मका, तपका भी षष्ठांश प्राप्त होता है। अयोध्याके नरेश चक्रवर्ती हैं। वनकी प्रजाकी रक्षा उन्हींका कर्त्तव्य है। यहाँ जो तपस्वी ब्राह्मण या वानप्रस्थ रहते हैं, वे आश्रयहीन हैं, अनाथ हैं। राक्षसोंसे उत्पीड़ित हैं। अशरण शरण ! आपके अतिरिक्त हमारी रक्षा करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।'

'मैं आप सबकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?' श्रीरामने पूछा।

'आप आगे तो चल ही रहे हैं। हमारे साथ आवें।' तपस्वियोंने कहा—'स्वयं हमारी स्थिति देखें और निर्णय करें कि आपको क्या करना चाहिए।'

कल्पनासे बाहरकी स्थिति सम्मुख आयी। स्थान-स्थानपर, जहाँ भी जलकी सुविधा थी, तपस्वियोंकी कुटिया थीं। उनमें-से बहुत-सी पर्णशालाएँ सूनी पड़ी थीं। जहाँ-तहाँ मनुष्योंके कङ्काल पड़े थे। कहीं कङ्कालोंके और कहीं नरमुण्डोंके ढेर थे। श्रीजनक-नन्दिनी वह दृश्य देखकर सिहर उठीं।

'यह सब क्या है ?' श्रीरामने पूछा।

'ये सब नरमुण्ड या कङ्काल तपस्वी ब्राह्मणोंके हैं।' साथके तपस्वियोंने

बतलाया—'इममें-से कोई भी किसी दिन, किसी क्षण राक्षसों द्वारा खाया जाकर इन्हीं कङ्कालोंमें-से एक बन सकता है।'

'श्रीराम ! मनुष्य सदा सावधान नहीं रह पाता।' एक वृद्धने कहा—'सावधान, शुद्ध ब्राह्मणपर राक्षस आक्रमण नहीं कर पाते ; किन्तु नित्यक्रियाके समय-अशुद्ध भी रहना पड़ता है। निद्रा ली ही न जाय, यह सम्भव नहीं है। राक्षस मायावी हैं। कोई नहीं जानता कि वह कब किस रूपमें आवेंगे। पशु-पक्षी बने वे हमारे मध्य कभी भी आजाते हैं। अपने वेशमें भी आवें तो हम क्या कर लेंगे ? क्रोध करके शाप देनेसे हमारा तप नष्ट होता है। अपने साधनके पुण्यको ही नष्ट कर देनेकी अपेक्षा शरीरका नष्ट होजाना तपस्वी सहज स्वीकार कर लेता है। कोई तपस्वी एकाकी, अपवित्र या प्रमत्त हुआ और राक्षसोंमें-से किसीने उसे आहार बनाया। वे क्रूर पिशिताशन शोणित पीकर, मानव-माँस कच्चा खाकर प्रसन्न होते हैं। कङ्कालको कभी उठाकर दूसरे कङ्कालोंके ऊपर डाल देते हैं, कभी वहीं छोड़ देते हैं, कभी मुण्ड तोड़कर दूर फेंक देते हैं।'

'आप सब यह वन त्यागकर······' श्रीजानकीके नेत्रोंसे अश्रुधारा चल पड़ी। किसी प्रकार वे बोलीं।

'देवि ! कहाँ जायँ हम ?' दूसरे वृद्धने कहा—'हम यहाँ हैं, अतः मानव भक्षी ये राक्षस उत्तरके तपोवनों तक नहीं जाते। हम सब यहाँसे चले जायँ तो इनके आखेट जनपद और उत्तरके ऋषि आश्रम होने लगेंगे। हमने अपनेको सङ्कट-में निरन्तर रखकर, इन पिशाचोंको अपना रक्त-तर्पण देकर अब तक उत्तर बढ़ने-से अवरुद्ध कर रखा है। शरीर तो नाशवान है, देहके नाशके निमित्त राक्षस बनते हों तो बनें ; किन्तु यह अहर्निशिका सङ्कट हमें सदा सावधान रखता है। मृत्युका निरन्तर प्रत्यक्ष भय जीवनमें प्रमाद नहीं आने देता। हम किसीके विरुद्ध अभियोग नहीं उपस्थित करते। आपके सर्व समर्थ उदारचक्रचूड़ामणि, ब्रह्मण्यदेव, अशरण-शरण स्वामी यहाँ पधारे, अतः हमने पुकार की है। श्रीराम ! हम भीत हैं। आप कहीं यह मत प्रकट करना कि तपस्वियोंके आदेशसे राक्षसोंका संहार करने आप इस अरण्यमें आये हैं। इससे राक्षस हम सबपर अधिक क्रुद्ध हो उठेंगे। वे हमारा सामूहिक संहार करने लगेंगे।'

'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ !' वीतराग, वनस्थ तपस्वियोंकी यह स्थिति, इतना आतङ्कग्रस्त जीवन इनका ? करुणावरुणालयके कमललोचन भर आये। उन्होंने

दक्षिणभुजा उठाकर अपने मेघ गम्भीर स्वरमें घोषणा की–'पृथ्वीको देव-द्विज द्रोही निशाचरोंसे रहित कर दूँगा। आप सब निर्भय रहें। रामके रहते अवसे कोई राक्षस आपमें किसीको उत्पीड़ित करने नहीं आ सकेगा।'

'श्रीरामभद्रकी जय! अशरण शरण, अनन्त अभयद कौसल्याकिशोरकी जय!' समस्त तपस्वियोंने एक स्वरसे जयघोष किया। वे बड़े उत्साहसे श्रीरामको महर्षि अगस्त्यके शिष्य सुतीक्ष्णजीके समीप ले चले।

× × × ×

'देव! आपने जिस वात्सल्यसे पोषण किया, शिक्षा दी, उसका प्रतिदान दे पाना सम्भव नहीं है।' सुतीक्ष्ण तब किशोर थे। महर्षि अगस्त्यके आश्रममें रहकर गुरु-सेवा करते हुए उन्होंने वेदाङ्ग सहित वेदोंकी सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त होनेपर हाथ जोड़कर उन्होंने गुरु-चरणोंमें प्रार्थना की–'अब यदि कुछ गुरु दक्षिणाकी आज्ञा होजाय तो मैं उसे अर्पित करके अपनेको कृतकृत्य मानूँ।'

'वत्स! इतने समय तुमने सच्चे मनसे मेरी सेवा की है।' महर्षि अगस्त्यके मनमें कामना कहाँ? कभी हो भी जाय तो सुरपति भी उसे पूर्ण करनेमें अपना सौभाग्य मानें। एक निर्धन ब्राह्मण-कुमारसे वे क्या माँगें। उन्होंने आशीर्वाद दिया—'मैं तुम्हारी सेवासे सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारा मंगल हो। तुम्हारी विद्या इहलोक-परलोक दोनोंमें तुम्हें सत्पथ प्रदान करे!'

'कोई आज्ञा गुरुदेव!' शिष्यका सन्तोष नहीं हो रहा था। गुरु बार-बार उसे आशीर्वाद देकर जानेको कह रहे थे और वह बार-बार उनसे गुरु-दक्षिणा माँगनेका अनुरोध कर रहा था।

'तुम तो इस प्रकार हठ कर रहे हो जैसे मेरे समीप परात्पर परम पुरुषको ही ले आओगे!' शिष्यके बार-बारके आग्रहसे झल्लाकर महर्षि अगस्त्यने कह दिया।

'आपने मुझे त्रयी विद्या ही नहीं दी, उसका परमप्राप्य क्या है, यह भी सूचित कर दिया।' परम समर्थ गुरुका समर्थ शिष्य उनके चरणोंमें गिर पड़ा—'आपका यह अनुग्रह भाजन इतना भाग्यहीन, अज्ञानी नहीं है कि ऐसे महा-

मङ्गल आदेशको अस्वीकार कर दे । आप आशीर्वाद दें ! मैं उन परात्पर पुरुषको शक्ति सहित लेकर ही आपके श्रीचरणोंके दर्शन करूँगा ।'

'सफल कामोभव !' शिष्यने आदेश स्वीकार करके जब गुरुके चरणोंमें प्रणिपात किया, गुरुके नेत्र सजल होगये । उन्होंने सम्पूर्ण हृदयसे आशीर्वाद दिया ।

परात्पर पुरुष पहिले शिष्यको प्राप्त हों, तब तो वह उन्हें लेकर गुरुदेवके सम्मुख आवे । सुतीक्ष्णके जीवनका लक्ष्य निश्चित होगया । वे गुरुदेवके आश्रमसे पर्याप्त उत्तर आकर एक छोटी सरिताके किनारे एकान्त काननमें आश्रम बनाकर तप करने लगे ।

जिनके जप, तप, साधनका लक्ष्य स्वर्ग, ब्रह्मलोक अथवा और कोई सिद्धि थी, जिन्हें समाधि या तत्त्वज्ञान पाना था,उन तपस्वियोंको प्रमादके क्षणमें भले कोई राक्षस भक्षण कर लें ; किन्तु जो सर्वेश्वरेश्वरकी ही प्रतीक्षामें, उन्हींकी कृपाके भरोसे बैठ गया, उन्हींके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहा है, कोई उसकी ओर क्रूर दृष्टि उठावे तो सर्व समर्थ उसे क्षमा कर देगा ? सुतीक्ष्ण दण्डकारण्यके उत्तरीय प्रवेश द्वारपर रहने लगे थे । वे अपने गुरुसे भी दक्षिण अथवा लंकामें ही जा बैठते तो उनके रक्षकके अभय कर असमर्थ होगये थे ? रावण चाहे जितने वरदान प्राप्त था, उनका कुछ बिगाड़ पाता ?

'वे अनन्त करुणावरुणालय हैं । उनके चरणोंकी आशा कभी असफल नहीं होती ।' सुतीक्ष्णको अविचल विश्वास न होता तो गुरुको आश्वासन दे पाते परात्पर पुरुषको ले आनेका ? वे आश्रम बनाकर वनमें जप-तप करने आये थे और कठिनतम तप, अविराम जब चल रहा था उनका ; किन्तु यह तो सहज स्वभाव था शुद्धान्तःकरण वेदज्ञ ब्राह्मण-कुमारका । इसमें किसीको सुतीक्ष्णने साधना माना ही नहीं । उनके प्राण प्रतीक्षा कर रहे थे—'वे दयासागर अवश्य इस दुर्बल, साधनहीनपर कृपा करके पधारेंगे ।'

सुतीक्ष्णकी यह प्रतीक्षा ही उनकी साधना थी और यह प्रतीक्षा—अनथक प्रतीक्षा चलती रही । सुतीक्ष्ण आश्रम बनाकर बैठे थे तब युवा थे । अब अत्यन्त वृद्ध होचुके थे ; किन्तु उनके हृदयने निराश होना सीखा ही नहीं था । उन्हें पूरा विश्वास था—'वे परात्पर प्रभु अवश्य पधारेंगे ।'

'परात्पर पुरुष मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम अपनी पत्नी और भाईके साथ वनमें आगये हैं।' देवराज इन्द्रने महर्षि शरभङ्गके आश्रमसे आकर समाचार दिया—'शरभङ्गने उनके सम्मुख देहत्याग किया। अब वे आपके आश्रमकी ओर ही आरहे हैं।'

'भाई और पत्नीके साथ ?' सुतीक्ष्णने सुरेन्द्रकी ओर देखा। जो एक, अद्वय, सर्वरूप है, उसके भाई और पत्नी ?

'आप गुरुदेवके समीप उन्हें शक्ति सहित ले जानेका वचन दे आये हैं' सुरेन्द्रने स्पष्टीकरण किया—'जीवोंके परमाचार्यको भी वे अपने साथ लिये पधार रहे हैं।'

'वे आरहे हैं ? वे करुणावरुणालय मेरे स्वामी आरहे हैं ?' सुतीक्ष्णको अपनी ही सुधि नहीं रही तो सुरपतिके सत्कारकी सुधि कैसे रहती। इन्द्र कब प्रणाम करके चले गये, उन्हें पता नहीं। वे तो दौड़े उठकर और दूर तक दौड़ते गये। कभी एक ओर, कभी दूसरी ओर दौड़ते रहे। पता नहीं कि प्रभु किधरसे आरहे हैं। प्रेममग्न मार्गमें नृत्य करने लगते हैं दोनों हाथ उठाकर। नेत्रोंमें अश्रुधार, शरीर रोमाञ्च प्रपूरित। जब स्वेदसे आगे कम्प प्रकट हुआ, दौड़ना, नृत्य कुछ सम्भव नहीं रहा। मार्गमें ही स्थिर बैठ गये नेत्र बन्द करके।

'महामुनि सुतीक्ष्ण तो मार्गमें ही ध्यानस्थ बैठे हैं।' साथ आये तपस्वियोंने दूरसे दिखलाया। अनेक नदी, पर्वत पार करके श्रीराम यहाँ तक पहुँचे थे।

'आप सब आज्ञा दें तो मैं पत्नी और भाईके साथ ही इनके दर्शन करूँ।' श्रीरामकी प्रार्थना उचित थी। उन्होंने तपस्वियोंको वचन देकर लौटा दिया—मैं आप सबके आश्रमोंपर आऊँगा। वे तो तीर्थ हैं। जहाँ सात्विक जन साधन-भजन करते हैं, वह स्थल ही सामान्यजनोंको पवित्र करनेवाला तीर्थ होता है।'

तपस्वियोंको विदा करके श्रीराम सुतीक्ष्णके समीप पधारे। उन ध्यानस्थ भावयोगीको उत्थित करनेके लिए चेष्टा ही नहीं, सङ्कल्प करना पड़ा। उनके हृदयमें प्रकट चिद्घन रूपको तिरोहित करना पड़ा।

सुतीक्ष्ण उठे और सम्मुख सौन्दर्यघनको सानुज, सशक्ति देखकर पुनः नृत्य करने लगते। कभी भूमिमें दण्डवत गिरते, कभी उठकर नृत्य करने लगते। मर्यादा पुरुषोत्तमने उन श्वेत जटाधारी, गौर कृशकाय, महामुनिको हृदयसे लगाया।

सुतीक्ष्ण जब सावधान हुए, श्रीराम-लक्ष्मणने पिताके सहित अपना नाम, गोत्र उच्चारण पूर्वक प्रणाम किया। सुतीक्ष्ण उन्हें अपनी पर्णकुटीमें ले आये। भली प्रकार पूजन-स्तवन करके अन्तमें बोले—'आपके आगमनका समाचार सुरपतिने मुझे दिया था। मैं अकिञ्चन क्या देता उन्हें; किन्तु सेवकका सङ्कोच समर्थ सकरुण स्वामी सदा दूर करते आये हैं। सुरपतिको इस सम्वादके प्रतिदानमें आप राक्षसोंसे अभय प्रदान कर दें।'

'उन्हें अभय देने ही राम यहाँ अरण्यमें आया है।' सेवककी प्रार्थना इन इन्दीवर सुन्दरके चरणोंमें कभी अस्वीकृत नहीं हुई।

'आपके दर्शन करते देह त्याग कर महर्षि शरभङ्ग ब्रह्मलोक गये। धन्य थे वे।' सुतीक्ष्णने कहा—'इस सेवकको भी स्पृहा होती है। अब यह जन भी वृद्ध हो चुका। आप अनुमति दें।'

'आपको जो भी लोक अभीष्ट होंगे, सब मैं दे दूँगा।' श्रीरामने अत्यन्त गम्भीर होकर कहा। श्रीजनक-नन्दिनी सिहर उठी थीं सुतीक्ष्णकी प्रार्थना सुन-कर। महर्षि शरभङ्गके समान क्यों ऋषि-मुनियोंके मरणका ही साक्षी होना है उन्हें? इस सम्भावनाको ही श्रीरामने समाप्त कर दिया—'अभी तो आपका आतिथ्य हमें बहुत दिनों तक अभीष्ट है। आपके गुरुदेवके भी दर्शन करने हैं और इस दुर्गम प्रदेशमें आप पथ-दर्शक नहीं रहेंगे तो हम वहाँ तक पहुँचेंगे कैसे?'

'मेरे स्वामी! सेवककी आन निभाना आपको ही आता है।' सुतीक्ष्ण भाव-विभोर होगये—'याचनाकी अपेक्षाके बिना अभीष्ट प्रदान करते भी स्वयंको ही उपकृत दिखलाना आप शीलसिन्धुके ही अनुरूप है।'

'आपको वनमें ही तो रहना है?' सुतीक्ष्णने अपनेको स्थिर करके प्रार्थना की—'यह आश्रम आपका ही है। यह एकान्तमें है, जलकी सुविधा है। केवल मृगोंका उपद्रव यहाँ है। वे निर्बाध यहाँ कूदते रहते हैं। उनकी क्रीड़ा आप तीनों-को प्रसन्न करेगी। आप यहीं निवास करें।'

'हम तो यहाँ रहने आये ही हैं।' श्रीरामने सस्मित कहा—'किन्तु दण्ड-कारण्यके तपस्वियोंके भी हमें दर्शन करने हैं। उन तपस्वियोंने ही हमें आप तक पहुँचाया है। अब आप हमारे पथ-दर्शक बनकर हमें उनका दर्शन सुलभ करेंगे।'

सुतीक्ष्णने सहर्ष यह सेवा स्वीकार कर ली। उस रात्रि श्रीराम सीता तथ

भाईके साथ वहीं रहे। दूसरे दिनसे सुतीक्ष्ण साथ होगये। अब यह क्रम बन गया कि एक दिशाकी ओर एक दिन यात्रा प्रारम्भ होती। उस ओरके तपस्वी मुनिगणोंका आतिथ्य स्वीकार करके लौटनेमें कई कई दिन, कभी सप्ताह भी लग जाते थे।

महामुनि सुतीक्ष्णकी साधना सफल होगयी थी। पूर्ण होचुकी थी उनकी प्रतीक्षा। अब उन्हें कुछ पाना नहीं था। कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा था। उनको तथा उनके आश्रमको भी श्रीरामने स्वीकार कर लिया था। सुतीक्ष्ण पथ-दर्शक होगये थे। वहाँ श्रीसीताराम लक्ष्मण दस वर्ष रहे। अवश्य ही इसका अधिकांश समय आश्रमसे बाहर अन्य ऋषि-मुनियोंके यहाँ जानेमें, उनका आतिथ्य स्वीकार करनेमें व्यतीत हुआ; किन्तु घूम-फिरकर आनेका केन्द्र सुतीक्ष्णाश्रम ही रहा। सभी वर्षोंके चातुर्मास्य—वर्षाके चार महीने श्रीरामने सुतीक्ष्णाश्रममें ही व्यतीत किये। जिनकी दीर्घकालसे सुतीक्ष्ण प्रतीक्षा करते रहे थे, पधारे तो उन्होंने सुतीक्ष्णको पूर्णतः अपना बना लिया।

अगस्त्यके अग्रज

'आर्य पुत्र ! आप दोनों आयुध लिये राक्षस-प्रदेशमें प्रवेश करेंगे तो उनसे बिरोध बढ़ेगा ही ।' श्रीजनक-नन्दिनीने, एक दिन प्रात: जब सुतीक्ष्णाश्रमसे दक्षिण चलना था, आपत्ति की—'आपने राक्षसोंके विनाशकी प्रतिज्ञा भी करली है । अकारण किसीसे भी आप क्यों शत्रुता करें ? किसीको भी उत्तेजित होनेका अवसर क्यों दिया जाय ?'

'देवि ! शस्त्र-त्याग क्षत्रिय धर्मके अनुकूल नहीं है । मुनिवृत्तिसे रहनेका व्रत लेकर भी हम इसीलिए अयोध्यासे धनुष लेकर ही आये हैं । महात्माओंका भय-निवारण हमारा कर्त्तव्य है, फिर इसका कोई भी परिणाम क्यों न हो ।' श्रीरामने समझाया—'हम अकारण, निर्वैर राक्षसोंका वध नहीं करेंगे ; किन्तु तपस्वीजनोंके उत्पीड़कोंका नाश हमें अभीष्ट है । क्षत्रिय इसीलिए धनुष धारण करता है कि संसारमें कोई दुर्बल आर्तनाद न करे । निर्वैर, कन्द-मूलाशी तपस्वी-गण हमारी शरण आये । वे नरभक्षी राक्षसोंसे सन्त्रस्त हैं । उन्हें शरण देकर अभय कर देना हमारा कर्त्तव्य है । राम तुम्हारा और लक्ष्मणका भी त्याग कर सकता है ; किन्तु शरणागतका त्याग नहीं कर सकता ।'

'तुमने स्नेह और सौहार्द्र वश जो सम्मति दी है, वह उचित नहीं है ।' श्रीरामने जानकीकी ओर सप्रेम देखा—'हम कैसे अवसर दे सकते हैं कि विराधके समान कोई राक्षस आपको झपट ले और अपने आहार-रन्धनपर नियुक्त करनेकी इच्छा करे ।'

'विराधके समान ?' श्रीवैदेही सिहर उठीं—'आपका ही निर्णय उचित है आर्यपुत्र ! वैसे भयानक और दुष्ट राक्षस और भी हो सकते हैं ; तब .... ।'

एक दिन एक योजन वर्गाकार सरोवर मार्गमें मिला । अत्यन्त निर्मल जल और वाद्योंकी, संगीतकी कर्ण मधुर ध्वनि आरही थी वहाँ । श्रीसीताराम-लक्ष्मण चकित रह गये । इधर-उधर देखा । एक मुनि दीख गये । श्रीरामने उन धर्मभृत नामक मुनिके समीप जाकर, प्रणाम करके पूछा—'भगवन् ! यहाँ कोई दीखता तो है नहीं, यह गायन-वाद्यकी ध्वनि कहाँसे आरही है ।'

'श्रीराम ! तुमसे कुछ अविदित भी है ? लेकिन तुम नर-नाट्य करके ठीक ही पूछ रहे हो।' उन धर्मभृत मुनिने बतलाया—'यह पञ्चाप्सर तीर्थ है। यहाँ माड्यकर्णी मुनि तपस्या कर रहे थे। उनकी कठिन तपस्यासे सशङ्क स्वर्गाधिपने पाँच अप्सराएँ भेजीं। उन अप्सराओंको देखकर वे तपोधन विचलित होगये। अब अपने तपोबलसे इसी सरोवरके भीतर स्वर्गोपम सदन बनाकर उन अप्सराओंके साथ निवास करते हैं। उन अप्सराओंकी ही गायन-वाद्यध्वनि गूँज रही है।'

'आपने तपस्वियोंके उत्पीडक राक्षसोंके विनाशकी प्रतिज्ञा की है।' मुनि धर्मभृतने कहा—'लेकिन राक्षस तो केवल देह नष्ट करते हैं। तपस्वीके तपको ही नष्ट करने वाले सुरेन्द्रका शासन आप नहीं करेंगे ?'

'जो अपने संयमपर स्थिर है, उसे सन्त्रस्त करने वालेका शासन करना हमारा कर्त्तव्य है।' श्रीरामने सस्मित कहा—'किन्तु जो प्रलोभनोंके सम्मुख स्वयं झुक जाते हैं, जो अपनी साधनासे स्खलित होनेमें सुख मान लेते हैं, उन्हें सुरक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है ? अन्ततः मनुष्य कर्म-स्वतन्त्र है।'

'आप यह क्यों नहीं कहते कि जो अपनी साधना, अपने तपका अहं लेकर चलते हैं, उनके बलको देख लेनेका स्वत्व सुरपतिको प्राप्त है।' धर्मभृतने भी प्रसन्न स्वरमें ही कहा—'किन्तु जो आपके इन कमलारुण चरणोंका आश्रय लेते हैं, वे नित्य सुरक्षित हैं। सुरपति स्वयं या दूसरे कोई विघ्नोंके अधिदेवता उनकी ओर देखनेका भी साहस नहीं कर पाते।'

इस प्रकार यह यात्रा-क्रम चलता ही रहता था। श्रीराम क्रम-क्रमसे सभी महात्माओंके आश्रमोंमें गये। कहीं किसी आश्रममें एक दिन रहे, कहीं दो या तीन दिन, कहीं एक सप्ताह और कहीं एक मास। सर्वत्र महात्मा, तपस्वी सोत्साह आतिथ्य करते थे। इन यात्राओंसे सानुज सीता सहित श्रीराम सुतीक्ष्णके आश्रम लौट आते थे। कुछ समय वहाँ रहकर फिर किसी आश्रमकी ओर चले जाते थे।

इन यात्राओंमें सुतीक्ष्णजी सदा साथ नहीं रहते थे। वे तभी साथ चलते थे जब श्रीराम साथ चलनेका आग्रह करते थे। सुतीक्ष्णने अपने आश्रममें रुकनेका भी कभी आग्रह नहीं किया और न कहीं जानेपर आपत्ति की। उनका निश्चय था—'आश्रम मेरा नहीं है। आश्रम उनका है और मैं उनका सेवक हूँ। उन्हें उचित लगे तो सेवकको साथ रखें और उचित लगे तो सेवकको अपने आश्रमपर छोड़ जायँ। आश्रममें रहना न रहना उनकी अपनी इच्छा है।'

सुतीक्ष्णके इसी शीलने श्रीरामको उनके आश्रमको अपना आश्रय माननेको बाध्य किया। जहाँ आतिथ्य होता है, वहाँ अधिक काल नहीं रहा जा सकता। जहाँ स्वागत-सत्कारका सम्भार नहीं है, अपने रहनेकी सम्पूर्ण स्वच्छन्दता है, व्यक्ति वहीं आवास बना सकता है। पूरे दस वर्ष इसीलिए सुतीक्ष्णाश्रम श्रीरामका आवास रहा।

सुतीक्ष्ण गुरुदेवको वचन दे आये थे कि वे परात्पर पुरुषको उनकी शक्तिके सहित उनके समीप ले आवेंगे। इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए दीर्घकाल तक उन्होंने तप किया था। वे परात्पर पुरुष अब अपनी शक्तिके सहित उनके सम्मुख थे, उनके आश्रममें थे; किन्तु दस वर्षमें भी सुतीक्ष्णने कभी चर्चा नहीं की कि श्रीराम भाई एवं भार्याके साथ उनके गुरुके समीप चलें। 'सेवकका कार्य सेवा करना है। सेवक-की अपनी आकांक्षा क्या। स्वामी सर्वज्ञ हैं, सर्व समर्थ हैं? दयालु हैं तो वे सेवकके चित्तकी नहीं समझते? सेवककी आन उनकी अपनी आन नहीं है? सेवकका हित जिसमें है, उसे वे समझते ही हैं तो उनसे कोई प्रार्थना क्यों?'

'सुनता हूँ कि इसी दण्डकारण्यमें कहीं पयोधिपायी अमिततेजा महर्षि अगस्त्य-का आश्रम है।' अन्ततः एक दिन श्रीरामने स्वयं सुतीक्ष्णसे कहा—'अब तक उनके दर्शन नहीं कर सका। आप कृपा करके हम तीनोंको उनके समीप ले चलें।'

'चलें प्रभु!' सुतीक्ष्णको कोई योजना बनानी थी यात्राके लिए? वीतराग तपस्वीको आश्रमका क्या मोह। सुतीक्ष्णने अपना कमण्डलु उठाया, मृगचर्म बगलमें दबाया और उठ खड़े हुए।

सुतीक्ष्णजीके आश्रमसे चलनेपर एक रात्रि मार्गमें विश्राम करना पड़ा। दूसरे दिन सायंकालके लगभग पिप्पली वन दीख पड़ा, तब सुतीक्ष्णजीने कहा—'यह मेरे गुरुदेव महर्षि अगस्त्यके अग्रज ऋषिश्रेष्ठ अग्निजिह्वजीकी आश्रमभूमि है। आज रात्रि आप इस आश्रमको अपने आतिथ्यका अवसर दें। यहाँसे महर्षि अगस्त्यका आश्रम एक योजन दूर है।'

कुम्भजके नामसे महर्षि अगस्त्य ही जाने जाते हैं; किन्तु अगस्त्यजी तीन भाई हैं। भगवान् ब्रह्माके यज्ञमें अप्सरा श्रेष्ठ उर्वशीको देखकर मित्र और वरुण इन दो देवताओंका रेतस्खलन हुआ। उसका जो अंश यज्ञीय कलशके भीतर गिरा, उससे अगस्त्यजीकी उत्पत्ति हुई। जो अंश कलशके ऊपर रहा उसे निमिके शापसे देह त्याग करके शरीर धारणके निमित्तकी प्रतीक्षामें स्थित वशिष्ठजीने अपने

जन्मका निमित्त बनाया। इसी से वशिष्ठजीका एक नाम मैत्रावरुणि हुआ। जो अंश अग्निमें पड़ा, उससे अग्निजिह्वजी उत्पन्न हुए। प्रथम प्रकट होनेके कारण अग्निजिह्व अगस्त्य एवं वशिष्ठके भी अग्रज माने जाते हैं।

'अपने कुलगुरुके अग्रजके दर्शनका अहोभाग्य आज आपके अनुग्रहसे प्राप्त होगा।' श्रीरामने प्रसन्न होकर सुतीक्ष्णजीसे कहा।

सुतीक्ष्णजीके नेत्र भर आये। उनसे बोला नहीं गया। ऐसे उदार शिरोमणि स्वामी—स्वयं सुतीक्षणको श्रेय देने, उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण करने चल रहे हैं। यह अहोभाग्य दे रहे हैं कि सुतीक्ष्ण केवल गुरुदेवको ही नहीं ; उनके अग्रजको भी परात्पर पुरुषका दर्शन करा सकें और स्वयंको अनुगृहीत मान रहे हैं।

आश्रमके समीपके सरोवरमें स्नान करके श्रीराम-लक्ष्मण जब सायं सन्ध्या करने लगे, सुतीक्ष्ण महर्षि अग्निजिह्वको समाचार दे आये। महर्षिने अत्यन्त वात्सल्य पूर्वक स्वागत किया। श्रीसीतारामको लगा कि वे आज अयोध्याके अपने कुलगुरुके ही आश्रममें पहुँच गये हैं। श्रद्धा, सम्मान, स्नेहसे परिपूर्ण वह आतिथ्य—सुख पूर्वक वहाँ रात्रि व्यतीत हुई।

प्रातः स्नान सन्ध्यादि सम्पन्न करके भाई एवं जानकीके साथ श्रीरामने महर्षिको प्रणाम किया और आगे प्रस्थानकी अनुमति माँगी। महर्षिने दोनों भाइयोंको हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया। स्वस्त्यन किया—'शुभस्ते पन्थानः सन्तु।'

महामुनि अगस्त्य

'आप दीर्घकालसे जिनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, अहर्निशि जिनके नाम एवं गुणोंकी ही चर्चामें लगे रहते हैं, वे परात्पर पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अपनी अभिन्न सहचरी सीता और अनुज लक्ष्मणके साथ आपके आश्रम-द्वारपर उपस्थित हैं।' सुतीक्ष्णने महर्षि अगस्त्यके सम्मुख दण्डवत प्रणिपात करके अञ्जलि बाँधकर गद्गद् स्वरमें निवेदन किया। आज योग्य शिष्यने गुरु-दक्षिणाके रूपमें परात्पर पुरुषको ही निवेदित किया। श्रीराम, लक्ष्मण, सीताको अगस्त्याश्रम तक लाकर, उन्हें आश्रमके द्वारपर तनिक प्रतीक्षा करनेको कहकर सुतीक्ष्ण महर्षि अगस्त्यको समाचार देने चले गये थे।

महर्षि अग्निजिह्वके आश्रमसे अगस्त्याश्रम तकका मार्ग बहुत मनोरम मिला था। मार्गमें कटहल, विल्व, तिन्दुक, आम्रके सफल पादप थे सघन और पुष्पित-लताएँ थीं। महर्षि अग्निजिह्वके आश्रमसे पहिलेका वन तो राक्षसोंने प्राणिहीन-प्राय बना डाला था; किन्तु इधरके वनमें निर्भय विचरण करते मृगोंके यूथ मिले। वृक्षोंपर पक्षियोंका समूह मिला। पशु, मृग, पक्षी भी कुतूहल पूर्वक देखते समीप आजाते थे। साथ लगे चलते थे। सम्पूर्ण वन यज्ञ-धूम-धूसर होरहा था। ब्रह्मर्षि वृन्दोंके जहाँ तहाँ आश्रम थे।

'लक्ष्मण ! समुद्रमें छिपकर रहने वाले असुर जब समय-असमय निकलकर पृथ्वीपर प्राणियोंका संहार करने लगे, महेन्द्रकी प्रार्थनापर भगवान् कुम्भसम्भवने तीन अञ्जलिमें उदधिका पान कर लिया।' श्रीरामने महर्षि अगस्त्यकी महिमा सुनायी—'महेन्द्रने तब उन असुरोंका संहार किया। आतापि-वातापि दैत्य सगे भाई थे। वातापि ऋषियोंको निमन्त्रित करता था और आतापि बकरा बन जाता था। उस माया-अजका माँस भी अन्न ही दीखता था। वातापि निमन्त्रित ऋषिको उसे खिलाकर पीछे भाईको पुकारता था और आतापि ऋषिका उदर फाड़कर निकल आता था। इस प्रकार जाने कितने ऋषियोंकी इन दुष्टोंने हत्या की। यह आतङ्क दूर करने महर्षि अगस्त्य स्वयं वातापिके अतिथि हुए। मायामय भोजन कराके जब वातापिने भाईको पुकारा, महर्षिने उदरपर कर फेरकर डकार ली—

'दुष्ट दैत्य ! अगस्त्यके उदरमें आतापि पच चुका । अब यदि तू सदाके लिए भाग नहीं जाता तो तुझे भी भस्म होजाना है ।'

'महातेजा महर्षि अगस्त्यका अनुशासन मानकर बढ़ता हुआ विन्ध्यगिरि अब-तक दण्डवत पड़ा है ।' श्रीरामने बतलाया—'त्रिभुवन भयङ्कर रावण और उसके दारुण अनुचर महर्षिके आश्रमके आसपास आनेका साहस नहीं करते । इसीलिए ये ऋषि-मुनि यहाँ आसपास आश्रम बनाकर तप करते हैं । विन्ध्यके इतने दक्षिण-में दण्डकारण्यके इस प्राय: अन्तिम भागमें आकर तपोवनकी स्थापना महर्षिके महातेजसे ही सम्भव हुई ।'

आश्रमके द्वारपर पहुँचकर श्रीराम महर्षिकी महिमाकी चर्चा करने लगे थे । उधर सुतीक्ष्णसे समाचार पाकर महर्षि अगस्त्यने हर्ष विह्वल होकर शिष्यको ही हृदयसे लगा लिया—'धन्य वत्स ! तुम-सा शिष्य पाकर मैं गौरवान्वित हुआ ।'

'कहाँ हैं नेत्रोंके परम सौभाग्य श्रीराम ।' अतिशय वृद्ध होनेपर भी महर्षिका शरीर, सबल, स्वस्थ था । उन दिव्य देहको जरा स्पर्श नहीं करती । वे स्वयं दौड़े द्वारकी ओर । उन्हें देखते ही धनुष पृथक रखकर श्रीराम लक्ष्मणने भूमिमें पड़कर पिताके नाम और गोत्र सहित अपना नाम लेकर प्रणाम किया । महर्षिने दोनों भाइयोंको उठाकर हृदयसे लगाया । प्रणाम करती श्रीजनकजाको आशीर्वाद दिया ।

पुलकित तन, अश्रुनयन, गद्गद् वचन महर्षि अगस्त्य । श्रीरामकथाके गायकोंमें अग्रगण्य महर्षिके आनन्दकी सीमा नहीं थी । आश्रममें लाकर उन्होंने विधि पूर्वक पूजा की और स्तवनके अन्तमें बोले—'श्रीराम ! अगस्त्यके तो तुम्हीं आराध्य हो । अगस्त्यके प्राण तुम्हारे दर्शनोंकी प्रतिक्षण प्रतीक्षा करते रहे हैं । तुम्हारी प्रतीक्षा--परम पुण्य तो है तुम्हारी यह प्रतीक्षा ही । दशग्रीवने इकहत्तर चतुर्युगी राज्य किया है । जब वह बालक था, तपस्या की उसने और जब सृष्टि-कर्ताने उसे वरदान दिया, उसे केवल मनुष्यके हाथों मरना था । मैं तभी समझ गया कि उसकी मृत्यु तुम्हारे हाथों होनी है । तुम्हें धरापर आना है और उस दुर्दम पौलस्त्यका दमन करने तो तुम्हें इसी पथ आना था । अत: तभी मैं यहाँ आ बसा । तबसे मैं तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।'

महर्षि अगस्त्यके विन्ध्यसे दक्षिण बसनेके कारण दक्षिण दिशाका नाम ही अगस्त्य दिशा पड़ गया था । उन मृत्युञ्जयी, समुद्रपायीके आश्रमके आसपास भी

आकर कोई क्रूर, असत्यवादी जीवित नहीं रह सकता था। उस आश्रममें समय-समयपर सभी देवता पधारते रहते थे। सभी देवताओंके पूजन स्थान पृथक-पृथक बने थे। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, गणेश, कार्तिक, वरुण, यम, शेष, वासुकि आदि-के स्थान थे। उन पीठोंपर महर्षिने उन-उन साक्षात् देवताओंका अर्चन किया था।

'राम ! तुम मेरे पूज्य अतिथि हो।' अर्चनके अनन्तर महर्षिने कहा—'वह दिव्य धनुष रखा है। उसे विश्वकर्माने भगवान् विष्णुके लिए बनाया था। भगवान् ब्रह्माने उसे इन्द्रके द्वारा तुम्हें देनेको भेजा है, देवराजने ही वे दो अक्षय तूणीर और दिव्य रत्नजटित खड्ग भी यहाँ तुम्हारे लिए रखा है। दशग्रीवपर विजय पानेके निमित्त तुम इन्हें स्वीकार करो।'

ये आयुध महर्षिके अपने नहीं थे। इन्हें श्रीरामको देनेके लिए देवराजने महर्षिके समीप रखा था। अतः महर्षिने केवल संकेतसे उन्हें उठा लेनेको कहा। श्रीरामने उठकर उन्हें ग्रहण किया।

यहाँसे श्रीराम अपना वह तूणीर और धनुष जो अयोध्यासे साथ लाये थे, जो महाराज जनकसे प्राप्त हुआ था, लक्ष्मणको दे दिया। इस प्रकार लक्ष्मणके समीप जनकपुरसे प्राप्त दोनों दिव्य धनुष और दोनों अक्षय तूणीर होगये। श्रीराम-ने महर्षिके यहाँसे प्राप्त वैष्णव धनुष और दोनों अक्षय तूणीर अपने पास रखे।

'भगवन् ! आप जानते ही हैं कि मेरे वनमें आनेका प्रयोजन क्या है। श्रीरामने मस्तक झुकाकर कहा—'अतः उस प्रयोजनके अनुरूप आवास स्थलका निर्देश करें।'

'राम ! तुम मेरे प्राणप्रिय अतिथि हो। आज थके आये हो। आजकी रात्रि यहीं विश्राम करो। अगस्त्यको आतिथ्यका अवसर दो।' महर्षिने कहा—'कल प्रातः प्रस्थान करना। यहाँ से दो योजन दूर दक्षिण जानेपर एक महावट मिलेगा। उससे आगे गोदावरीके तटपर पञ्चवटी है। महुआका वन है आसपास। प्रचुर फल एवं सुस्वाद कंद हैं। वहाँ आश्रम बनाकर निवास करना। वहींसे तुम्हारे प्रयोजनका प्रारम्भ होगा।'

'इन श्रीजनक-नन्दिनीका ध्यान रखना।' महर्षिने श्री वैदेहीकी ओर तनिक गम्भीर होकरें देखा—'इन लीलामयीके सहयोगसे ही तो तुम्हारी लीलाको साङ्गता प्राप्त होनी है।'

'वत्स सुतीक्ष्ण ! अब तुम अपने आश्रम लौट सकते हो।' महर्षिने प्रातः श्रीरामको प्रस्थानोद्यत देखकर अपने शिष्यसे कहा—'इन आनन्दघनका सामीप्य सम्भव हो तो क्या अगस्त्य ऐसा अभागा है कि उसे छोड़ देगा ? लेकिन इनको अपना अवतार-प्रयोजन पूर्ण करना है। हम सभी नियन्ताके यन्त्र हैं। उसके इंगितका अनुवर्तन करते रहना, यही देहधारीका परम कर्त्तव्य है। अतः हमें कहीं भी व्याघात बननेका दुराग्रह नहीं करना चाहिए।'

चाहे जितना अप्रिय असह्य हो, सुतीक्ष्णजीको गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार करनी ही थी।

गीधराज जटायु

'अवश्य हम पञ्चवटीके समीप पहुँच रहे हैं।' महुओंका सघन वन देखकर श्रीरामने भाईसे कहा। गोदावरी स्नान करके वे मध्याह्न सन्ध्या कर चुके थे और लक्ष्मणके द्वारा लाये गये फलों एवं कन्दोंका आहार करके आगे बढ़े थे।

दूरसे महावट दृष्टि पड़ा। लगभग आधे योजनमें फैला विशाल वट वृक्ष। उसकी जटाओंने भूमिमें पहुँचकर स्थान-स्थानपर नवीन तनोंका रूप धारण कर लिया था।

'लक्ष्मण! सावधान रहना आवश्यक है।' वट वृक्ष अभी दूर ही था कि उसके ऊपर पर्वताकार पक्षीको बैठे देखकर श्रीरामने कहा—'वह राक्षस हो सकता है। कामरूप मायावी राक्षस कब कहाँ किस रूपमें रहेंगे, कुछ निश्चित नहीं है।'

'वत्स रामभद्र! धनुष मत चढ़ाओ!' श्रीराम-लक्ष्मणको धनुष चढ़ाते देखकर उस पक्षीने स्पष्ट मनुष्यवाणीमें पुकारकर कहा—'मैं राक्षस नहीं हूँ। तुम्हारा शत्रु भी नहीं हूँ। तुम्हारा हितैषी हूँ मैं।'

'तात! आपका परिचय?' पक्षीके स्वरमें जो स्नेह था, उससे अनुजके साथ श्रीराम आश्वस्त होगये। धनुषपरसे ज्या उतारते हुए उन्होंने पूछा—'आप मुझे कैसे जानते हैं?'

'महर्षि कश्यपकी पत्नी विनताका नाम तुम जानते हो। यज्ञेश नारायणके वाहन हैं विनता-नन्दन गरुड़ और गरुड़के अग्रज हैं भुवन भास्करके सारथि अरुण।' पक्षीने अपना परिचय देते हुए बतलाया—'किसी दिन एक दिव्य श्येनी गगनमें उड़ रही थी। उसे देखकर अरुणका तेज स्खलित हुआ। गगनसे मुक्ताबिन्दुके समान गिरते उस तेज:बिन्दुको श्येनीने लपककर ग्रहण कर लिया। फलस्वरूप उन्होंने दो अण्डे दिये। उन अण्डोंमें-से एकसे मेरे ज्येष्ठ भाई सम्पातीका जन्म हुआ और दूसरेसे मेरा जन्म हुआ। मेरा नाम जटायु है।'

'पक्षिराज जटायु?' श्रीरामने आश्चर्यसे एक बार उस विशाल पक्षीको

देखा। तत्काल धनुष भूमिपर रखकर पृथ्वीपर सिर रखकर भाईके साथ प्रणाम किया—'तात ! यह दाशरथि राम अनुजके साथ आपको प्रणाम करता है।'

'आयुष्मान् ! पक्षिराज गरुड़जी मेरे पितृव्य हैं।' जटायु धीरेसे वृक्षसे नीचे उतर आये—'हम दोनों भाई तो बाल कालमें पिताके दर्शनके उत्साहमें भगवान् सूर्यकी ओर उड़े थे। बहुत ऊपर जाकर उन असह्यतेजा दिनमणिकी किरणोंका तेज सहनेमें मैं असमर्थ होगया तो अग्रजने मुझे अपनी छायामें ले लिया। मैं लौट आया; किन्तु मेरे अग्रज सम्पाती ऊपर बढ़ते गये। फलतः उनके पंख सूर्यके तापसे भस्म होगये। वे ऊपरसे गिरे। तबसे मुझे पता नहीं कि उनका शरीर, उनका जीवन कहीं सुरक्षित है या समाप्त होगया। पक्षियोंने अग्रजके अभावमें मुझे युवराज बना लिया; किन्तु शाश्वत वपु, साक्षात् विष्णु-वाहन गरुड़जीको किसी युवराजकी आवश्यकता नहीं है। उन चिन्मयको मायाके विकार स्पर्श नहीं करते। मैं केवल गीधराज हूँ और पृथ्वीका प्राणी, पार्थिव पक्षी श्येनीका पुत्र होनेसे अब वृद्ध होगया हूँ। फिर भी मैं तुम्हारा हितैषी हूँ।'

'बाल्यकालमें पिताजीके श्रीमुखसे सुना था कि आपने उनकी प्राण रक्षा की है।' श्रीरामने श्रद्धा सहित मस्तक झुकाया—'आप उनके सहज सुहृद हैं; किन्तु अयोध्यामें आपके दर्शनोंका सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हुआ।'

'चक्रवर्ती महाराज दशरथ महामानव हैं। उन्होंने इस नगण्य गीधको स्मरण रखा।' जटायुके नेत्र भर आये—'मैंने तो कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया था। वे शनि-विजय करके लौटने लगे थे, सहसा शनिकी विष-दृष्टिसे उनका रथ अश्व एवं सारथि सहित भस्म होगया। उनका मूर्च्छित शरीर पृथ्वीपर गिरने लगा। मैं आकाशमें उड़ रहा था। सहजभावसे उनको पीठपर लेकर कानन में उतार लाया। चेतना लौटनेपर उन महाप्राणने इस आमिष भक्षी अधम पक्षीको अपना मित्र मान लिया। वे सकुशल तो हैं ? वत्स ! गीधकी छाया अशुभ होती है। अपने मित्रके नगरपर अपनी अमङ्गल छाया मैं कैसे डाल सकता था।'

'पिताजी तो परलोक पधारे; किन्तु यहाँ वनमें आकर रामको पुनः आप जैसे स्नेहशील पिताकी प्राप्ति होजायगी, यह मैंने स्वप्नमें भी सोचा नहीं था।' श्रीराम जटायुके समीप चले गये। उन्होंने उस पक्षीके शरीरपर कर फेरा। उससे ऐसे भुजा फैलाकर चिपके जैसे पितासे ही मिल रहे हों—'मैं पितृहीन होगया था। आज आपको पाकर वह अभाव दूर होगया।'

'वत्स ! गीधको बहुत अधिक दूर तक देखनेकी शक्ति प्राप्त है।' जटायुने कुछ क्षण मौन रहनेके पश्चात् कहा। महाराज दशरथके देहत्यागके समाचारसे वे

विह्वल होगये थे ; किन्तु श्रीरामके स्नेहने उन्हें सम्पूर्ण भिगा दिया था।—'तुम लोग अयोध्यासे चले, तबसे मेरी दृष्टि तुमपर ही है। तुम भुवनसुन्दरको देखनेके पश्चात् सृष्टिमें और कुछ देखना शेष कहाँ रहता है।'

'मुझे आश्चर्य हुआ था तुम दोनों भाइयोंका यह तापसवेश देखकर। सच कहूँ राम ? तुम्हारे स्वर्गीय पितापर मुझे क्रोध आया था ; किन्तु तुम वनकी ओर —मेरी ओर बढ़ रहे थे, अतः मैं प्रतीक्षा करता रहा।' जटायु भरे कण्ठ बहुत धीरे-धीरे बोल रहे थे—'तुम जब सघन वनमें नहीं दीखे, मैं गगनमें उड़ता रहा। तुम्हारा दर्शन मुझे प्रतिदिन प्राप्त हुआ। इधर कई दिनोंसे उड़नेकी आवश्यकता ही नहीं हुई। तुम समीप आगये और मेरी ओर ही बढ़ते आये। तुम स्वयं संसार-के मुझ जैसे अधम प्राणियोंके पास आकर न अपनाओ तो प्राणी अपने पुरुषार्थसे तुम तक कहाँ, कैसे पहुँच सकता है।'

'हमारा सौभाग्य ! हमने वनमें आकर पिता पाया।' श्रीरामको तो असत्य आडम्बर स्पर्श नहीं करता। वे जटायुसे लिपटे सचमुच विभोर होरहे थे।

'राम ! तुम अब यहाँ आगये हो तो यहीं समीप ही आवास बना लो।' जटायुने स्नेह पूर्वक कहा—'यह महावट तो तुम्हारे आवासके उपयुक्त नहीं है ; क्योंकि इसके नीचे अन्धकार रहता है। बहुत अधिक शीर्णपत्र पड़े रहते हैं। हिंसक पशु एवं सर्पादि शरण लेते हैं यहाँ ; किन्तु समीप ही सरिता तटपर पञ्चवटी तुम्हारी पर्णकुटीके उपयुक्त स्थान है।'

'हम आदेशका पालन करेंगे।' श्रीरामने कहा—'आपका स्नेह और सामीप्य मुझे अवश्य चाहिए।'

'तुम दोनों भाई जब वनमें विचरणके लिए अथवा आखेटके लिए जाओगे, मैं यहाँ वृक्षपर बैठा पुत्री सीताको देखता रहूँगा।' जटायुने कहा—'यद्यपि अत्यन्त वृद्ध होनेके कारण अब तुम्हारी सेवा, सहायता तथा सुरक्षा करनेमें समर्थ नहीं रहा हूँ ; किन्तु देख-रेख तो रख ही सकता हूँ। यह वन राक्षसोंसे भरा है। दानवेन्द्र मयने अपना यह प्रदेश अपनी पुत्री मन्दोदरीके दहेजमें दशग्रीवको दे दिया। दुर्दान्त दशग्रीवने दिग्विजयके समय जब दैत्य विद्युज्जिह्वको मार दिया, उसकी अपनी ही बहिन शूर्पणखा विधवा होगयी। रावणने बहिनको इस प्रदेश-की अधिनायिका बनाकर खर, दूषण, त्रिशिराको उसकी सेवामें नियुक्त कर दिया। राक्षसोंकी सेनाके साथ वे सब इसी अरण्यमें रहते हैं। अतः यहाँ बहुत सावधान रहना आवश्यक है।'

पञ्चवटी

अश्वत्थ, आँवला, विल्व, आम्र और वट ये पाँच वृक्ष आसपास लगे हों तो उन्हें पञ्चवटी कहते हैं। दण्डकारण्यकी पञ्चवटी ऐसी ही थी। चित्रकूटमें भी श्रीराम पञ्चवटीमें ही रहे थे; किन्तु वहाँ पाकर, जामुन, आम्र और तमाल वृक्षोंके मध्य वट वृक्ष था।[1]

जटायुसे अनुमति लेकर श्रीराम पञ्चवटी आये। स्थान अत्यन्त मनोरम लगा। अनुजसे बोले—'लक्ष्मण! स्थल सुन्दर है। समीप ही निर्मल जल है। वनमें कन्द, मूल, फल, पुष्प और कुश प्रचुर हैं। अतः कहीं उचित स्थल देखकर पर्णकुटीका निर्माण करो।'

'आर्य! आप आज इस प्रकार क्यों बोल रहे हैं?' लक्ष्मणके नेत्र भर आये। दोनों हाथ जोड़कर बोले—'लक्ष्मण तो आपका दास है। सदा-सदाके लिए आपके परतन्त्र है। अपने आप निर्णय करना मुझे कहाँ आता है। मेरी अपनी रुचि, अपना निर्णय क्या। आप तो मुझे आज्ञा करो कि लक्ष्मण! यहाँ पर्णकुटी निर्मित करो।'

जीवोंके परमाचार्यमें ही पूर्ण प्रपत्ति नहीं होगी तो कहाँ प्राप्त होगी। प्रमाद कैसे श्रीरामानुजका स्पर्श पा सकता है। अनुजके स्वरने श्रीरामको अत्यन्त प्रसन्न किया। वे स्वयं इधर-उधर घूमकर स्थल देखने लगे। सामान्य भूमिसे कुछ ऊंचा, समतल स्थान उन्होंने चुना। हाथ पकड़कर छोटे भाईको लेजाकर स्थान निर्दिष्ट किया—'यहाँ मेरे लिए पर्णकुटी बनाओ। यहाँ अपने लिए बना लो।'

लक्ष्मणजीने धनुष, त्रोण, फल-कन्द रखनेकी टोकरी तथा खन्ती वहीं रख दी। कुल्हाड़ी लेकर वे तृण-काष्ठ एकत्र करनेमें लग गये। चित्रकूटकी पर्णशालासे किञ्चित भिन्न बनीं यहाँकी पर्णशालाएँ। यहाँ भी एक विशाल पर्णशाला पूर्व-पश्चिम लम्बी बनी और उसके सम्मुख प्राङ्गण त्यागकर दूसरी पर्णशाला छोटी –

---

[1]'पाकरि जम्बु रसाल तमाला।' 'जिन्ह तरुवरन्ह मध्य बटु सोहा।'

—रामचरित मानस अयोध्याकाण्ड २३६.२,३.

तथा उत्तर-दक्षिण लम्बी बनी ; किन्तु यहाँ बड़ी पर्णशालाका द्वार वनकी ओर था । गोदावरीका प्रवाह पार्श्वमें पड़ता था । छोटी पर्णशाला गोदावरी प्रवाहकी ओर पीठ करके, बड़ी पर्णशालाके पूर्वभागकी ओर पश्चिम मुख बनायी गयी । उसकी स्थिति ऐसी थी कि उसकी ओर आगन्तुककी दृष्टि सहसा नहीं जाती थी ; किन्तु उस पर्णशालासे बड़ी पर्णशालाकी ओर आनेवाला दूरसे देख लिया जा सकता था ।

चित्रकूटमें कांस एवं मूँजके द्वारा पर्णशालाएँ बनी थीं । वहाँ निर्माता बहुत थे । यहाँ अकेले लक्ष्मणको यह कार्य करना था । अतः उन्होंने बड़े पत्तोंवाली लताओं, शाखाओंकी सहायता ली । सायंकालसे पूर्व ही दोनों पर्णशालाएं प्रस्तुत होगयीं । श्रीरामने तथा श्रीजानकीने भी पर्णशालाके निर्माणमें उत्साह पूर्वक लक्ष्मणको सहयोग दिया था ।

पर्णशाला देखकर श्रीसीताराम प्रसन्न हुए । गोदावरी स्नान करके वास्तु-पूजन किया । लक्ष्मणसे बोले—'तुम भावज्ञ हो । ऐसा काम स्नेहमय पिता अथवा सत्पुत्र ही कर सकता है । तुम धर्मशील हो ।'

अग्रजकी प्रशंसासे संकुचित लक्ष्मण जल लेने चले गये । अब तककी वन-यात्रामें उन्होंने मुनियोंसे एक बड़ा तूँबा प्राप्त कर लिया था । हेमन्त ऋतु थी । शीतनिवारणके लिए पतझड़के पत्र एकत्र करने थे ।

उस रात्रि साथके मृगचर्मको ही आस्तरण बनना था । बड़ी पर्णशालामें लक्ष्मणने तृण-पत्रोंके ऊपर मृगचर्म बिछा दिया था । टोकरीमें संग्रह किये फल, कन्दादि ही श्रीसीतारामके उस दिन आहार रहे ।

दूसरे दिन प्रभातसे ही श्रीजनक-नन्दिनी जुट गयीं । लक्ष्मणने उनके निर्देशके अनुसार स्थान-स्थानपर तुलसी, पुष्प आदि लगानेके गड्ढे खोदे । पर्णकुटियोंके चारों ओर काष्ठ लगाकर सुदृढ़ घेरा बनाया गया । बड़ी पर्णशालामें काष्ठ स्तम्भ गाड़कर फटे बाँस बाँधकर लक्ष्मणने एक शैय्या बना दी । आसपासकी स्वच्छता, सरिता तक जानेका मार्ग, स्नानघाट, तुलसी-पुष्प लगानेका कार्य तो अब कई दिनों तक बराबर ही चलते रहना था । लक्ष्मण और श्रीमैथिली इसमें लगे रहे ।

सबसे पहिले प्रातःकाल लक्ष्मणने अग्नि प्रज्वलित की । प्रभातमें स्नानादिके

पश्चात् ढूँढ़कर एक दो तुलसीके क्षुप ले आये। उन्हें लगाकर सुरक्षित किया। अभी शीत प्रबल था। कुहासा पड़ता था। पुष्पादि लगानेके लिए गड्ढे ही बनाये जा सकते थे। उनको लगानेका समय तब आना था, जब पतझड़के पश्चात् उनमें पत्रांकुर प्रकट होने लगे। शुष्क काष्ठ तथा मृगों एवं वन्य भैंसोंके सूखे कंडे एकत्र करनेमें श्रम नहीं करना पड़ा। महावटके नीचे पशुओंका सूखा गोबर एकत्र मिल गया। वनमें समीप शुष्क काष्ठ प्राप्त होगया।

आसपास तपस्वियोंके आश्रम नहीं थे। वन्य मानवोंके भी झोंपड़े नहीं थे। राक्षसोंके आतङ्कके कारण वन मनुष्यहीन होरहा था। अगस्त्याश्रमके आसपास ही तपस्वी रहते थे और वह दो योजन उत्तर छूट चुका था। राक्षसोंने शाकाहारी पशुओंको भी समाप्तप्राय कर दिया था। इसका परिणाम यह था कि वन बहुत सघन होगया था। कन्द, मूल, फलकी प्रचुरता थी। क्योंकि पक्षियोंके अतिरिक्त इनके आहार करनेवाले ही नहीं रहे थे।

सिंह, व्याघ्र, रीछ, अजगर जैसे हिंसक प्राणियोंकी संख्या भी कम होगयी थी। राक्षस इनको भी बिना झिझक आहार बना लेते थे और ये प्राणी भी तो वहीं रह सकते हैं, जहाँ इनको आखेट प्राप्त हो।

'इस शीतमें भाई भरत प्रातः सरयू स्नान करते होंगे।' दूसरे दिन प्रभातमें ही गोदावरी स्नानके समय कमल-लोचन श्रीरामके नेत्र भर आये। 'वे वृहद्बाहु कृश होगये होंगे। शीतसे काँपते होंगे। पता नहीं अग्निका आश्रय भी लेते हैं या नहीं। अब तो यहाँ उनके समाचार भी मिलनेका उपाय नहीं रहा। वह समय कब आवेगा जब मैं भाई की भुजा भरकर हृदयसे लगा सकूँगा।'

'आर्य! आप पितृतर्पण, देवपूजन करके सूर्यको अर्घ्य दे लें।' लक्ष्मणने अग्रजको आश्वासन दिया—'पितृव्य गीधराज आर्य भरतको तनिक उड़कर यहींसे देख ले सकते हैं। मैं उनसे अयोध्याका समाचार पूछ आऊँगा।'

'इस अरण्यमें वे हमें पिता प्राप्त होगये।' श्रीरामने श्रद्धा पूर्वक मस्तक झुकाया। 'आह्निक पूरा करके हम दोनों प्रतिदिन उनकी पद-वन्दनाका पुण्य प्राप्त करेंगे।'

अब यह नित्यका कार्य होगया। श्रीराम अग्रजके साथ जटायुको प्रतिदिन

प्रणाम करने पहुँचने लगे। जटायुने कहा भी—'वत्स रामभद्र ! प्रातःकाल गीधके अशुभ-दर्शनका कष्ट इस शीतमें मत किया करो।'

'तात ! रामको यह पुण्य प्राप्त करनेसे आप वञ्चित मत करें।' श्रीरामने विनम्र होकर कहा—'आपका स्मरण प्राणियोंको परमपावन करता रहेगा। आप अशुभ-दर्शन हैं।' यह सोचने वाला अभागा होगा।'

जटायु स्वयं उत्साह पूर्वक भरतका, अयोध्याका और उन ऋषि-मुनियोंका पिछले दिनका कृत्य सुनाते थे, जिनसे अब तक श्रीराम परिचित होते आये थे। जटायु प्रतिदिन राक्षसोंकी गतिविधि बताकर सावधान भी करते थे। वे इसके लिए अब दिनमें पर्याप्त ऊपर उड़कर चारों ओर देखते रहते थे। जटायुके सामीप्यने श्रीराम-लक्ष्मणको बहुत प्रसन्न कर रखा था। श्रीजनक-नन्दिनी जटायुके समीप संकोचके कारण, उनको स्वशुर मानकर नहीं जाती थीं। महावटके समीपसे लौटकर श्रीराम जटायुसे सुना विवरण उन्हें सोत्साह सुनाते थे।

वनमें पतझड़के पश्चात् पत्र आने प्रारम्भ हुए। महुएकी गन्धसे वन मादक होउठा। अनेक तरु-लताओंमें पत्र आनेसे पूर्व ही पुष्प आजाते हैं। पलाश फूले और कानन मानो उनके अनुरागके रंगसे लाल होउठा।

श्रीरामकी पर्णशालाने सुरक्षाका आश्वासन दिया तो वनके बचे मृग, पशु वहाँ एकत्र होने लगे। हिंसक पशु भी परस्परका शत्रुभाव त्यागकर वहाँ पूरे दिन क्रीड़ा करने लगे। रात्रिका सुरक्षित आवास महावटकी सघनता थी ही। दिनमें श्रीवैदेहीका यह परिवार—उत्तरोत्तर बढ़ता परिवार उनके समीप ही उछलता, कूदता उन्हें प्रसन्न करता रहता था। वे ममतामयी इन्हें स्नेह-दान करने, बीरुधोंको लगाने-सींचनेमें व्यस्त रहने लगीं।

उपसंहार

रामगीता

'आर्य ! आपका यह चरणाश्रित कुछ धृष्टता करता है।' लक्ष्मण प्रायः दिनके अवकाशके समय अथवा रात्रिके प्रथम प्रहरमें अग्निके समीप बैठे अग्रजसे सविनय कुछ पूछ लेते थे। यह भी एक प्रकारकी सेवा थी; क्योंकि जब कोई आवश्यक कार्य न हो, कोई चर्चा न चल रही हो तो स्नेहसिन्धु श्रीराम भरतका, अयोध्याके लोगोंका स्मरण करके व्याकुल हो उठते थे। इन भक्तवत्सलका स्वभाव ही है कि अपने स्मरण करने वालोंको भूल नहीं पाते। अयोध्यामें जब लोग इनका स्मरण करके कातर होते हैं, राम शान्त कैसे रह सकते हैं। श्रीराम व्याकुल दीखें तो श्रीवैदेही और लक्ष्मण व्याकुल नहीं होंगे? अतः इन अग्रजको किसी चर्चामें लगाये रहना भी इनकी सेवा ही है।

लक्ष्मणके समीप पञ्चवटीमें चित्रकूटकी अपेक्षा कुछ अधिक कार्य नहीं है। चित्रकूटमें कोल-किरात बहुत थे। फल, कन्द, समिधाएँ वे ही एकत्र करते थे; किन्तु यहाँ वनमें इनकी प्रचुरता है। इनको लेने न दूर जाना पड़ता, न ढूँढना पड़ता। काष्ठ एवं कण्डोंका आवश्यक संग्रह दो-तीन दिनमें पूरा होगया। नित्य पूजन तथा प्रयोजनके लिए कुश, पुष्प, पत्र, कन्द, फलादि समीप ही प्राप्त होजाते हैं। जल बहुत समीप है। अब तो श्रीमैथिलीको तुलसी तथा पुष्प-पादपोंके रोपण-सिञ्चनमें सहयोग देना रहता है।

आश्रम तथा समीपके पथकी स्वच्छताका कार्य लक्ष्मणको कभी नहीं करना पड़ा। वायुदेव स्वयं यह कार्य कर देते हैं। वन-पशु भी इसे सम्पन्न करते हैं। वनके भैंसे पर्णशालाके पीछे ही बैठने लगे हैं। उनका गोमय स्वतः प्राप्त होजाता है। श्रीमैथिली प्रभातमें ही जलमें गोमय मिलाकर आश्रम भूमि सिञ्चित करती हैं। नित्यकर्म सम्पन्न करके लक्ष्मणका कार्य इस उपलेपनसे आरम्भ होकर शीघ्र समाप्त होजाता है।

अग्रजके साथ जटायुके समीपसे लौटकर उनसे प्राप्त विवरण सुनानेमें, उसपर चर्चा करनेमें मध्याह्न होजाता है। फलाहारके पश्चात् श्रीसीताराम अल्प

विश्राम करते हैं। उसके पश्चात् परस्पर चर्चाका समय होता है। दिनके तृतीय प्रहरके समाप्त होनेसे पूर्व ही श्रीजानकी वीरुध-रोपण अथवा सिञ्चनमें लग जाती हैं। लक्ष्मणको जल लाना रहता है। सायं सन्ध्यासे पूर्व शीतऋतुमें अग्निको पर्याप्त इन्धन देकर प्रज्वलित कर देना आवश्यक है। अग्नि केवल शीत-शामक नहीं है। अनेक कन्द भूनकर खाद्य बनते हैं। वनके बहुतसे क्षुद्र पशु, मृगयूथ अग्निका आश्रय पाकर वहीं रात्रि-विश्राम करते हैं।

अवश्य ही शीतकालमें रात्रिका काल दीर्घ होता है। सूर्यास्तके पश्चात् शयनके समयसे पूर्व श्रीराम सीताके साथ अग्निके समीप देर तक आसीन रहते हैं। इस समय मृगादि शान्त बैठ जाते हैं अग्निके आसपास। लक्ष्मणको यह अवसर मिलता है। कहना चाहिए कि प्रश्न करके अग्रजको उपदेशका अवसर देनेकी सेवाका यह समय होता है।

'संत कौन हैं? सत्संग क्या है? जीवनमें विषयोंसे वैराग्य कैसे आवे? मन आपके चरणोंके चिन्तनमें कैसे लगे?' लक्ष्मणके प्रश्न अनेक। ये सब एक ही दिन नहीं पूछ लिये गये। इनका क्रम चलता ही रहता था। ग्रन्थि क्या है? ग्रन्थि-भेद अर्थात् मोक्षका स्वरूप क्या है? मोक्षके साधन क्या हैं? भक्तिका वैशिष्टच क्या है? भक्ति कैसे प्राप्त हो?'

इन प्रश्नोंका समय-समयपर, कभी संक्षिप्त और कभी विस्तारसे श्रीरामने उत्तर दिया। इनको समझानेके लिए अनेक दृष्टान्त-कथाएँ सुनाते रहे। अत्यन्त संक्षिप्त सार उस उपदेशका यहाँ दिया जा सकता है।

जिसमें अपना व्यक्तित्व नाम शेष होगया है, वह संत है। व्यक्ति जब भगवनोन्मुख होता है, तब उसमें अपने शरीरका मोह, अपना स्वार्थ घटने लगता है। जैसे जैसे वह भगवदीय होता जाता है, उसमें भगवदीय गुणोंका आविर्भाव होता जाता है। जैसे अग्निकी जितनी समीपता बढ़ती है, उतना शीत मिटता जाता है और उष्णता उतनी बढ़ती जाती है। जो भगवान्के सान्निध्यका जितना अनुभव करता है, उसमें भगवदीय गुणोंका उतना आविर्भाव होता जाता है।

भगवान् सर्वरूप हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उनके भीतर ही हैं। अतः भगवान्का अपना व्यक्तित्व अर्थात् सर्व व्यक्तित्व सबका परम मङ्गल, सबपर सहज कृपा, अनन्त करुणा, अपराध न देखनेका सहज स्वभाव--समस्त दिव्य सद्गुण-

गणेक श्राम भगवान्से जितना सान्निध्य बढ़ेगा—उनके गुणोंका उतना आविर्भाव होगा ।

भोगेच्छा, भोगोंमें सुख बुद्धि, भोग संग्रहकी प्रवृत्ति, भय-शोक, काम-क्रोध-लोभ, मान-मद, ईर्षा, अहंकार राग-द्वेष ये व्यक्तित्वके कलुष हैं। एक देहमें अभिमान होनेसे उत्पन्न होते हैं। अभय, नित्य तुष्टि, नित्य तृप्ति, क्षमा, सेवा, सुख एवं भोग दूसरोंको देकर तुष्टि, सहज निर्विकारत्व, सर्वात्मभाव, सर्वसुहृदत्व ये भगवान्के स्वभाव हैं।

जब देहाभिमानका समूलोन्मूलन होजाता है, अपना पृथक व्यक्तित्व शेष नहीं रहता, भगवान्से ऐसा एकत्व प्राप्त मनुष्य संत है। संत शरीर नहीं है। संतका शरीर दीखता मात्र है, वस्तुतः वह भगवान्से अभिन्न है। उसमें भगवदीय गुणोंका पूर्ण प्राकट्य होता है।

जैसे भक्ति भगवान्में प्रीति है, नाम-जप, स्मरण, पूजनादि इस प्रीतिके उत्पादक साधन होनेसे भक्ति कहे जाते हैं, वैसे ही सुननेका नाम सत्सङ्ग नहीं है। सुनना—श्रवण भगवान्में आसक्ति उत्पन्न करनेवाला होनेके कारण भक्ति है। भगवान्से अभिन्न हुए संतमें आसक्तिका नाम सत्सङ्ग है। यह आसक्ति भवरोग निवारिणी, परम मङ्गलकारिणी है।

प्रीति उसके प्रति नहीं होती, जिसमें अपनत्व नहीं है। केवल सौन्दर्य, माधुर्य, सद्गुण किसीमें हैं, इसीलिए उससे प्रेम नहीं होजाता। प्रेम अपनेसे होता है। प्रेम सद्गुण नहीं देखता—प्रेम हो तो प्रेमास्पदमें सद्गुण ही दीखते हैं। उसमें दोष दीखता ही नहीं। जब अपनेमें प्रेम दीखने लगे, तब समझना कि अब प्रीति क्षयोन्मुखी होगयी। जब अपनेमें प्रेम दीखता ही नहीं, प्रेमास्पदमें ही प्रीति दीखती है, तब प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान रहता है।

जीव तीन गुणोंके द्वारा तीन ग्रन्थियोंमें आबद्ध है। अपनी सत्ता बनी रहे, मृत्युका भय, पीड़ाका भय, लोकेषणा, अपमानका भय—ये सब रुद्रग्रन्थिके रूप हैं। अपने पृथक व्यक्तित्वकी आसक्ति, उसकी सुरक्षा, प्रभावकी चिन्ता यह सब तमोगुणका ही आवरण है। पुत्रेषणा—पुत्र, शिष्य, परिवारकी आसक्ति, इनकी चिन्ता ब्रह्मग्रन्थि—रजोगुणका आवरण है। वित्तेषणा अर्थात् भोगेच्छा, भोगासक्ति विष्णु ग्रन्थि—सत्वगुणका आवरण है।

इन तीनों ग्रन्थियोंका मूलरूप है राग-द्वेष और अभिनिवेश अर्थात् पृथक व्यक्तित्वकी प्रतीति। इन्हींके कारण जीव जन्म-मरणके बन्धनमें पड़ा है। अपनी आसक्ति अथवा द्वेषके कारण जीवको बार-बार देह धारण करना पड़ता है।

सत्व, रज, तम—तीनों ही गुण प्रकृतिके हैं। अर्थात् प्रकृतिमें परमात्माके स्वरूपभूत गुणोंकी छाया—प्रतिभास मात्र हैं। सत्, चित्, आनन्दके ही ये प्रतिविम्ब हैं। अतः शुद्ध सत्, चित्, आनन्दके आश्रयसे इन प्राकृत गुणोंसे ऊपर उठना सम्भव होता है।

योग सत्व प्रधान, ज्ञान चित् तथा भक्ति आनन्द प्रधान साधन हैं। इनके अतिरिक्त चौथा साधन जीवके उद्धारका सम्भव नहीं है। चित्त जन्म-जन्मके कर्म-संस्कारोंका संग्रह है। इन संस्कारोंके अनुसारही जन्म होता है। अतः इन संस्कारोंसे उद्धारके—छुटकारेके तीनही रूप सम्भव हैं—१. चित्तको—संस्कार राशिको भस्म कर दिया जाय। यह ब्रह्मात्मैक्य बोधसे अविद्या निवृत्ति होकर सम्पन्न होता है। २. चित्तको सर्वथा संस्कार-शून्य कर दिया जाय। जैसे किसी पत्रपर लिखित समस्त अक्षर मिटा दिये जायँ। यह स्थिति योगके द्वारा निर्विकल्प समाधिमें चित्तवृत्तियोंका सर्वथा निरोध होजानेपर प्राप्त होती है। ३. चित्तके संस्कारोंमें ऐसा परिवर्तन कर दिया जाय कि वे जन्म देनेमें असमर्थ हो जायँ। चित्तमें भगवदीय नाम, रूप, गुण, लीलाके संस्कार हों तो उनके आधारपर जीव-को संसारमें जन्म देना कर्म नियन्ताके लिए सम्भव नहीं होता। भक्ति यह संस्कारों-में परिवर्तन करती है।

चित्तको—कर्म-संस्कार-राशिको ही भस्म करदो ज्ञानके द्वारा, चित्तको वृत्ति हीन करके संस्कार शून्य करदो योगकी निर्विकल्प समाधिके द्वारा अथवा भक्तिके द्वारा चित्तके संस्कारोंका परिवर्तन करदो, यह केवल तीन ही उपाय जन्म-मरणसे मुक्ति दिला सकते हैं।

इन उपायोंमें ज्ञान सर्वथा विरक्त अधिकारीके लिए है। विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (शम-दम, उपरति, तितीक्षा, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षा होनेपर ही शास्त्र एवं गुरुके द्वारा श्रवण किया गया तत्त्व ब्रह्मात्मैक्य बोध करानेमें समर्थ होता है। जिस अन्तःकरणमें साधन चतुष्टयकी प्रतिष्ठा नहीं हुई है, उसमें सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्गका अध्ययन भी तत्त्व-बोध करानेमें समर्थ नहीं है।

योगके आठ अङ्ग हैं—१. यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा ७. ध्यान ८. समाधि। अर्थात् चित्त-वृत्ति निरोधका महासौध यम-

नियमकी नींवपर खड़ा होता है। जीवनमें यम-नियमकी अर्थात्, अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहकी और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानकी पूर्ण प्रतिष्ठा न हो तो आसन, प्राणायाम, ध्यानके द्वारा निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

योग तथा ज्ञान निर्मल अन्तःकरण अधिकारीके लिए हैं। यदि अन्तरमें वासनाएँ हैं तो योग अथवा ज्ञानका श्रवण पतनके मार्गपर ले जा सकता है। अतः मन निर्वासन होना आवश्यक है। विवेकके द्वारा वैराग्य प्राप्त हो और साथ-साथ साधनका अभ्यास चलता रहे तो समय पाकर दुर्निग्रह मन भी संयमित हो-जाता है।

जब मनमें कोई वासना उठती है, वह अपनी एक ग्रन्थि बना लेती है। यह ग्रन्थि बार-बार उसी वासनाको उद्भूत करती रहती है। इस ग्रन्थिका निरसन केवल दो प्रकारसे होता है—१. उस वासनाको पूर्ण करके। २. इन्द्रियोंको रोककर और विवेकको प्रबुद्ध करके उस वासनामें हेय बुद्धिके सम्यक् सम्पादनसे।

मनकी वासनाएँ अनन्त हैं। किसी एक व्यक्तिके लिए भी अपनी सब वासनाओंको पूर्ण कर लेना सम्भव नहीं है। अतः सांसारिक व्यक्तिमें तो असंख्य वासना-ग्रन्थियाँ बनी रहेंगी ही। यही ग्रन्थियाँ उसे जन्मसे जन्मान्तरमें ले जाती हैं। इनको इन्द्रियनिग्रहके द्वारा व्यवहारमें आनेसे बलात् रोककर ही कुछ प्रयोजन पूरा नहीं होता। ऐसी स्थितिमें ये प्रबल होजाती हैं, रोग बन सकती हैं। इन्द्रिय-निग्रहके साथ प्रबुद्ध विवेक भी हो तो वैराग्य इनका समूलोन्मूलन कर देता है।

वैराग्य तब तक ऊपर है, जब तक वह स्वभाव नहीं बन जाता। जैसे राजस-तामस लोगोंको पलाण्डु (प्याज) लशुन प्रिय हैं; किन्तु सात्विक व्यक्तिका प्रबुद्ध विवेक जब इन्हें त्याज्य, हेय मान लेता है, तब इनके त्यागका अभ्यास स्वभावमें आकर इनकी गन्धको भी अप्रिय, असह्य बना देता है। यहींपर वैराग्य है। इन्द्रिय-भोगों तथा दैहिक मान-प्रतिष्ठाके प्रति ऐसी ही सहज अरुचि ज्ञान अथवा योगकी पूर्णता प्राप्तिमें आवश्यक पर वैराग्य है।

केवल भक्ति एक मात्र साधन है जो समल अन्तःकरणके व्यक्तिको भी पवित्र कर सकती है–करती है। ज्ञान और योगमें व्यक्तिका कर्तृत्व है। अतः व्यक्ति निर्मल नहीं होगा तो उसका कर्तृत्व पूर्णता नहीं प्राप्त करेगा। अपने कर निर्मल न हों तो मलिन करोंसे देह या वस्त्र स्वच्छ नहीं हो सकता। लेकिन भक्तिमें

अपना कर्तृत्व नहीं है । भक्तिका अर्थ ही है सर्वथा भगवदाश्रय और भगवान् पतित पावन हैं । अतः भक्ति पतित-पावनी है ।

भक्ति अर्थात् भगवान्‌में प्रीति । यह प्रीति जब तक उत्पन्न न हो, तब तक भगवान्‌के दिव्य नाम, गुण एवं अवतार चरितोंका श्रवण, मनन, चिन्तन, जप, गायन, कीर्तन साधन हैं । इनके द्वारा श्रीभगवान्‌में अपनत्व आता है और अपनत्व आनेपर प्रीति-भक्ति होती है ।

भगवान्‌से अभिन्न हैं संत । भगवान् प्रत्यक्ष होते हुए भी—सर्वरूप होते हुए भी प्रत्यक्ष नहीं हैं ; किन्तु संत प्रत्यक्ष होते हैं । अतः संतमें आसक्ति होजाना सुगम है । यद्यपि सचमुच जो संत हैं, उनका मिलना, उनको पहिचान लेना कठिन है ; किन्तु यदि संत मिल जायँ, उनमें किसी सौभाग्यशालीकी श्रद्धा होकर आसक्ति होजाय तो उसे वास्तविक सत्सङ्ग प्राप्त हुआ । यह सत्सङ्ग स्वयं ही समस्त सद्‌गुणोंका दाता एवं भवरोगका त्राता है ।

यह भागवत धर्म है । स्मृति अनुमोदित धर्म अधिकारी विशेषके लिए होता है । वह धर्म केवल मनुष्योंका मङ्गल करता है और वह भी स्वर्ग अथवा अन्तःकरणकी शुद्धि तक ही सीमित है । उसमें पात्र, क्रिया, कर्ता, काल, विधि, उपकरण सबका विचार आवश्यक है । उसमें जो कर्म एक समय एक व्यक्तिके लिए धर्म है दूसरे समय दूसरे व्यक्तिके लिए अधर्म हो सकता है । क्रियाएँ, कालमें, सामग्रीमें कर्ताके भावमें, पात्रमें त्रुटि होनेपर वह अधर्म बनकर क्लेशका कारण हो सकता है ; किन्तु भागवत धर्म सदा, सब प्राणियोंके लिए परम कल्याणदायक है ।

श्रौत-स्मार्त-धर्म वैदिक मन्त्र संहितापर आधारित धर्म है । उस धर्ममें कर्ताकी श्रद्धा, सङ्कल्प, विधि एवं अधिकारकी आवश्यकता है । उसमें श्रद्धा, सङ्कल्प, विधि अथवा अधिकारमें-से किसीमें भी त्रुटि होनेपर कर्मफलमें वैपरीत्य हो सकता है । इस स्मार्त-धर्मका परिपाक कर्म-अदृष्ट उत्पन्न करके, कालान्तर या जन्मान्तरमें बीज-वृक्ष न्यायसे होता है । संचित, क्रियमाण, प्रारब्धकी सम्पूर्ण व्यवस्था इसी स्मार्त-धर्मके लिए है । मनुष्य ही स्मार्त-धर्मका अधिकारी है । पूर्वमीमांसा द्वारा इस धर्मकी विवेचना हुई है ।

श्रौत-भागवत-धर्म औपनिषद् धर्म है । उत्तरमीमांसा एवं मध्यमीमांसाने इस धर्मकी विवेचना की है । इस धर्मका अधिकारी प्राणिमात्र ही नहीं, वृक्ष पाषाणादि भी हैं । यह कर्ताकी श्रद्धा, सङ्कल्प, विधि, क्रियासे भी निरपेक्ष है ;

क्योंकि इसमें जीव कर्ता नहीं है, भगवदनुग्रह ही कर्ता है। भगवान्के सम्पर्कमें आने वाले जड़ पाषाणादिका भी उद्धार इस धर्मको मान्य है, जबकि उन-उनमें अपनी श्रद्धा, संकल्प, क्रिया है ही नहीं। भगवान्को भगवान् न जानकर भी जो द्वेष, क्रोधादि वश उनके स्मरणमें लगे उनका कल्याण हुआ।

अनन्त करुणावरुणालय भगवान्के विधानमें जीवके कर्म देखकर तदनुसार फल देनेका विधान है ही नहीं। भगवान् जीवके कर्म नहीं देखते और न अपकर्मों-का दण्ड देते। अज्ञान वश जीव अपकर्म करके अपनेको मलिन कर लेता है। उसके इस मल-प्रक्षालन मात्रका विधान भगवान्की व्यवस्थामें है, इसीको मोह-वश जीव दण्ड-विधान मानता है।

जैसे ही कोई भगवत्स्मरणमें लगता है, भगवत्शरणापन्न होता है अथवा विना श्रद्धा, सङ्कल्प, ज्ञानके भी भगवान्के अवतार अथवा किसी भगवान्से अभिन्न हुए भक्तके सम्पर्कमें आता है, उसके जन्म-जन्मके अशुभ उसी क्षण समाप्त होजाते हैं।

'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं॥'—मानस, सुन्दर० ४३.३

भगवान् अथवा संतके सम्पर्कमें आनेके पश्चात् जीवका न कोई प्रारब्ध रह जाता और न सञ्चित। उसके लिए भगवान्की करुणा सक्रिय होजाती है। उसे जो सुख दुःख प्राप्त होते हैं, वे उसके मङ्गलके लिए, उसे, शीघ्र भगवान्की सन्निधिमें पहुँचानेके लिए होते हैं। उसके वर्तमान कर्म भी कोई अदृष्ट उत्पन्न करनेमें असमर्थ होजाते हैं।

सर्व समर्थ, सर्वज्ञ, अनन्त करुणावरुणालयका एक विधान है कि वे उसके प्रति उदासीन हैं, निर्गण-निष्क्रिय हैं जो किसी भी प्रकार उनके सम्पर्कका अनुभव नहीं करता। उनको नहीं पुकारता। लेकिन जब कोई उनको पुकार लेता है, उसकी पुकार व्यर्थ नहीं जाती। कोई जब एक बार शरणापन्न होजाता है, उसकी विस्मृतिका कोई अर्थ नहीं रह जाता। फिर तो वे सर्वेश्वर उसे स्मरण कर लेते हैं।

जीव अल्पज्ञ है, अज्ञानी है। वह प्रायः अपना अहित करने वाली वासनाओं-के द्वारा व्यग्र, राग-द्वेष, मान-मोहसे व्यग्र रहता है। अतः वह पुकारकर जो माँगता है, प्रार्थना करके जो चाहता है, उसे दयामय परमात्मा पूरा करदे, यह आवश्यक नहीं है। वह केवल यह देखता है कि यह जीव मुझे पुकारता है, मेरा

स्मरण करता है। उसके अनन्तर उसकी कृपा शक्ति जीवके मङ्गलके लिए सक्रिय होजाती है। जीवका मङ्गल जैसे हो—उसकी पुकार, प्रार्थना, इच्छाके अनुकूल अथवा प्रतिकूल वही वह कृपा शक्ति करती है।

भागवत धर्म—भक्ति धर्म अर्थात् भगवान्का धर्म। जीवका परम कल्याण सर्वथा भगवदाश्रित होनेमें है। जीवकी समस्त प्रवृत्ति उसके अज्ञानके कारण है। काम-क्रोधादि विकारोंके वश होकर जो वह करता है, वह उसके बन्धनका हेतु है। साधनके नामपर वह जो कुछ करता है, उसका भी अर्थ यही है कि उसका कर्तृत्वाभिमान दूर हो। वह करके श्रान्त होजाय। वह देख ले कि उसके अपने साधन उसके समुद्धारमें असमर्थ हैं और वह अपनेको सर्वथा भगवान्को अर्पित करदे।

यह संक्षिप्त सार है—अपने शब्दोंमें कहा गया सार है; क्योंकि यह सब उपदेश श्रीरामने एक दिन एक साथ लक्ष्मणको नहीं किया। समय-समयपर लक्ष्मण अग्रजसे अनेक प्रकारके प्रश्न करते रहे और श्रीराम उन्हें अपने धर्म—भागवतधर्म-का उपदेश करते रहे।

पञ्चवटीमें फल, कन्द, मूल पर्याप्त थे। उनके संग्रहमें श्रम एवं समय अधिक नहीं लगता था। वनमें आकर दोनों भाइयोंने आखेट त्याग ही दिया था। पञ्चवटीके आस पास ऋषि-मुनि नहीं थे जो पर्णकुटीपर आते। उनके आतिथ्य एवं सत्संगका भी अवसर नहीं था। समीपका वन राक्षसोंके कारण निरापद नहीं था। श्रीजानकीको साथ लेकर अथवा अकेली छोड़कर भी वन-भ्रमण करने योग्य नहीं था। इस लिए दैनिक कर्म, पुष्प-तुलसीके वीरुध लगाने, सींचनेके अतिरिक्त दिनके तीसरे प्रहरका जो समय बचता था और रात्रिके प्रथम प्रहरका पूरा समय लक्ष्मण अपने अग्रजके श्रीचरणोंके समीप बैठकर विविध धर्म, साधन चर्चाओंमें ही व्यतीत करते थे। इस प्रकार बहुत विस्तीर्ण है यह श्रीरामगीता। उसका कोई अंश भी हृदयमें आविर्भूत हो—यह शाश्वत वाणी तनिक भी व्यक्त हो हृदयमें तो वह हृदय परम पावन होगया।

———

'श्रीकृष्ण-सन्देश'

[आध्यात्मिक मासिक पत्र]

—इसका वर्ष जनवरीसे प्रारम्भ ।

—'श्रीकृष्ण-सन्देश' प्रतिमास ८० पृष्ठ पाठ्य-सामग्री देता है ।

—'श्रीकृष्ण-सन्देश' में श्री 'चक्र' द्वारा लिखित श्रीकृष्णचरित प्रति अङ्क ३२ पृष्ठ और उन्हीं द्वारा लिखित 'श्रीरामचरित' प्रति अङ्क ३२ पृष्ठ जारहा है ।

—आप श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' की सशक्त लेखनशैलीसे इस ग्रन्थके द्वारा परिचित हो गए हैं ।

—वार्षिक शुल्क १०)

—आजीवन शुल्क १५१)

—सम्भव हो तो आजीवन ग्राहक बनें और हमारे यहाँ से प्रकाशित साहित्यको २० प्रतिशत कम मूल्यपर प्राप्त करें ।

व्यवस्थापक, श्रीकृष्ण-सन्देश
श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ
मथुरा २८१००१